५

जवाहरलाल नेहरू

मनोज कुमार • रवि रंजन

5

जवाहरलाल नेहरू

मनोज कुमार • रवि रंजन

जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल नेहरू

13B
A1S2

जवाहरलाल नेहरू

Jawharlal Naharu

मनोज कुमार
रवि रंजन

923.254
M12J
60639

जवाहरलाल नेहरू

सर्वाधिकार : सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 2009
ISBN : 978-81-88790-14-2
मूल्य : 595.00 रुपये

प्रकाशक : **कल्पना प्रकाशन**
बी-1770, जहाँगीर पुरी
(नजदीक स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया)
दिल्ली-110033

एकमात्र वितरक : **के.के. पब्लिकेशन्स**
109, 4855/24, हरबंस स्ट्रीट
अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
फोन : 65185557, 64527574
टैलीफैक्स नं. : 011-30125577
e-mail : kkpdevinder@vsnl.net
web : kkpublications.com

आवरण : डीपव्यू डिज़ाइन एजेन्सी, दिल्ली-110 094
अक्षर संयोजक : जय विनायक इन्टरप्राइजेज, दिल्ली-110 092
मुद्रक : बालाजी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110 032

JAWAHARLAL NEHRU
Manoj Kumar, Ravi Ranjan

Rs. 595/-

अनुक्रम

प्रस्तावना vii
1. जवाहरलाल नेहरू : एक परिचय 1
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नेहरू का प्रवेश 17
3. नेहरू एवं अर्थव्यवस्था 50
4. नेहरू एवं मार्क्सवाद का उन पर प्रभाव 59
5. नेहरू एवं लोकतन्त्र 66
6. नेहरू एवं स्वतंत्रता आंदोलन 84
7. नेहरू एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद 132
8. गाँधी के प्रति नेहरू के दृष्टिकोण 143
9. नेहरू एवं विश्व की शासन प्रणालियाँ 160
10. नेहरू एवं धर्मनिरपेक्षता 168
11. भारत का बँटवारा एवं नेहरू 184
12. नेहरू : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन 222

संदर्भ-सूची 231

प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू ने लगभग पच्चीस वर्षों तक भारतीय संग्राम में अपने आपको लगा दिया तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सत्रह वर्ष तक प्रधानमन्त्री के रूप में पूरी लगन से शिशु लोकतन्त्र के भाग्य का पथ-प्रदर्शन किया। उन पर आलोचना के बाणों की लगातार बौछार होती रही। उनकी धर्मनिरपेक्षवाद समाजवाद, लोकतन्त्रीय आयोजना, नियन्त्रित स्वतन्त्रता और राष्ट्रवाद की बलि देकर अन्तर्राष्ट्रीयवाद में विश्वास आदि धारणाएँ आलोचना का मुख्य विषय बनी रही।

नेहरू न तो हिन्दू-विरोधी थे न ही मुस्लिम-समर्थक। वे एक भारतीय थे और उनकी भारतीय राष्ट्रवाद में गहरी श्रद्धा थी। अतः उन्होंने धार्मिक भावना वाले समाज को एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य में बदलने के लिए अटूट परिश्रम किया।

भारतीय लोकतन्त्र को धार्मिक मामलों से असंलग्न घोषित करके, नेहरू ने स्थायी धर्मनिरपेक्ष राज्य की नींव रखी और देश को धार्मिक कट्टरता तथा उत्कट देशभक्ति का शिकार होने से बचा लिया।

नेहरू ने एक अल्पविकसित देश में, जिसमें उत्पादन अब भी एक महान् आर्थिक समस्या बना हुआ था, समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया।

1

जवाहरलाल नेहरू : एक परिचय

14 नवम्बर, 1889 को जवाहरलाल का जन्म इलाहाबाद में हुआ था। वे प्रसिद्ध वकील मोतीलाल नेहरू के बेटे थे। कुलीन तथा पश्चिमी रंग में रंगे कश्मीरी ब्राह्मण थे। उनके माता–पिता धार्मिक कट्टरता से दूर थे। अतः बचपन से ही नेहरू की धर्म में कोई रुचि नहीं थी। उन्होंने इसके बारे में कहा, ''धर्म के बारे में मेरी शिथिल धारणाएँ हैं। यह तो स्त्रियों का ही एक धन्धा लगता है।'' नेहरू का बचपन का जीवन एकाकी था, कारण कि उनकी दोनों बहनों में से बड़ी बहन उनसे ग्यारह वर्ष छोटी थी। उनके आनन्दपूर्ण बाल्यकाल की परिस्थितियों के कारण नेहरू को कहना पड़ा, ''मैं एक विशिष्ट धनी हूँ और मेरा लालन–पालन भी इसी वातावरण में हुआ है। इसी वातावरण का प्रभाव मैंने बचपन से ग्रहण किया है।'' वास्तव में पारिवारिक वातावरण तथा मोतीलाल के व्यक्तित्व का प्रभाव नेहरू के आचरण तथा विचारों पर बाल्यकाल में ही पड़ा।

नेहरू के पैतृक घर आनन्द–भवन में हिन्दू–मुस्लिम तथा अंग्रेज़, तीन संस्कृतियों का मेल हुआ। मिली–जुली संस्कृतियों के प्रभाव ने नेहरू को विशाल हृदय तथा धर्मनिरपेक्ष बना दिया।

चाहे बहुत हद तक मोतीलाल पश्चिमी रंग में रंगे थे, फिर भी वे जवाहरलाल के विचार में एक राष्ट्रवादी थे। नेहरू ने अपने सुविख्यात पिता से ही राष्ट्रीय गर्व की भावना ग्रहण की। लेकिन मोतीलाल नेहरू के

प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्तित्त्व ने नेहरू के विकास में बाधा उपस्थित की और शुरू में नेहरू को अपने पिता तथा बाद में गांधीजी पर निर्भर रहना पड़ा। उनके बहुत से राष्ट्रीय महत्त्व के मामलों में अनिर्णयों तथा अस्थिरता का थोड़ा–बहुत कारण यह भी था।

स्कूल में नेहरू ने शिक्षा ग्रहण नहीं की। उन्हें उनके निजी शिक्षक ने उन्हें घर पर ही शिक्षा दी। नेहरू के निजी शिक्षक फर्डीनेड टी ब्रुक्स ने ग्यारह वर्ष की आयु में उन्हें बहुत प्रभावित किया। उसकी देखरेख में नेहरू ने ब्रह्मविद्या तथा विज्ञान पढ़ा। तेरह वर्ष क़ी उम्र में नेहरू ने थियोसोफीकल सोसाइटी की सदस्यता प्राप्त की। परन्तु ब्रह्मविद्या उनके जीवन का अस्थायी दर्शन था। विज्ञान तथा वैज्ञानिक विधियाँ उनके परिपक्व जीवन–दर्शन पर छाई रहीं। कहा जाता है कि इस समय नेहरू ने धर्म तथा दूसरे विषयों के बारे में सतर्क तथा सावधान होकर अध्ययन करना शुरू कर दिया। उन्होंने पूरी लगन तथा रुचि से उपनिषद, गीता तथा बौद्ध साहित्य पढ़ा क्योंकि उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण की झलक दिखाई देती थी। गांधीजी के साथ लम्बे सम्पर्क के कारण उनकी रुचि धर्म के नैतिक पक्ष की ओर और अधिक बढ़ गई।

उनकी दिलचस्पी बोअरा युद्ध के कारण प्रचलित मामलों में जगी। नेहरू में 1905 के रूस–जापान युद्ध ने राष्ट्रवादी विचार भरे। पन्द्रह वर्ष की उम्र में नेहरू ने इंगलैंड में हैरो में शिक्षा ग्रहण करनी शुरू की। हैरो में पढ़ाई के दौरान उनकी रुचि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों तथा राजनीति में उत्पन्न हुई। उन्होंने ट्राईवेलियन द्वारा गैरी बाल्डी पर लिखी गई एक इनामी पुस्तक तथा इसी देशभक्त इटेलियन पर लिखी कुछ अन्य पुस्तकों का भी अध्ययन किया।

गांधीजी के जीवन के महान् कारनामों ने नेहरू में राष्ट्रवाद की भावना को और भी तीव्रता प्रदान की। उन्होंने कहा है कि ''भारत में इसी प्रकार के स्वतन्त्रता में महान् संघर्ष के कारनामे मेरे सामने आए और मेरे विचारानुसार भारत तथा इटली एक अजीब ढंग से एक–दूसरे में मिल गए है।'' 1907 में उन्होंने कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश लिया और अध्ययन के लिए विज्ञान का विषय चुना। परन्तु उनकी, साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा इतिहास में बहुत रुचि थी, जिनसे उनके बौद्धिक अनुभव का विकास हुआ।

इस सारे समय में नेहरू ने भारतीय राजनीति से अपना सम्पर्क बनाए रखा। उनके पिता द्वारा उनको लिखे गए पत्रों में प्रायः भारतीय राजनीति का चित्र खिंचा हुआ होता था। नेहरू ने उदारवादियों की ओर कोई रुचि न दिखाई और तिलक तथा उनके क्रान्तिकारी उग्रवादी दल के साथ लगाव प्रकट किया। नेहरू के राजनीतिक चिन्तन को मेरिडेश टाउनसेंड की पुस्तक 'एशिया तथा यूरोप' ने बहुत अधिक प्रभावित किया। उन्होंने 1910 में केम्ब्रिज को छोड़कर कानून का अध्ययन करने के लिए 'इनर टेम्पल' में प्रवेश लिया। नेहरूजी की मानसिक रचना पर केम्ब्रिज का बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उनकी कानून में कोई विशेष रुचि न थी। इस समय के दौरान वे फेबियनों तथा समाजवादी विचारों की ओर खिंच गए।

भारतीय मांगों की पूर्ति हेतु ब्रिटिश सरकार ने माण्टेग्यु चेम्सफोर्ड आयोग की स्थापना की। 1918 में इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसे भारतीयों द्वारा त्याग दिया गया। बाल गंगाधर तिलक ने इसे अस्वीकार्य कर दिया। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने इसे भारत द्वारा स्वीकार किये जाने के अयोग्य बताया। किन्तु ज्यादातर नरम दलीय नेताओं ने इस रिपोर्ट में कमियों को मानते हुए भी माण्टेग्यु में समर्थन किया। फलतः कांग्रेस को जो दरारें कठिनाई से दो वर्ष पूर्व लखनऊ अधिवेशन में ऊपर से भर दी गई थीं, वे पुनः फटकर ऐसी चौड़ी हो गई कि जिनकी मरम्मत असम्भव–सी लगने लगी थी। यह अलगाव शीघ्र ही विधान सभा एवं उसके बाहर प्रतिबिम्बित हो गया।

23 अगस्त को पं॰ मोतीलाल नेहरू प्रांतीय कौंसिल में इस रिपोर्ट का स्वागत करने वाले प्रस्ताव का विरोध करने के लिए इन शब्दों के साथ उठे। '... शताब्दियों तक नौकरशाही शासन का यह स्वाभाविक नतीजा है कि हर सरकारी कार्य के, चाहे उसका रूप कुछ भी क्यों न हो, प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। '...ऐसा प्रतीत होता है कि एक हाथ से जो दिया जा रहा था, उसे दूसरे हाथ से वापस लिया जा रहा है। ...नैतिक मोर्चेबंदी का एक नियम है कि सुधार को अपने आप से ही नहीं डरना चाहिए।' अगले दिन उन्होंने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कानून, पुलिस, न्याय विभागों को छोड़ कर सारे विभाग विधान सभाओं के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को सौंप देने की सिफारिश की। माण्टेग्यु–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में नौसेना, स्थल सेना, विदेशी मामले तथा

देशी राज्यों के साथ संबंधों को भारत सरकार के अधीन किया गया था। उन्होंने प्रश्न किया, '...साम्राज्य के ऊपर कौन–सी आफत फट पड़ेगी यदि कानून और व्यवस्था से संबंधित विभागों को छोड़ कर शेष समस्त विभाग जनप्रिय मंत्रियों द्वारा नियंत्रित हों। ...भारतीयों को चलने के पहले खड़ा होना सीखना चाहिए। हम चलना नहीं सीख सकते जब तक कि उस क्रिया का अभ्यास करने का अवसर आप नहीं देते। यदि सारा वक्त हम लेटे ही रहेंगे, तो इस व्यायाम के सारे फायदों को अलविदा।' नरम दलीय मित्रों से मतभेद बढ़ जाने पर पं॰ मोतीलाल नेहरू पत्रकारिता के क्षेत्र में उतर आए और और 'लीडर' पत्र से संबंध तोड़ कर 5 फरवरी, सन 1919 को 'इंडिपेण्डेण्ट' नामक नया पत्र निकालना प्रारम्भ कर दिया। इससे कुछ माह पहले वे और जवाहरलाल नेहरू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए बम्बई गए, जहां पर माण्टेग्यु–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट पर विचार होना था।

यू॰ पी॰ कौंसिल में पं॰ मोतीलाल नेहरू के प्रस्ताव के काफी कुछ अनुरूप ही बम्बई कांग्रेस के प्रांतों में मंत्रियों के लिए अधिकारों एवं केन्द्र में दोहरे शासन की मांग की। यह मांग पन्द्रह वर्ष के भीतर भारत सरकार को विधान सभा के प्रति पूरी तरह उत्तरदायी बनाने के पहले कदम के रूप में थी। उन्हें खुले अधिवेशन में प्रस्ताव के पक्ष में बोलने के लिए आमंत्रित किया गया। उन्होंने इस अभियोग का हवाला देते हुए कहा कि इतिहास में कांग्रेस लीग योजना के समानान्तर कोई चीज नहीं है। मैं इसके अपराध को स्वीकारता हूं; किन्तु मैं कहता हूं, क्या आप इतिहास में उन परिस्थितियों के समानान्तर कुछ बता सकने में समर्थ हैं, जिनमें इस समय रह रहे हैं तथा विगत डेढ़ सौ अथवा काफी ज्यादा समय से रहते आए हैं, जबकि अपने पक्ष के लिए इतिहास में कोई समानान्तर तथ्य नहीं पा सकते, आप इतिहास की शिक्षा के विरोध में काम कर रहे हैं। यह अधिवेशन नरम दलीय नेताओं की अनुपस्थिति की वजह से विशिष्ट था। वे कांग्रेस से अलग हो गए और उन्होंने 'नेशनल लिबरल फेडरेशन' नामक संस्था की नींव रखी।

इस घटना से दस वर्ष पहले नरम दल वालों ने गरम दल वालों को कांग्रेस से बाहर निकाल फेंका था। और आज वे स्वयं को कांग्रेस से फेंका

हुआ अनुभव करने लग गए थे। उनका सम्मान और लोकप्रियता सहसा बहुत नीचे गिर गया था। उधर प्रथम विश्व युद्ध जब अंतिम सांसें ले रहा था, तब भारत में दबा हुआ उत्साह फैला हुआ था। कल–कारखाने जगह–जगह थम गए थे और पूंजीवादी वर्ग धन और सत्ता में आगे पहुंच गया था। इससे कुछ लोग मालामाल हो गए थे और वे लालायित थे कि बचत की इस संपत्ति को बढ़ाने के लिए सत्ता और अवसर हाथ लगे। लेकिन सामान्य जनता इतनी भाग्यशाली नहीं थी और वे इस भार को कम करने की टोह में लगे थे, जिसके नीचे उनका अस्तित्व मिटता जा रहा था। मध्यम वर्ग के भारतीयों में यह आशा घर कर रही थी कि अब शासन सुधार होंगे ही, जिनसे स्वराज्य के कुछ अधिकार हाथ लगेंगे और उनके द्वारा उनकी विकास के लिए नया रास्ता निकलेगा।

तात्कालिक राजनैतिक आंदोलन जो वैध एवं शांतिपूर्ण था, सफलता की सोपान पर चढ़ता दिखलाई पड़ रहा था और भारतीय नेता विश्वास के साथ आत्म निर्णय, स्वशासन और स्वराज्य की बातें करते थे। इस अशांति के कुछ चि जनसाधारण में और विशेषकर खेतिहरों में दिखलाई पड़ते थे। पंजाब के ग्रामीण क्षेत्रों में जबरन रंगरूट भरती करने की दुःखदायी बातें अभी तक लोगों के मानस पटल पर तह के रूप में बैठी हुई थीं और कोमागाटामारू वाले लोगों पर षड्यंत्र के अभियोग चला कर जो दमन किया था, उसने उनकी समस्त छायी नाराजगी को ओर भी बढ़ा दिया था। जगह–जगह युद्ध के क्षेत्रों से जो सैनिक लौटे थे; वे अब पहले जैसे 'जो हुक्म' नहीं रह गए थे। वे अनुभव के आधार पर बहुत कुछ जान गए थे। इस कारण उनमें असंतोष पूंर्णतया व्याप्त था। मुसलमानों में भी, तुर्किस्तान और खिलाफत के मसले पर अपनाये गए रूख पर असंतोष बढ़ गया था और आंदोलन गति पा रहा था। समस्त राष्ट्र प्रतीक्षा और आशा की हवा से घिरा हुआ था।

इसके पश्चात् रौलट एक्ट का दौर हुआ, जिसमें कानूनी कार्रवाई के बिना भी बंदी बनाने एवं दंडित करने की धाराएं रखी गई थीं। सम्पूर्ण भारत में चहुंओर उठी हुई असंतोष की लहर ने उसका स्वागत किया; यहां तक कि नरम दलीय नेताओं ने भी अपनी पूरी शक्ति से उनका विरोध किया। सच्चाई तो यह है कि भारत के सब विचार एवं दल के लोगों ने एकजुट होकर उनका

विरोध किया था। फिर भी सरकारी अधिकारियों ने यह कानून बनवा डाला और विशेष रियायत सिर्फ इतनी की गई कि उनकी अवधि सिर्पफ तीन वर्ष की रख दी गई। ये तीन साल शान्ति के नहीं, ऐसे उपद्रव के थे जो प्रथम महाक्रांति के बाद भारत में प्रथम बार देखे थे। इस तरह अंग्रेजी सरकार ने जनमत की परवाह न करते हुए; एक ऐसा कानून बनाया था, जिसका उसने कुछ भी उपयोग नहीं किया; लेकिन बदले में एक तूफान उठा दिया। साफ है कि इस कानून को बनाने का उद्देश्य भारत में शांति को भंग कर खलबली पैदा करना था। मोहनदास करमचन्द गांधी उस समय तक राजनैतिक मसीहा बन चुके थे, जिसे पहचानने में अंग्रेजी सरकार की आंखें धोखा खा गई थीं। वे अभी भारी बीमारी से उठे थे। तत्काल ही उन्होंने वायसराय से प्रार्थना की थी कि वे रौलट एक्ट को कानून न बनने दें; लेकिन वायसराय ने इसे भी अन्य प्रार्थनाओं की तरह अनसुना कर दिया।

ऐसी स्थिति में उन्हें अपने मन के खिलाफ इस आंदोलन का अगुआ बनना पड़ा, जो कि उनके जीवन में प्रथम भारतव्यापी आंदोलन था। उन्होंने सत्याग्रह सभा प्रारम्भ की, जिसके सदस्यों से यह शपथ दिलाई गई थी कि उन पर लागू किए जाने पर रौलट एक्ट को नहीं स्वीकार करेंगे स्पष्ट था कि उन्हें खुल्लमखुल्ला और जान बूझ कर जेल की तैयारी करनी थी। जब जवाहरलाल नेहरू ने समाचार पत्रों में 'सत्याग्रह संकल्प' के विषय में पढ़ा, तो वे खास तौर से प्रभावित हुए। इलाहाबाद की आरामकुर्सी वाली राजनीतिक उनकी आत्मा के जिस अन्तराल में पूर्ति करने में असमर्थ रही थी, उसे इसने भर दिया था।

उनके शैशवकाल की अस्पष्ट राष्ट्रीयता को जो हैरी एवं फैम्ब्रिज में अपने पर लादे गए निर्वासन से पुष्ट हुई थी, उन्हें अंततोगत्वा एक केन्द्रीय बिन्दु मिल गया था। वे समझ गए थे कि वे गैर–दुनियादार लगने वाले इस छोटे विलक्षण व्यक्ति के पास तीक्ष्ण राजनैतिक बुद्धि है और एक जबरदस्त राजनैतिक अस्त्र भी, जिसके बल पर यह मसीहा जरूर कुछ करके दिखाएगा। जवाहरलाल नेहरू के लिए यह अस्त्र रामबाण था। अब उन्हें उलझन से निकलने की नई राह दिखलाई दे गयी थी। इस प्रकार उनके उत्साह का पारावार न था और वे तुरन्त ही इस राजनैतिक मसीहा की

सत्याग्रह सभा के सदस्य बनना चाहते थे। उन्होंने उसके नतीजा पर —जेल भरना, कानून तोड़ना आदि पर शायद ही विचार किया हो; और यदि उन्होंने गौर किया भी होता, तो भी उन्हें उसकी परवाह न होती। जब उन्होंने पिता पं० मोतीलाल नेहरू को बताया कि वे सत्याग्रह सभा में शामिल होना चाहते हैं, तो वे स्तम्भित रह गए। पं० मोतीलाल नेहरू के मन में गांधी जी के प्रति अत्यधिक आदर भाव था और रौलट एक्ट की निन्दा में भी वे अग्रणीय थे। पर यह आंदोलन उन्हें अप्रिय लगा था। असल में वे नए-नए प्रस्तावों के बहाव में बह जाने वाले लोगों में से नहीं थे। कोई भी नया कदम आगे उठाने से पूर्व, वे उसके परिणाम को अच्छी तरह सोच लिया करते थे।

उनकी दृष्टि में यह आंदोलन अवैधानिक था और मूर्खतापूर्ण भी। वे समझते थे कि कानून तोड़ना केवल कुछ सौ लोगों को सींखचों के पीछे पहुंचा देगा, पर कठिनाई से प्रशासन के यंत्र पर कुछ प्रभाव डाल सकेगा। 'हृदय हमेशा मूर्ख होता है, सिर्फ अविश्वसनीय मार्ग दर्शक मस्तिष्क है।' वे अपने इकलौते पुत्र को बेहद प्यार करते थे। वे नहीं चाहते थे कि जवाहर जेल गए। उधर राजनैतिक मसीहा का सत्याग्रह संकल्प जोर पकड़ता जा रहा था उसमें अभी तक किसी को सरकारी मेहमान बनने का अवसर नहीं मिला था। वरिष्ठ राजनीतिज्ञों की गौरवपूर्ण मण्डली को शीघ्र इसके विरोध में 'घोषणा पत्र' जारी करने हेतु उत्तेजित किया। ये लोग इस बात से डर गए कि सविनय अवज्ञा आंदोलन राज्य एवं समाज की स्थिरता की जड़ों को हिला देगा। जवाहरलाल नेहरू का उत्साह पिता की आज्ञा न मिलने से शिथिल पड़ गया था। लेकिन उनके मन में समानान्तर संघर्ष चलता रहा।

वे सोच रहे थे कि जेल जाने की बात को लेकर असाध्य रोग से पीड़ित मां के स्वास्थ्य पर, वृद्ध पिता की व्यावसायिक उन्नति पर, तरुणी पत्नी के हर्ष भरे जीवन पर और सद्यःजात कन्या के भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा? ऐसा कदम उठाना सरल नहीं है, इससे सारा जीवन उथल–पुथल हो सकता है।

ऐसे ही विचार पिता के हृदय को मथ रहे थे। फिर भी, दोनों ने इस बात का प्रयास किया कि जहां तक सम्भव हो सके, एक दूसरे की भावनाओं

का ध्यान रखें। जवाहरलाल नेहरू यह चाहने लग गए थे उनके कारण परिवार के किसी भी सदस्य को किसी तरह का कोई कष्ट न पहुंचे। साथ ही वे इस अनुभूति से पीड़ित हो रहे थे कि वे अपने माता–पिता के सारे जीवन के प्यार और दुलार का प्रतिदान नहीं दे रहे हैं। अन्त में वे राजनैतिक विश्वासों और पारिवारिक स्नेह सूत्रों के बीच के द्वन्द्व में उलझ कर भी इस नतीजे पर पहुंच गए थे कि उन्हें अन्ततः जाना तो इस सत्याग्रह की राह पर ही है। इस प्रकार पिता–पुत्र के लिए खास कठिनाई का समय था।

दोनों ही यह महसूस कर रहे थे कि वे चौराहे पर खड़े हुए हैं। ऐसी स्थिति में उन्होंने कई रातें अकेले ही चिन्ता और बेचैनी में काटीं। पं॰ मोतीलाल नेहरू ने प्रथम बार महसूस किया था कि यह आकस्मिक संकट कहीं अधिक ही गहरा है, जिसे पैतृक अधिकार के क्रोधपूर्ण विस्फोटों से परिशमित करना संभव नहीं है। उन्होंने चुपचाप फर्श पर सोना प्रारंभ कर दिया, यह जानने के लिए कि बंदीगृह में उनके लाड़ले की क्या गत होगी। जवाहरलाल नेहरू को इस सत्याग्रह से पृथक् रखने में असफल होकर उन्होंने गांधी जी की मध्यस्थता चाही। उनके निमंत्रण पर मार्च के दूसरे सप्ताह में गांधी जी आनन्द भवन में पधारे। पं॰ मोतीलाल नेहरू की उनके साथ कफी देर तक बातचीत होती रही। उस समय जवाहरलाल नेहरू वहां उपस्थित नहीं थे। उनके आने पर गांधी जी ने सुझाव दिया कि कुछ समय के लिए धैर्य धारण करो और ऐसा काम न करो जो पिताजी को असह्य हो।

इस प्रकार पारिवारिक संकट परिशमित होने के बजाए टल गया। मगर इससे जवाहरलाल नेहरू को हार्दिक कष्ट हुआ। तुरन्त ही एक ऐसी घटना घट गई, जिसने समस्त भारतीय उपमहाद्वीप को हिलाकर रख दिया और संयोगवश पिता और पुत्र को राजनैतिक रूप से एक ही पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। इस तरह गांधी जी की पहली जीत थी इलाहाबाद का आनन्द भवन। 12 मार्च, 1919 ई॰ को गांधी जी ने इलाहाबाद से ही वायसराय को एक ओर तार भेजा, 'इस अंतिम घड़ी में भी मैं हिज एक्सेलेंसी और उनकी सरकार से इज्जतपूर्वक कहूंगा कि रौलट बिलों को पास करने के पहले तनिक ठहरें और सोचें। ऐसी कार्रवाईयों के समय जनमत की शक्ति सही हो अथवा गलत, के विषय में गलती नहीं होनी चाहिए। इस तार से भी

वासराय के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी। तब गांधी ने एक दिन हड़ताल के साथ अपना आंदोलन चलाया। उस दिन भारतीयों को अपना व्यवसाय बन्द कर देना था और उपवास एवं प्रार्थनाएं करनी थीं।

क्रोध अथवा शोक की प्रतीक रूपी हड़ताल भारतीय ग्रामों अथवा कस्बों में अनजानी नहीं थी, लेकिन व्यवस्थित राजनीतिक आंदोलन में एक राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में जरूर यह नई बात थी। गांधीजी ने बाद में स्वयं इस बात को स्वीकारा, 'जब मैंने रविवार के प्रदर्शन और उपवास का सुझाव रखा था, मैं सोचता था कि ज्यादातर लोग मुझे पागल समझ कर हंसेंगे, लेकिन रुष्ट जनसमुदाय की कल्पना को इस विचार ने प्रभावित किया। अगर गांधीजी की प्रार्थना की उत्साहशील अनुक्रिया ने उन्हें चकित किया, तो उसने अंग्रेजी सत्ता को सावधान कर दिया। दिल्ली में, जहां कुछ गलतफहमी की वजह से हड़ताल 30 मार्च, 1919 को की गई, वहां एक भीड़ को तितर–बितर करने के लिए पुलिस को गोली चलानी पड़ी। गांधीजी ने इस स्थिति में गोली कांड को 'मक्खी मारने के खातिर हथौड़े की चोट की संज्ञा दी। 6 अपैल, 1919 ई॰ के देशव्यापी प्रदर्शन ने सरकार को विचलित कर डाला। जब गांधी जी, 9 अप्रैल, 1919 ई॰ की रात्रि को दिल्ली जा रहे थे, उन्हें रास्ते में पकड़ कर ट्रेन से बम्बई लाकर छोड़ दिया। अहमदाबाद, बम्बई, नाडियाड और उन प्रान्त के अन्य स्थानों में जहा अहिंसा के मूल सिद्धान्तों का जय–जयकार होता था, वहां गम्भीर उथल–पुथल हो गई, इससे गांधीजी दिल्ली के लिए पुनः प्रस्थान करके गिरफ्तारी न दे सके। इस आंदोलन की भूल का प्रायश्चित करने हेतु उन्होंने तीन दिन का अनशन किया। उन्होंने अधिकारियों की ज़्यादती की निन्दा के समान ही सामूहिक हिंसा की भर्त्सना करने में भी किसी को नहीं छोड़ा। गांधी जी ने यद्यपि उस समय सत्याग्रह को सीमित और अन्ततः स्थगित करने की ठान ली थी, लेकिन इस पर भी उनका विश्वास अडिग रहा था। उनका तर्क था कि सत्याग्रह ने हिंसा पैदा नहीं कि बल्कि उसे धरातल पर लाकर अपेक्षाकृत कम हानिप्रद राह पर मोड़ दिया।

उधर रौलट एक्ट के विरुद्ध पंजाब के अधिकारी देशव्यापी प्रदर्शन को राजनैतिक मसीहा का अभ्युदय न समझकर उसे प्रथम महाक्रान्ति की पुनरावृत्ति समझ बैठे। तब सर माइकेल उग्र रूप में गरज उठे, '...ब्रिटिश

सरकार, जो विदेशी शत्रुओं और आन्तरिक विद्रोह को तहस–नहस कर चुकी है, इन आंदोलनकारियों की अवमानना करने में समर्थ है। 9 अप्रैल, 1919 ई॰ को रामनवमी था। इस मौके पर अमृतसर में हिन्दू और मुसलमानों के मध्य सौहार्द्र के असाधारण दृश्य देखने को मिले। शान्ति के साथ एक भव्य जुलूस निकला। अंग्रेज उपायुक्त के आगे गुजरते वक्त जुलूस का नेतृत्व कर रहे वैण्ड ने 'ईश्वर सम्राट की रक्षा करे' की धुन बजायी। दूसरे दिन, एक और जुलूस पर जो स्थानीय नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में निकल रहा था, गोली चलाई गई। गोली चलाने पर लोग पागलों की तरह इधर–उधर भागे, कुछ असामाजिक तत्वों ने लूटपाट की तथा कुछ यूरोपियों को जिनमें दो महिलाएं भी थीं, घायल कर दिया। अमृतसर में 11 अप्रैल को ब्रिगेडियर जनरल डायर के नेतृत्व में सैनिक टुकड़ियां तैनात कर दी गईं। इससे वातावरण अगले दो दिनों तक बिल्कुल शान्त रहा। 13 अप्रैल को बैशाखी का प्रसिद्ध पर्व था। उसी दिन अपरा को जलियां वाला बाग में एक सार्वजनिक सभा हुई। सभाओं में रोक से अनजान भारतीय जन उस सभा में जलियां वाला बाग पहुंच गए। अपनी सैनिक टुकड़ियों को ब्रिगेडियर जनरल डायर वहां ले गया, जहां सार्वजनिक सभा हो रही थी। उसे चेतावनी दिए बग़ैर ही लगातार गोली चलाने का आदेश दे दिया। ये गोलियां बारूद समाप्त होने तक लगातार चलती रहीं। दस मिनट के इस गोलीकांड के समय, जलियां वाला बाग अपनी ऊँची प्राचीरों और एक छोटे से प्रवेश द्वार के कारण, वहां पर एकत्रित हजारों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिए कालकोट बन गया। यह कत्लेआम त्रासद तो था ही, पर इसके बाद जो कुछ घटित हुआ वह और भी शोभनीय नहीं था। अमृतसर, लाहौर तथा पंजाब के कई प्रान्तों में मार्शल लॉ लगा दिया गया। ब्रिगेडियर जनरल डायर, उसके नागरिक तथा फौजी परामर्शदाता अपने को विश्वास दिला रहे थे कि इस घिनौनी और निर्मम कार्रवाई द्वारा वे एक विद्रोह का सफाया कर रहे हैं और इस प्रकार पंजाब को साम्राज्य के लिए बचा रहे हैं। इतने से ही उनकी क्रूरता का प्याला नहीं भरा था।

डायर की सेना के क्रूर मेजरों और तने हुए मजिस्ट्रेटों द्वारा भारतीय जनता को कठोरतम दण्ड एवं नामहीन अपमान मिले थे। ब्रिगेडियर जनरल

डायर ने इस त्रासदी के अगले दिन अमृतसर के रहने वालों से स्पष्ट कह दिया, 'मेरे लिए अमृतसर या फलैण्डर्स का युद्ध क्षेत्र एक ही है। सिर्पफ अंध क्रोध और भय ही वायुयान से ग्रामीण क्षेत्रों पर बम बरसाने अथवा मशीनगन चलाने को प्रेरित कर सकता था। इससे ही मार्शल लॉ शासन के तहत अनोखे अथवा अकल्पनीय अपराधों को जन्म दे डाला। जैसे यह अपराध था कि दो भारतीय अगल–बगल चलें अथवा एक हिन्दू और एक मुसलमान सार्वजनिक स्थान पर मैत्री भाव दर्शायें।

लाहौर में कॉलेज के छात्र यूनियन जैक को सलामी देने लिए सूर्य की भारी गर्मी में सोलह मील दौड़ाए गए थे। दस व्यक्तियों से ज्यादा लोगों की एक बारात को बन्दी बना लिया गया, वर महोदय को हवालात दिखायी गई तथा पुरोहित तथा अन्य लोगों को कोड़ों का दण्ड दिया गया। प्रान्तभर से सैकड़ों व्यक्तियों को पकड़कर मार्शल लॉ के तहत बनी संक्षिप्त कचहरियों में दण्डित किया गया। पं॰ मोतीलाल नेहरू के पंजाब प्रान्त की राजधानी लाहौर के साथ घरेलू संबंध थे। यहां उनकी ससुराल थी। मार्शल लॉ के शिकार उनके मित्र हरकिशनलाल भी थे, जिन पर 'सम्राट् के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने' का आरोप लगाया गया। पं॰ मोतीलाल नेहरू ने उनका बचाव करने हेतु आज्ञा मांगी, पर पंजाब में घुसने की अनुमति नहीं दी गई। तब उन्होंने शिमला में होम मेंबर को एक लम्बा तार दिया और उसकी प्रतिलिपियां लन्दन में माण्टेग्यु और सिन्हा को भेजी। कदाचित् सिन्हा के मजबूर करने पर माण्टेग्यु ने फौरन कार्रवाई की और वायसराय से सफाई मांगी तथा उसकी प्रतीक्षा किए बगैर 4 जून, 1919 ई॰ को तार दिया, 'अन्य प्रान्तों से वकीलों को हाजिर होने से क्यों रोका जा रहा है, इसके कारण कृपा कर मुझे प्रेषित किए जाएं। मेरी कौंसिल का यह विचार है कि जब तक खास जोरदार कारण न हों, यह रोक अनुचित है। वायसराय ने अपना कर्तव्य समझ अपने अधिकारियों के कार्यों का बचाव 'कानूनी' और 'फौजी शासन की अधिकार सीमा के भीतर' कह कर किया। 11 जून के उपरांत मार्शल लॉ की वापसी की आशा है। अन्य प्रान्तों के वकीलों को पंजाब में आने दिया जायेगा। माण्टेग्यु ने इस आश्वासन से असन्तुष्ट होकर 9 जून को पुनः तार दिया, 'मेरा मानना है कि जब तक अन्य प्रान्तों से वकीलों को उपस्थित होने का मौका

नहीं दिया जाता, तब तक हरकिशनलाल और अन्य अभियुक्तों के विरुद्ध कार्रवाई करने की कोई सम्भावना नहीं है। पर यदि कोई शक है, तो कृपया कार्रवाई के स्थगन की व्यवस्था कीजिए।' बिग्रेडियर जनरल डायर और चेम्सफोर्ड के ऊपर से माण्टेग्यु और सिन्हा को निवेदन करने की चाल वूफटनीति से प्रेरित थी। उसमें उन्हें सफलता मिली। वे अपने मित्र हरकिशनलाल को बचाने में ही समर्थ नहीं हुए, कदाचित मार्शल लॉ की समयावधि को भी कम करा सके।

माण्टेग्यु के बीच–बचाव के बगैर भारत सरकार स्थिति को ऐसे ही खिसकने देती तथा पंजाब सरकार के नागरिक स्वतन्त्रता को वापस करने की जरा भी शीघ्रता न दिखाई होती। लाहौर एवं बाहर के अन्य वकीलों के समान ही पं॰ मोतीलाल नेहरू ने पंजाब की मुसीबत से रुपया कमाना नामंजूर कर दिया। उन्होंने इलाहाबाद में चलती हुई प्रेक्टिस की उपेक्षा की और शीघ्रातिशीघ्र लाहौर पहुंचे और उन सब भारतीयों की अपीलों को हाथ में लिया, जिन्हें मार्शल लॉ के न्यायालयों से दंडित किया गया था। लंदन में प्रिवी कौंसिल में की गई अपीलों को उनके अपने कानूनी जानकारों, बेरो रोजर्स और नेविल ने हाथ में लिया। वास्तव में उन दिनों पंजाब दूसरे प्रान्तों से कट कर पृथक् रह गया था। बाहरी दुनिया की आंखें उस तक नहीं पहुंच पा रही थीं। वहां की कोई खबर मुश्किल से ही मिल पा रही थी। वहां से न कोई आ पाता था और न वहां जा पाता था।

ऐसी स्थिति में जवाहरलाल नेहरू और उनके साथी असहाय और असमर्थ थे। वे छोटे–बड़े समाचार की प्रतीक्षा करते रहते थे। उनमें से कुछ लोग फौजी कानून की परवाह न करके बिना डर के पंजाब के उन भागों में जाने के इच्छुक थे, लेकिन उन्हें ऐसा करने नहीं दिया गया। इसी बीच कांग्रेस की ओर से दुखियों और पीड़ितों की सहायतार्थ और जांच करने के लिए एक बड़ा संगठन बनाया गया। पंजाब की खास–खास जगहों से जैसे ही फौजी कानून वापस लिया गया और बाहर वालों हेतु वहां जाने की राह खुल गई।

परिणामतः प्रमुख कांग्रेसी नेता और अन्य लोग पंजाब पहुंच गए और

मदद तथा जांच कार्य में अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। पं॰ मोतीलाल नेहरू कांग्रेस जांच समिति के सदस्य नियुक्त किए थे। गांधीजी, सी॰ आर दास, एम॰ आर॰ जयकर और अब्बास तै यब जी उनके सहयोगी थे। इससे गांधी जी, पं, मोतीलाल नेहरू के घनिष्ठ सम्पर्क में आ गए थे। पीड़ितों की मदद का कार्य मुख्य तौर से पं॰ मदनमोहन मालवीय और स्वामी श्रद्धानन्द जी की देख–रेख में हो रहा था। देशबन्धुदास ने अमृतसर का खास भाग अपनी ओर लिया था और जवाहरलाल नेहरू उनके सहयोगी के रूप में कार्यरत थे। उनका देशबन्धुदास के साथ कार्य करने का प्रथम अवसर था। उनकी नजर में इस अवसर का खास महत्व था। जलियां वाला बाग से और उस तंग सी गली से, जिसमें लोगों को पेट के बल रेंगाया गया था, सम्बन्ध रखने वाले बयान आदि उनके सामने लिए गए थे। पंजाब जांच के समय जवाहरलाल नेहरू को गांधी जी को पास से समझने का मौका मिला था। गांधी जी का परामर्श दूरदर्शी होता था। इससे जवाहर लाल नेहरू की उनके प्रति इज़्जत बढ़ गई थी।

पंजाब के लिए पं॰ मोतीलाल नेहरू की कानूनी और राजनैतिक कार्य का एक प्रमुख नतीजा निकला था—उनका अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए चुना जाना। 25 दिसम्बर को जब वे लाहौर से अमृतसर पहुंचे, तो रेलवे जंक्शन 'जोश से पूर्ण मानव पुंज' बना हुआ था। वे वहां से विशाल जुलूस के रूप में ले जाए गए। वे और अजमल खां स्वर्ण मंदिर में गए और प्रार्थनाएं कीं। बाल गंगाधर तिलक, ऐनी बेसेंट, सी॰ आर॰ दास, विपिन चन्द्र पाल, मदनमोहन मालवीय, गांधीजी, श्रीनिवास शास्त्री और जिन्ना आदि दिग्गज नेता भी इस अधिवेशन में थे।

पं॰ मोतीलाल नेहरू को अध्यक्षीय भाषण में तीन घंटे लगे थे, जिसमें उन्होंने ओ डायर पर आरोप लगाया था कि उसने पंजाब को एक तरह का अल्स्टर बना दिया, जबकि सभी सुधारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का अभार मोर्चा परिणत करने की कोशिश करने वाले लार्ड चेम्सफोर्ड इन घटना–स्थलों से अपनी अनुपस्थिति द्वारा कुछ सुनने अथवा मध्यस्थ बनने से इंकार करके अपने सम्राट् की सेवा करने अथवा उनके विश्वास को निभाने में सफल हुए हैं। ...इसी में एक शाही फरमान के प्रति प्रशंसात्मक भावनाएं व्यक्त कीं,

जिसमें राजनैतिक माफी की घोषणा की गई थी, सम्राट् जार्ज पंचम ने घोषित किया कि जहां तक सम्भव हो, मेरी प्रजा और मेरी सरकार के प्रति उत्तरदायी व्यक्तियों के बीच जो कटुता के चिन्ह हों, उन्हें मिटा देना चाहिए। राष्ट्रीय नेताओं के लिए अमृतसर में एकत्रित सम्राट् जार्ज पंचम के शाही फरमान ने शीतल मरहम के समान काम किया। लोकमान्य तिलक ने सम्राट् को अपने कृतज्ञतापूर्ण तथा निष्ठापूर्ण धन्यवाद का तार भेजा। इस पर गांधी जी ने अपने विचार व्यक्त किए 'यह एक ऐसा दस्तावेज है, जिसके लिए ब्रिटिश जनता गौरव अनुभव कर सकती है और जिससे प्रत्येक भारतीय को संतुष्ट हो जाना चाहिए। इस घोषणा पत्र ने अविश्वास के स्थान पर विश्वास को जमाया; पर यह देखना अभी शेष है कि यह छनकर सरकारी अधिकारियों तक पहुंचता है अथवा नहीं' इस अधिवेशन के पश्चात् जवाहरलाल नेहरू अमृतसर से दिल्ली के लिए रात्रि ट्रेन से चले थे। वे जिस डिब्बे में बैठे थे, उनमें सभी यात्री सैनिक अधिकारी थे। वे आपस में काफी जोर–जोर से वार्तालाप कर रहे थे। उनमें से एक काफी के गर्व के साथ अमृतसर के अनुभव सुना रहा था। जवाहर लाल नेहरू समझ गए कि यह अधिकारी मि॰ डायर है। उसकी बातचीत को सुनकर उनका चेहरा गुस्से से तमतमा उठा था। मार्च सन् 1920 में कांग्रेस जांच समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसके कई महीने के बाद सरकारी रिपोर्ट आई। मोतीलाल नेहरू ने इससे आश्चर्यचकित होकर अपने पुत्र जवाहरलाल नेहरू को लिखा, '... इन झगड़ों में अन्य अपीलकर्ताओं ने चाहे जितना भी भाग लिया हो; पर इस बात में शक की तनिक सी भी छाया नहीं है बग्गा और रतनचन्द उतने ही निर्दोष हैं, जितनी कि इन्दु। पंजाब में हर एक व्यक्ति, सरकारी और गैर सरकारी, इस बात को जानता है, फिर भी उन्हें फांसी पर लटकाया जाना है। बहरहाल यह उदाहरण इन लाखों अन्यायों में से एक है, जो नित्यप्रति इस देश पर ढाये जाते हैं। जिस समय सन् 1920 ई॰ के शुरू में राजनैतिक दृश्य तेजी से बदल रहे थे, उस समय पं॰ मोतीलाल नेहरू एक प्रसिद्ध डुमराव केस के बिहार के एक छोटे से कस्बे आरा में उलझे हुए थे।

आरा का वातावरण उस समय षड्यंत्र की गंध से भरा हुआ था। ज्यादातर गवाहों और स्थानीय सहकारियों की मुटठी गरम की जा चुकी थी।

उन दिनों डाक से पत्र भेजना सुरक्षित नहीं था और एक निजी संवेशवाहक नियमित रूप से आरा और इलाहाबाद के बीच दौड़ता रहता था। उस समय इलाहाबाद में जवाहरलाल नेहरू थे, जो पिता की अनुपस्थिति में घरेलू, वकालती और राजनैतिक मामलों की देखभाल कर रहे थे। इसी वर्ष राजनैतिक और खिलाफत आंदोलन दोनों एक ही दिशा में और एक साथ चले और कांग्रेस के द्वारा गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग के स्वीकार कर लिए जाने पर अंततोगत्वा दोनों एक साथ मिल गए।

सर्वप्रथम खिलाफत कमेटी ने उस कार्यक्रम को अपनाया और 1 अगस्त का संघर्ष प्रारम्भ करने का दिन निश्चित हुआ। श्रीमती कमला नेहरू का स्वास्थ्य उन दिनों ठीक नहीं चल रहा था। इससे परिवार चिन्तित रहता था। व्यस्त पं॰ मोतीलाल नेहरू का ध्यान भी रोगी पुत्रवधू की तरफ रहता था और वे उसके उपचार के संबंध में व्यस्त रहे और दोनों अदालतों में जाने के इंतजार में रहते थे, क्योंकि इससे कुछ देर के लिए उस गंदी कोठरी से मुक्ति मिल जाती। इसी बीच प्रशासन की तरफ से जेल अधीक्षक उनके पास आया, कहा कि अगर वे अफसोस जाहिर कर दें और नाभा से चले जाने का वचन दे दें, तो मुकद्मा उठा लिया जा सकता है। जवाहरलाल नेहरू ने इस पर जवाब दिया कि वे किस बात का अफसोस जाहिर करें? उन्होंने कोई ऐसी बात नहीं की है, बल्कि उलटे रियासत को उनसे क्षमा मांगनी चाहिए। वे किसी तरह का वचन देने को तैयार नहीं है। इसी बीच पुलिस ने खुले न्यायालय में कपिलदेव मालवीय के कुछ कागजात जबरदस्ती छीन लेने का भी प्रयास किया था। जवाहरलाल नेहरू और उनके मित्रों की गिरफ्तारी के करीब दो सप्ताह पश्चात् उनके दोनों मुकदमे खत्म हुए, जिनमें तीनों को ढाई–ढाई वर्ष की सजा सुनाई गई थी। निर्णयों में क्या लिखा था, यह उन तीनों को मालूम नहीं। उन्होंने निर्णयों की नकलें मांगी, तो उत्तर मिला कि इसके लिए बाकायदा अर्जी दो। जेल अधीक्षक ने उसी संध्या को उन तीनों को बुलवाया और उन्हें जाब्ता–फौजदारी की तरफ से प्रशासक का एक आदेश दिखाया, जिसमें उनकी सजाएं स्थगित कर दी गई थीं। कोई शर्त उसमें नहीं रखी गई थी। इसका कानूनी परिणाम यह था कि जहां तक उनका सम्बन्ध था, उनकी सजाएं खत्म हो गई हैं। इसके कुछ देर पश्चात्

जेल अधीक्षक ने एक दूसरा आदेश, जिसका नाम एक्जीक्यूटिव आर्डर था, दिखाया। उसमें प्रकाशक की आज्ञा थी कि तीनों नाभा छोड़कर चले जाएं और विशेष अनुमति पाए बिना नाभा रियासत में न लौटें। जवाहरलाल नेहरू ने दोनों आदेशों की नकलें मांगीं, लेकिन वे दी नहीं गईं। उन तीनों को तभी रेलवे स्टेशन पर ले जाकर छोड़ दिया गया। नाभा में उनका कोई परिचित नही था और रात्रि में नाभा शहर के द्वार भी उनके लिए बन्द हो गए थे। तभी उन्हें मालूम हुआ कि अम्बाला को एक ट्रेन जाने वाली है। वे तीनों उसी ट्रेन में सवार हो गए। वहां से वे दिल्ली और वहां से इलाहाबाद पहुंचे। तीनों का स्वास्थ्य उस समय ठीक नहीं था। नाभा की सीलन भरी तंग कोठरी में तीनों ही विषम बुखार का शिकार हो गए थे। यह बुखार कोई साधारण नहीं था। इसके साथ उन्हें कई सप्ताह तक संघर्ष करना पड़ गया था। जवाहरलाल नेहरू को इस अस्वस्थता की स्थिति में उनके मित्र श्रीप्रकाश का पत्र मिला था, जिसमें उन्हें बधाई दी गई थी कि वे 'नाभा' की जमीन से बच निकले। ...मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि तुम इस तरह के खतरों में अपना हाथ बहुत अधिक न डालो। जवाहरलाल नेहरू ने इस आपदा को एक ज्यादा दार्शनिक धरातल पर स्वीकार कर लिया था। उनके लिए नाभा का यह रोमाचंक अनुभव था।

2

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नेहरू का प्रवेश

जवाहरलाल ने 1912 में बैरिस्टरी शुरू की और जल्दी ही भारत लौट आए। उन्होंने संयुक्त प्रान्त के उच्च न्यायालय में काम करना शुरू किया परन्तु शीघ्र उनकी रुचि इस व्यवसाय में न लगी। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रवेश किया और विदेशों में रहने वाले भारतीयों के साथ हो रहे दुर्व्यवहार के बारे में चल रहे आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। परन्तु कांग्रेस की तत्कालीन राजनीति उन्हें एक मध्यवर्गीय मामला ही प्रतीत हुआ। विश्वयुद्ध ने राष्ट्रीय मामलों में उनकी रुचि को बढ़ाया, चाहे इससे नेहरू के जीवन पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा। 1916 तक राष्ट्रीय आन्दोलन को पुनर्जीवित किया गया था और नेहरू मिस एनी बेसेन्ट की होमरूल लीग में सम्मिलित हो गए। उन्होंने तिलक की होमरूल लीग में भी रुचि दिखाई उन्हें उदारवादियों की कार्यपद्धति पसन्द न थी, क्योंकि वे उग्रवादियों से बहुत प्रभावित हुए थे और विदेशी शासन के प्रति 'अधिक कठोर तथा भिड़न्त की नीति' को अपनाने के इच्छुक थे।

गांधीजी के साथ उनकी पहली मुलाकात 1916 में लखनऊ कांग्रेस के अधिवेशन में हुई, लेकिन गांधीजी उन्हें प्रभावित न कर सके, क्योंकि "वे बहुत, विभिन्न तथा गैर–राजनीतिक दिखाई दिए।" गांधीजी की सत्याग्रह सभा से नेहरू प्रभावित हुए जो कि 1919 में अंग्रेज़ी सरकार के रौलट एक्ट तथा दूसरे दमनकारी कानूनों की अवज्ञा करने के लिए बनाई गई थी। उन्होंने कहा,

''उलझन में निकलने का यही एक रास्ता था, एक सीधा तथा खुला ढंग जो कि सम्भवतः प्रभावशाली भी था।'' अमृतसर में जलियाँवाले बाग़ के हत्याकांड और उसके बाद भी कई स्थानों पर सरकार के दमन तथा लोगों की लाचारी के कारण वे उग्रवादी राष्ट्रवाद की ओर और अधिक खिंच गए।

उनका सम्पर्क 1920 को गरमी के मौसम में संयोगवश अवध में चल रहे किसान आन्दोलन के साथ आया। इससे उनके मानसिक झुकाव में काफी परिवर्तन आया। वे परिश्रमी किसानों के सम्पर्क में आए और उन्हें उनकी दयनीय दशा का ज्ञान हुआ। उनके सामने नंगे, भूख दलित तथा अत्यन्त दुखी भारत का चित्र साकार हुआ। इसी तजुर्बे के समय कांग्रेस में गांधीजी का महत्त्व बढ़ा।

गांधीजी द्वारा किसानों की दयनीय दशा के बारे में जो बल दिया गया, उसके कारण नेहरू की कृषक भारत के बारे में चेतना और अधिक मज़बूत हुई। दलितों के प्रति सहानुभूमि की इस भावना के फलस्वरूप ही नेहरू बाद में समाजवादी विचारों के समर्थक बने।

गांधीजी ने 1921 में असहयोग आन्दोलन चलाया तथा नेहरू ने इसमें बढ़–चढ़कर भाग लिया। उन्हें गिरफ्तार किया गया और तीन महीनों के पश्चात् छोड़ दिया गया। परन्तु सप्ताहों के पश्चात् फिर गिरफ्तार कर लिया गया। वे दूसरी बार 1923 तक लखनऊ जेल में रहे। यह गांधीजी के सत्याग्रह का नैतिक तथा सदाचारिक पक्ष था, जिसका बहुत से लोगों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। नेहरू ने अहिंसावाद को ही एकमात्र साधन न माना, परन्तु उन्हें विश्वास हो गया था कि भारतीय परम्पराओं की पृष्ठभूमि में इसी नीति का अनुसरण ही उचित है। उन पर गांधीजी के सिद्धान्त 'अच्छे उद्देश्यों के लिए अच्छे साधनों के प्रयोग' का भी गहरा प्रभाव पड़ा।

मार्च 1926 में नेहरू यूरोप चले गए। उनकी एक वर्ष तथा नौ महीनों की यह यात्रा उनके राजनीतिक चिन्तन में एक नया परिवर्तन लाई। वे बहुत से समाजवादियों के सम्पर्क में आए, अतः उनके समाजवाद के प्रति आकर्षण में तीव्रता आई। उन्होंने ब्रुसेल्स में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में दलित राष्ट्रीयताओं के सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन में नेहरू

को यूरोपियन मज़दूर वर्ग के अन्तर्द्वन्द्व का पता चला।

साम्यवाद ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। उन्होंने कहा है, ''अतः मैं सद्भावपूर्ण साम्यवाद की ओर खिंच गया, चाहे इसमें जो भी त्रुटियाँ थीं, परन्तु यह दम्भी भी नहीं था और न ही साम्राज्यवादी था।'' 1927 में वे वहाँ पर आए परिवर्तनों का मूल्यांकन करने के लिए रूस गए। उन्होंने प्रगतिवादी दृष्टिकोण की तथा जेल कर्मचारियों की मनोवृत्ति की प्रशंसा की, परन्तु उन्होंने कहा कि साधारण फौजदारी कानून की मानवीय शर्तें उन राजनीतिक कैदियों पर लागू नहीं की जातीं, जिन्हें रूसी समाज का शत्रु कहते हैं। अतः स्मिथ के अनुसार, ''जो नेहरू दिसम्बर 1927 में भारत लौटा, वह नेहरू राजनीतिक दृष्टि से उस नेहरू से भिन्न था जो इक्कीस महीने पहले यूरोप गया था।'' अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 38 साल की उम्र तक नेहरू ने किसी भी निश्चित विचारधारा का अनुसरण नहीं किया। ''नेहरू के राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान था... समाजवाद ने राष्ट्रवाद के लिए ढाँचा तैयार किया, जिसे पहले अपनाया जा चुका था।'' उनके राष्ट्रवाद को नई दिशा मिली और उन्होंने भारतीय समस्याओं को संसार के विशाल सन्दर्भ में देखा। यहीं से आगे उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक–आर्थिक निर्माण के दो लक्ष्य सामने रखे।

भारत में वापस लौटने के पश्चात् नेहरू ने ट्रेड यूनियन आन्दोलन के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। दिसम्बर 1928 में उन्होंने झरिया द्धबिहार) में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में भाग लिया। उनकी श्रमिकों में सर्वप्रियता इसी से सिद्ध हो जाती है कि उन्हें ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया।

1929 में जब उनकी आयु केवल 40 वर्ष थी, उन्हें अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षता द्धजो उनके पिता के पास थी) से सम्मिलित किया गया। अपने पुत्र की उत्तरोत्तर बढ़ती लोकप्रियता की चर्चा करते हुए मोतीलाल ने गांधी को लिखा, ''यदि आप और जवाहर साथ खड़े हो तो इसका कोई महत्त्व नहीं रहता कि कौन आगे और कौन पीछे खड़ा है।'' अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रवाद की त्रुटियों की ओर संकेत किया और कहा कि स्वतन्त्र भारत विश्व–सहयोग को बढ़ावा देगा। आगे चलकर

उन्होंने समाजवादी व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया। 26 जनवरी, 1930 का दिन तरुण नेहरू द्वारा स्वतन्त्रता का दिन घोषित किया गया और स्वतन्त्रता–प्राप्ति तक प्रत्येक वर्ष सारे भारत में इसे स्वतन्त्रता–दिवस के रूप में मनाया जाता रहा। लोगों ने इस ऐतिहासिक दिन की प्रतीक्षा की, "यह भारतीय लोगों का अहरणीय अधिकार है, जैसा कि दूसरे लोगों का भी अधिकार है कि वे स्वतन्त्रता का आनन्द लें और अपनी मेहनत का फल लें और उन्हें जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त हों...अंग्रेजी सरकार ने भारत में, लोगों को केवल स्वतन्त्रता से ही वंचित नहीं किया है अपितु लोगों के शोषण को भी आधार मानकर भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से बर्बाद कर दिया है।"

गांधीजी ने नमक का कानून तोड़ने के लिए तीसरे दशक में अहिंसावादी ढंग से सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया था। इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण नेहरू को अप्रैल 1930 में गिरफ्तार किया गया और उन्हें जनवरी 1931 तक जेल में रखा गया। नेहरू ने कार्यकारिणी समिति को मौलिक अधिकारों तथा आर्थिक नीति के बारे में सावधानी से पास किए गए समाजवादी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने के लिए प्रेरित किया। इनके द्वारा स्वतन्त्र तथा समान समाज की नींव डाली। यह नेहरू का देर का स्वप्न था जो कि उन्नीस साल के पश्चात् स्वतन्त्र भारत के संविधान द्वारा पूरा हुआ। इंगलैंड में गोलमेज सम्मेलनों की असफलता, बंगाल की उथल–पुथल और नये भूमि–सुधार सम्बन्धी आन्दोलन के कारण नेहरू को दोबारा जेल–यात्रा करनी पड़ी।

वे दिसम्बर 1931 से लेकर अगस्त 1933 तक जेल में रहे। इसी समय उन्होंने अपनी प्रसिद्ध रचना 'विश्व–इतिहास की झलक' लिखी। इस पुस्तक में मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने मार्क्स–लेनिन के सिद्धान्तों के अनुरूप पूँजीवाद का विश्लेषण किया और साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की विकसित दशा कहा। साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद असुधार्य हैं। उन्हें अवश्य की समाप्त करना चाहिए और उनके स्थान पर समाजवाद लाना चाहिए। समाजवाद की सफलता के लिए इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप देना होगा। उन्होंने कहा कि सच्चा समाजवादी संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं बन सकता। जेल

में मार्क्स के अध्ययन से उन्हें काफी कुछ नई बातों का पता चला तथा इतिहास के नये अर्थ उनके सामने आए। परन्तु उन्होंने विचारों को कठोरतापूर्ण ढंग से कुचलने, सम्पूर्ण रूप से श्रमिकों के संगठन बनाने, और व्यर्थ की हिंसा का प्रयोग करने, जैसा कि रूस में हो रहा था, को अच्छा न समझा, चाहे उन्होंने साम्यवादियों की हिंसा को पूँजीपतियों की हिंसा की अपेक्षा अच्छा समझा। अपने साम्यवादी झुकावों के बावजूद नेहरू अपने आपको साम्यवादी कहलाने के लिए तैयार न थे।

अगस्त 1933 में उन्हें नैनी की केन्द्रीय जेल से मुक्त कर दिया गया। वहाँ से आकर उन्होंने घर के कामों की सम्भाल की और दो साल के पश्चात् गांधीजी से मुलाकात की। उन्होंने समाजवादी विचारधारा तथा विश्व की स्थिति की ओर लोगों का ध्यान दिलाने के लिए आन्दोलन चलाया। इस समय बढ़ रही साम्प्रदायिकता के कारण उनका मन दुःखी हुआ और उनका ध्यान इस समस्या की ओर खिंच गया। उन्होंने हिन्दू साम्प्रदायिकता जिसका विशेष रूप से हिन्दू महासभा ने प्रदर्शन किया, की कड़ी आलोचना की। उन्होंने इसे प्रतिक्रियावादी शक्ति की संज्ञा दी, जिससे भारत की एकता को कमजोर किया जा रहा था। उन्होंने आरोप लगाया कि 1957 से अंग्रेजों ने हिन्दू–मुस्लिम एकता को तोड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा कि धर्म एक तोड़ने वाली शक्ति है और डाक्टर मुहम्मद को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने कहा, "धर्म ने, जैसा कि भारत में उसे माना जाता है, केवल हमारी कमर को ही नहीं तोड़ा, वरन् चिन्तन की मौलिकता का हनन कर हमारी विचारणा को मूर्खतापूर्ण बना दिया है।"

साढ़े पाँच महीनों की स्वतन्त्रता के पश्चात् उन्हें फिर से फरवरी 1934 में गिरफ्तार करके अलीपुर जेल में भेज दिया गया। उनको पत्नी की बीमारी के कारण सितम्बर 1935 में उन्हे मुक्त किया गया। जनवरी 1936 में वे दूसरी बार अनुपस्थिति में ही कांग्रेस के प्रधान चुने गए। इसके थोड़े समय के पश्चात् उनकी प्यारी पत्नी कमला नेहरू का देहान्त हो गया और नेहरू उदास तथा असहाय वापस भारत लौटे।

कांग्रेस से नेहरू की असहमति

नेहरू जी ने 1933-34 के आस–पास कहा कि कांग्रेस के जो आदर्श थे एवं जिन आदर्शों को आधार बनाकर कांग्रेस की स्थापना की गई थी, आज वह अपने पथ से भटक गई है जो सरकार की बातों में आ गई है एवं उसके साथ प्रत्येक बात में अपनी रजामंदी प्रदर्शित कर रही है। जवाहरलाल पूर्ण रूप से पीछे हट गये। पार्टी के अध्यक्ष वे अब भी थे, लेकिन वे उस संसदीय मंडल के सदस्य नहीं बने, जो मंत्रिमंडलों के कार्य को निर्देशित और समन्वित करने वाला था। उनकी राज्य सरकारों की रचना में कोई खास रूचि नहीं थी, अपने घर के यू.पी. राज्य में भी नहीं। यह बताना इसलिए आवश्यक है, चूँकि अनेक सालों बाद मौलाना आज़ाद ने यह आरोप लगाया था कि यू.पी. में मुस्लिम लीग के नेता, कैबिनेट में दो सीटों के बदले में कांग्रेस से सहकार्य करने को सहमत हो गये थे, किन्तु जवाहरलाल ने इस संख्या को एक कम कर दिया और इस प्रकार से आज़ाद द्वारा जो समझौता किया था उसे रद्द कर दिया। फिर भी तथ्य एकदम दूसरे थे। 1936 में जब जिन्ना ने फिर से मुस्लिम लीग का नेतृत्व ले लिया, तब वे राष्ट्रवादी थे और उनकी इच्छा विदेशी राज्य की मदद करने या उस पर निर्भर होने की बिल्कुल नहीं थी।

उनका विचार था कि गाँधी–पूर्व वाली स्थिति में पहुँचा जाये और हिन्दू और मुस्लिमों के प्रतिनिधि मिलकर एक उच्चवर्गीय राजनीतिज्ञों का संगठन बनायें, जो ब्रिटिशों से और रियायतें ज़बरदस्ती छीने। फिर भी जिन्ना की रणनीति के सफल होने की कहीं कोई आशा नहीं थी। यह तय था कि कांग्रेस, जिसने जनता को कई अभियानों में जागृत और गतिमान बनाया था, और एक विस्तृत राष्ट्रीय मोर्चे की तरह खुद को स्थापित किया था, उसे अब यह मनवाना कि वह प्रथमतः हिंदू संगठन है हम पर थोपने की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी ? खासतौर से जवाहरलाल को, जो कि भारतीय जनता की वृहत बहुसंख्या को, जो गरीबी और भूख की प्रमुख समस्याओं से घिरी हुई थी और उसमें किसी धर्म का प्रश्न नहीं था, उस पर बल देते हुए निहित स्वार्थ वाले वर्ग की निन्दा करते थे, जिन्ना अभिजात धार्मिक मध्ययुगीन और रूढ़िवादी लगते थे। चुनाव के परिणाम आए, और जवाहरलाल और जिन्ना दोनों के लिए अपने–अपने परिणाम निकले। साधारण मतदान–क्षेत्रों में कांग्रेस ने काफी अच्छी विजय हासिल की थी मुस्लिम आरक्षित सीटें 482

थीं कांग्रेस ने 48 उम्मीदवार खड़े किये थे, और उसमें से 26 जीती थीं। इसका तात्पर्य जवाहरलाल के विचार से यह था कि कांग्रेस ने मुसलमानों के मध्य काफ़ी काम नहीं किया था और अब नये 'जन–संपर्क' कार्यक्रम में विशिष्ट प्रयास करना चाहिए। पूरे देश में एक विस्तृत साम्राज्यवाद विरोधी भावना थी, और ऊपर के काफी थोड़े–से लोग छोड़कर जो सामाजिक परिवर्तन नहीं चाहते थे, भारतीय जनसाधारण, कांग्रेस के साथ था। पार्टी ने ग़लती की थी, और ज्यादा मुस्लिम उम्मीदवार खड़े करने चाहिये थे। संप्रदायवाद का भूत गाड़ देने में चुनाव ने काफी सहायता की थी। कांग्रेस को मुस्लिम बौद्धिकों और जनसाधारण में और ज्यादा काम करके प्रत्येक शक्ल और रूप में संप्रदायवाद से भारत को आजाद करना था। जिन्ना का निदान भी ऐसा ही था, लेकिन उन्होंने जो चुनाव से सबक़ लिया वह एकदम विपरीत था। मुस्लिम लीग ने चुनावों के लिए अपनी तैयारी अधिक ठीक तरह से नहीं की थी। उसे मुस्लिम उम्मीदवारों के लिए आरक्षित समस्त सीटों पर लड़ना चाहिए था। कांग्रेस काफी ज़ोरों से जनता की पार्टी बनती जा रही थी, और नयी दिशाओं में बढ़ रही थी। यदि उनकी मुस्लिम जनता तक पहुँच अधिक असरदार हुई, तो जिन्ना और लीग अकेले और ख़ाली लटकते रह जायेंगे।

अतः यदि कांग्रेस को उनको गंभीरता से लेना है, तो मुस्लिमों में सांप्रदायिकता ओर फिरकापरस्ती की भावना बढ़ानी आवश्यक थी। कांग्रेस के 'जनसंपर्क' कार्यक्रम का एक मात्र संभव उत्तर था मुस्लिमों के मज़हबी जोश में उनके आर्थिक हितों को पूर्ण रूप से डुबो देना या भुला देना। तभी जाकर कांग्रेस लीग से बात करने के लिए विवश की जा सकेगी। मुस्लिम अवाम पर इस्लाम का कब्ज़ा और बढ़ाया जाये, जिससे मुस्लिम उच्च और मध्यवर्ग को और नौकरियाँ और सुरक्षा की माँग और तेज़ की जा सके। इस सर्वसाधारण पार्श्वभूमि में यू.पी. की घटनाएँ समझी जा सकती हैं। चुनावों में, कांग्रेस का मुख्य विरोधी दल मुस्लिम लीग नहीं थी अपितु राष्ट्रीय कृषक पार्टी थी, जो कि जमींदारों का संगठन था जिसे विदेशी सरकार ने कांग्रेस के महत्व को चुनौती देने और किसानों में कांग्रेस का प्रभाव कम करने हेतु बनाया था। अतः कांग्रेस और लीग एक अनौपचारिक, अनबोले समझौते पर पहुँचे थे कि इस प्रदेश में जहाँ तक हो एक दूसरे से न लड़कर बल्कि दोनों

मिलकर सरकार और उनके पिट्ठुओं तथा कठपुतलियों को हरायें। जिन्ना चुनावों के उपरांत ज़िला कांग्रेस के साथ मिली–जुली सरकार बनाने के समर्थन में हो गये। अब जब कि कांग्रेस सत्ता स्वीकार करने के लिए राज़ी थी, यदि कुछ मुद्दों पर वह संतुष्ट हो जाये, तो जिन्ना के हिसाब से दोनों पार्टियों में कोई बड़ा अन्तर ही नहीं था। वे इस हद तक सही थे कि अब कांग्रेस वह क्रांतिकारी संगठन नहीं रही थी और इस मामले में उसमें और लीग में किसी प्रकार का अंतर नहीं था। किन्तु मुख्य चीज तो बाक़ी ही थी कि लीग के साथ सहयोग का अर्थ था कि कांग्रेस एक हिंदू संगठन है यह मान लिया जाता और समस्त भारतीयों की तरफ से बोलने का अधिकार खो दिया जाता। कांग्रेस यह बात मानने को तैयार नहीं थी। जब जून के अंत में यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस सत्ता ग्रहण करेगी, यू.पी. में लीग के नेता खलिकुज़्ज़मान और नवाब इस्माईल ख़ाँ ने परामर्श दिया कि एक मिली–जुली सरकार बनायी जाये। खलिकुज़्ज़मान तो एक कदम और आगे गये और उन्होंने आज़ाद से कहा कि वे कोई भी शर्त मानने को तैयार हैं यदि उन्हें और ईसमाईल ख़ाँ को मंत्रिमंडल में ले लिया जाये।

जवाहरलाल को खास उत्साह नहीं था। चूँकि अगर कांग्रेस मंत्रिमंडल भूमि–सुधार का कोई कार्यक्रम उठाये तो वे यह नहीं चाहते थे कि लीग से संधि की वजह से यह सुधार का कार्यक्रम छोड़ दिया जाये, चूँकि लीग जमींदारी स्वार्थों से प्रभावित थी। किन्तु आज़ाद इस बात से बहुत आकर्षित हुए थे कि यू.पी. में लीग अलग गुट की तरह नहीं सिर उठा पायेगी। उन्होंने जवाहरलाल, पंत, कृपलानी और नरेंद्र देव से विचार किया और यह तय किया गया कि खलीकुज़्ज़मान और नवाब इस्माइल ख़ाँ को मंत्री–पद दिया जाये, जिसके बदले में वे कांग्रेस का कार्यक्रम स्वीकार करें और मुस्लिम लीग गुट और यू.पी. संसदीय मंडल को खत्म करें। सारे मुस्लिम लीग विधायक कांग्रेस के पूरे सदस्य बनें और उसके अनुशासन का पूरी तरह से पालन करें। कोई मुस्लिम लीग उम्मीदवार उपचुनावों में न खड़ा किया जाये, और वे अपने अधिकार छोड़ दें और अब यदि कांग्रेस वैसा तय करे तो वे अपने स्थान छोड़ने को राज़ी हों। यह सब मानने से जिन्ना ने इन्कार किया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि जवाहरलाल लीग के साथ इस अवसरवादी, सिद्धांतहीन सौदेबाज़ियों से कभी भी खुश नहीं थे। यू.पी. में लीग अब एक

उच्चवर्गीयों का संकीर्ण संगठन बन चुका था, उन्होंने आज़ाद, पंत और रफ़ी किदवई पर यह छोड़ दिया कि जो उन्हें अच्छा लगे, करें। यह बात तय है कि मंत्रिमंडल में लीग के एक या दो प्रतिनिधियों के प्रश्न पर बातचीत नहीं खत्म हुई थी, और जवाहरलाल ने कहीं भी यह अकेले आग्रह नहीं किया कि दो के बदले एक ही लीग हो। अगर मान लें कि यह बातचीत सफल भी हो जाती, तो उससे दूर तक कांग्रेस और देश को फ़ायदा ही होता यह बात भी बहस–तलब है। किसी भी प्रकार के समझौता फलतः यह मान लेना कि राजनीति उच्चवर्गीय गुटों की मिलीभगत का मामला था, जो असांप्रदायिक तरीके से सोचते थे उन सब मुसलमानों के साथ धोखा होता, और जवाहरलाल जिस आर्थिक कार्यक्रम पर इतना ज़ोर देते थे उसे छोड़ देने जैसा था। ऐसा समझौता अधिक समय तक नहीं चल सकता था, चूँकि लीग के कोई सुदूरगामी आर्थिक या सामाजिक उद्देश्य नहीं थे। जहाँ तक उनके नेताओं का प्रश्न था उन्हें तो केवल सत्ता में कुर्सी का लालच था, और यह पूरा हो जाने पर दोनों में दरार और बढ़ती जाती। असल में सब बातचीत पूर्ण रूप से खोखली और नक़ली थी, चूँकि जब आज़ाद और खलीकुज़्ज़मान की बातचीत चल रही थी। तब एक उप–चुनाव मुस्लिम मतक्षेत्र में लड़ा जा रहा था, जहाँ जिन्ना की नई चाल पूरी तरह खुलकर खेली जा रही थी।

कांग्रेस और लीग दोनों ने अपने उम्मीदवार खड़े किये थे, इसे एक चुनाव का नमूना बनाकर अखाड़े में उतारा जा रहा था। पूरे दो दिन जवाहरलाल ने इस मत–क्षेत्र मे बिताये, हमेशा की तरह आर्थिक और राष्ट्रीय हितों की बात करते हुए, जब कि मुस्लिम लीग ने अपना नारा दिया 'इस्लाम ख़तरे में है'। अब भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ प्रारंभ हो रहा था, जिसमें सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने वाला और समस्त संबंधों को और कठोर बनाने वाला था। प्रथम बार जवाहरलाल के विरोध में जुलूस निकाला गया। अपने मतक्षेत्र में एक सभा में जाते हुए, उनकी मोटर पर पत्थर फेंके गये। पहले कांग्रेसी मत्रिमंडलों के संगठन के पश्चात, आसाम तथा उत्तर–पश्चित सीमांत पर पार्टी ने सरकार बनाई, और ये सब मंत्रिमंडलों ने कई प्रमुख उपलब्धियाँ हासिल कीं। लेकिन कुल मिलाकर, कांग्रेस मंत्रिमंडलों का पूरा काम, जैसे जवाहरलाल ने जल्दी से पहचान लिया, यद्यपि प्रति–क्रांतिवादी नहीं था तो गतिहीन अवश्य था।

जवाहरलाल का सामान्य रुख़ जो वामपक्ष की घोर निराशा का कारण बना, केवल सार्वजनिक रूप से मंत्रिमंडलों के लिए निष्ठापूर्वक समर्थन में खड़े होना और छोटी–छोटी और तुनुकमिज़ाज आलोचनाओं से उन्हें यह कहकर बचाना कि हम अपने खुद के खिलफ़ आंदोलन नहीं कर सकते"। लेकिन उन्होंने मंत्रिमंडलों के प्रति मित्रता का वातावरण विकसित करने का लगातार प्रयास किया, उन्होंने यह भी साफ़ कर दिया था निजी तौर पर कि उनके समझौतावाद और हाँ में हाँ मिलाने की वृत्ति उन्हें कितनी नापसंद थी। भारत का समस्त वातावरण उनके लिए आश्चर्यजनक लग रहा था। यह मंत्रिमंडलों की आधी जी–हुजूरी के काम, कुर्सियों के लिए झगड़े ग्राम–संबंधी समस्याओं को साहसपूर्वक समाधान करने की अरूचि, और यह सलाह कि आंतरिक सुरक्षा रखने हेतु ब्रिटिश फ़ौजें भरसक आवश्यक होंगी, कांग्रेस सदस्यों का केंद्रीय असेम्बली द्वारा चीन को भारतीय सेना भेजने का समर्थन। 1935 के एक्ट में जवाहरलाल की प्रमुख आपत्ति जिस प्रकार फ़ेडरेशन की कल्पना की गयी थी उसमें सामंती और तानाशाही तत्त्व जो भारतीय रियासतों में थे उन्हें लेने पर थी, और वे चाहते थे कि रियासतों में जो जनप्रतिनिधि आंदोलन थे उनका कांग्रेस समर्थन करे।

परंतु गाँधी ने खुद इस पर आपत्ति की, और सभी के समक्ष जवाहरलाल को डाँटा कि मैसूर रियासत की सरकार की आलोचना करने वाले प्रस्ताव को ए.आई. सी.सी. में क्यों आज्ञा दी। जवाहरलाल ने एक और तीखी प्रतिक्रिया का पत्र लिखा लेकिन उसे प्रकाशित नहीं किया। इस सबसे आपस में मतभेद बढ़ा। अतः उन्होंने प्रतिदिन घरेलू राजनीतिक क्रियाकलापों में अपने को पीछे खींच लिया और सुदूर आसाम या सीमांत के क्षेत्रों में जाने में उन्हें सुख मिलने लगा। कभी वे भाषा के सवाल पर एक लंबा पत्रक निकालते या अपने आप में छिपी अधिनायकवादी प्रवृत्तियों पर गुमनाम आक्रमण करने में समय बिताते। जवाहरलाल ज्यादातर सरल रूप से भारत के बाहर की घटनाओं पर सोचते हुए पूर्ण रूप से अपने रंग में होते। दुनिया में बढ़ते हुए तनाव उनके विचारों को और मजबूती दे रहे थे। फ़ासीवाद और साम्राज्यवाद सगे भाई थे और भारत में स्वतंत्रता संग्राम दुनिया की सर्वसामान्य शक्तियों के मुक़ाबलों का एक भाग था।

शांति के जैसा स्वतंत्रता भी अखंड थी। हमारे संग्राम की सीमाएँ हमारे

देश में ही नहीं हैं। वे स्पेन और चीन में भी हैं। उनका अपना भाग्य भारत में था, और वहीं वह सबसे प्रभावशाली तरीके से काम कर सकते हैं, लेकिन वे सदैव वृहत्तर विश्व–प्रश्नों के परिप्रेक्ष्य में सोचना सिखते। इस प्रकार की दिलचस्पी और प्रतिबद्धता से भारतीय जनता, अंतर्राष्ट्रीय मामलों में, चाहे जितना छोटी सी ही क्यों न हो, भूमिका अदा कर सकती और विश्व की परिषदों में उनकी भी आवाज़ पहुँच सकती थी।

विश्व के प्रश्नों में इस गहरी प्रतिबद्धता के साथ, यह जवाहरलाल के लिए स्वाभाविक था कि 1938 के ग्रीष्म में वे एक विदेश यात्रा की बात सोचें। उनकी माँ का एक लंबी बीमारी के पश्चात 1938 के गर्मी में देहांत हो गया। उनकी बेटी आक्सफ़ोर्ड में थी। अब भारत में उन्हें रोक रखने वाला कोई घरेलू गहरा आकर्षण–बिंदु नहीं था। राष्ट्रीय आंदोलन तो उल्टी चाल चल रहा था, और हरिपुरा में सुभाष बोस ने कांग्रेस की अध्यक्षता ग्रहण की थी।

जवाहरलाल से कांग्रेस का जनरल सेक्रेटरी बनने के लिए काफी आग्रह किया गया पर उन्होंने मना किया। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि वे कार्यकारिणी समिति से पृथक होना चाहते हैं। उनसे आग्रह किया गया कि वे ऐसा न करें, लेकिन उनकी रुचि कहीं और थी, और जून में, भारत से खुशी से पीठ फेरकर वे जहाज से वहाँ चले गये जहाँ उनके विचार से यूरोप के क्रियाकलापों का जीवन्त केन्द्र था। यूरोप के संकट के प्रति उनका अपना रुख़ साफ़ था। उन्हें लगता था कि तानाशाहों को अपनी आक्रमकता से रोकना होगा, और विश्व युद्ध अब अनिवार्य है, लेकिन भारत ऐसे युद्ध में किसी भी स्थिति में मदद नहीं देगा, चाहे वे फ़ासीवादी शक्तियों के खिलाफ़ ही क्यों न हो। विदेश में उनके मित्रों से ज्यादा जवाहरलाल को तुष्टीकरण की नीति आश्चर्य का विषय नहीं था, चूँकि भारत ब्रिटिश सरकार का लोकतंत्रात्मक चेहरे से ज्यादा साम्राज्यवादी चेहरा देखता था। हालाँकि रूस में चल रहे मुक़दमों से वे भी चकित और चिंतित थे। किसी भी अन्य वामपंथी सहानुभूति रखने वाले की तरह। लेकिन उन्होंने उसकी जाँच की माँग की अपील पर अपने हस्ताक्षर देने से इन्कार कर दिया। यूरोप जाते हुए जवाहरलाल नहास पाशा से और पार्टी के अन्य नेताओं से अल–सिकंदरिया में मिले, और फिर इटली में उतरकर, वे सीधे स्पेन की यात्रा पर चले गये,

रिपब्लिकल सरकार के अतिथि बनकर। बार्सिलोना में, एब्रो की लड़ाई से थोड़ा पहले वे पाँच दिन रहे।

उन्होंने हवाई हमलों का पहला अनुभव किया, सैनिक मोर्चे देखे और जनरल लिस्टर के आकर्षक और आत्मविश्वासी व्यक्तित्व से वे मुग्ध हुए। उन्हें लगा कि रिपब्लिक की फ़ौजों को जरुर सफलता मिलेगी, चूँकि वह युद्ध के तनाव के मध्य बनी अनौपचारिक मित्रता और समर्पण पर आधारित फ़ौज थी। वे विद्रोही फ़ौजों के व्यावसायिकों और विशेषज्ञों पर विजय प्राप्त करेंगे, चाहे उन्हें जर्मनी और इटली का समर्थन प्राप्त हो और वे भारी शस्त्रास्त्रों ओर विमान–कौशल में कहीं ज्यादा शक्तिशाली हों। केवल एक शर्त थी कि ब्रिटिश और नंस सरकारें इस रिपब्लिक को रसद और असला पहुँचाना बंद कर दें। अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड की ब्रिटिश और अमेरिकी बटालियनों के साथ एक दोपहर बिताने पर उनमें यह भावना जगी कि वे भी उसमें सम्मिलित हो जाते। मुझमें कुछ ऐसी चाह उठी कि इस बिल्कुल अप्रिय लगने वाली पहाड़ी के बग़ल में मैं भी उनके साथ शामिल होकर वहीं रुक जाऊँ, जहाँ इतना मानवीय साहस, जीवन का इतना सारा मूल्यवान संकल्प जमा था।

प्रेसिडेंट अजना और विदेश मंत्री अल्वारेज़ देल वायो और 'ला पॅसोनेरिया के साथ भेंट के बाद यह यात्रा समाप्त हुई। इंग्लैण्ड में इस समय, जवाहरलाल, अपनी आत्मकथा के कारण और कांग्रेस की चुनावों में सफलता की वजह से पहले से भी ज्यादा सुपरिचित व्यक्तित्व हो गये थे। भारत विश्व संकट में क्या कर सकता था, उसकी एक बहुत भारी नकारात्मक महत्ता थी। जो भी हो, उस सब महत्व के कारण अब जवाहरलाल में ज्यादा दिलचस्पी बढ़ रही थी, ऐसा उन्हें लगा। लेकिन तथ्य यह था कि अब उनका विश्व में महत्व काफी बढ़ चुका था। वह भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि के नाते स्वीकृत हो चुके थे, ओर वे विश्व–मत की मुख्य धारा में अब आ गये थे।

जवाहरलाल पहले ब्रिटेन में आये थे तब जिन लोगों से मिलने को राज़ी नहीं थे उन राजपुरुषों से इस बार मिलने को राज़ी हुए। हेलिफ़ैक्स और जेटलैंड के साथ बातचीत करने के पश्चात वे लिनलिथगो से भी मिले, जो छुट्टी में इंग्लैंड आये थे। बातचीत में–सर्वसाधारण बातों पर चर्चा हुई।

भारतीय राजनीति की कोई विस्तृत चर्चा नहीं हुई। लेकिन जैसे जवाहरलाल ने बाद में लिखा, उन्होंने तिनलिथगो से तब कहा, भारत के स्वतंत्र होने से पहले मैंने इंग्लैण्ड को बाहर दस बरस दिये। मैं इतना बाहर कभी नहीं था। वायसराय इतना ही उत्तर दे सके कि, जब उन्होंने एक दूसरे से विदा ली, तो दोनों के बीच में काफी गहरी खाई थी, और उसके आर–पार वे एक दूसरे को देख सकते थे। लंदन से जवाहरलाल पेरिस गये। निहत्थे नागरिक आबादियों के ऊपर बमबारी के विरुद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाषण देने के लिए। जवाहरलाल को नाज़ी सरकार ने इस उम्मीद से अनौपचारिक रूप से आमंत्रित किया कि वे जर्मन में उनके अतिथि बनकर आयें। दरअसल जवाहरलाल ने दो दिन म्युनिख में निजी तौर पर एक सैलानी के जैसा बिताये, पर किसी भी नाज़ी अधिकारी से वे नहीं मिले। वे वहाँ से प्राग गये तथा डॉ. रिपका से और कम्युनिस्ट नेता क्लेमेंटिस से मिले और जर्मन डमोक्रेटिक पार्टी के बेर्ज़ेल जैक्शन से मिले, सीमा क्षेत्रों की भेंट दी। उनकी समस्त सहानुभूतियाँ चेक सरकार के साथ उनकी हिटलर के प्रतिरोध में थीं। और ब्रिटिश सरकार ने अपनी वर्ग–सहानुभूति की वजह से हिटलर को जो बढ़ावा दिया, वे जो फ़ासीवाद की तरफ झुके थे। इससे जवाहरलाल को काफी घृणा हुई। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जब युद्ध आयेगा, जो कि अब आने ही वाला था, भारतीय जनता ब्रिटिश सरकार को, जिस पर उन्हें थोड़ा भी विश्वास नहीं था, उनकी तरफ से कोई मदद नहीं लेने देगी। भारत अपना सारा बल प्रजातंत्र ओर स्वतंत्रता के पक्ष में लगायेगा। लेकिन ब्रिटेन पहले अपनी साफ़ नीयत साबित करे, भारत को साम्राज्य से स्वतंत्र करे। अपने मत को वज़न देने के लिए, उन्होंने कार्यकारिणी समिति को प्रेरित किया कि वे नाज़ी आक्रमण के प्रयत्न की निंदा करने का प्रस्ताव पारित करे और ज़ोर से कहे कि युद्ध छिड़ने पर भारत को अपनी जनता के फैसले से प्रतिबद्ध रहना चाहिए। सितंबर में, जब युद्ध संकट बहुत गहराया तब जवाहरलाल जेनेवा में थे, और उस तनाव में फँस गये। उन्हें लंदन में वापस आकर एक गैस–मास्क का उपयोग करना पड़ा, जिसे कालांतर में उन्होंने इलाहाबाद म्युजियम को दे दिया। उन्होंने नेविल चेंबरलेन को सुना और उससे वे काफी दुखी हुए। जब चेंबरलेन द्वारा यह घोषित किया कि वे दूसरे दिन हिटलर और मुसोलिनी से मिलने म्युनिख में हवाई जहाज़ से जा रहे थे। वे हाउस

ऑफ़ कॉमन्स में उपस्थित थे।

जवाहरलाल ने सर्वसाधारण जनता की मदद में हिस्सा लिया कि युद्ध अब स्थगित हो गया। लेकिन उन्हें कोई भ्रम नहीं था। ब्रिटिश सरकार की वृत्ति के बारे में, चेकोस्लोवाकिया को छोड़ देने और रूस को अकेला कर देने की, उनकी चिंता थी उनकी हार से उतना डर नहीं था जितना जीत से, चूँकि इस तरह से सच्चे लोकतंत्र की विजय होती। इंग्लैंड और फ्रांस की कमज़ोरी थी, उनका साम्राज्यवाद, और इस तरह से साम्राज्यवाद का अंत आवश्यक था। व्यापक अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी।

सामूहिक सुरक्षा तब तक प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकती थी, जब तक उसका आधार साम्राज्यवादी था। रूस से जाने के लिए अनुमति–पत्र ;वीसाद्ध समय से न मिलने से जिससे उनकी एक पुरानी इच्छा पूरी होती कि मध्य एशिया के गणतंत्रों में वे भूमि–पथ से यात्रा करें जवाहरलाल वर्ष के अंत में भारत लौटे और पुनः वे घरेलू राजनीति में खिंच गये। ब्रिटेन में किसी ने भी, जब वे भारत की चर्चा करते, हिंदू–मुस्लिम संबंधों का वर्णन नहीं किया था या उस समस्या को कोई ज्यादा महत्व दिया था। लेकिन भारत में उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती थी। कांग्रेस का लीग के साथ मिलकर सत्ता ग्रहण न करना जिन्ना को विश्वासघात जैसा लगा जो अहंकारपूर्ण बातों से भरा था, और तब से उनकी नीति स्पष्ट थी। कांग्रेस ने सत्ता ग्रहण की है यह एक सहज शिकार बन गया। उन्होंने कहा कि कांग्रेस एक हिन्दू फासिस्ट संस्था है, जो कुछ मुस्लिम 'गद्दारों' की सहायता से, मुस्लिम अल्पसंख्यकों को समाप्त करने पर तुली है। जब जवाहरलाल और अन्य कांग्रेस नेताओं ने बार–बार ऐसे निश्चित उदाहरण माँगे, तब जिन्ना, जो उस बाधक रणनीति की कुशलता को नकारने एवं टालने की चतुरता दिखाने लगे थे जो अगले दस सालों तक भारतीय राजनीति पर छाई रही, बार–बार मना करने लगे। कांग्रेस अब विस्मित थी कि वह क्या करे ?

जवाहरलाल यहाँ तक उनकी माँग मानने हेतु तैयार थे कि प्रदेशों के पुनर्विभाजन की किसी ऐसी योजना पर वे विचार करेंगे, जो प्रमुख समूहों और अल्पसंख्यकों को ऐसे भू–भाग दे दें जिनसे उन्हें ऐसा लगे कि

आत्म–विकास के पूरे मौके मिल रहे हैं, जिसके बगैर सृजनशील जीवन संभव नहीं है। उन्हें 'सांन्रइरसिक प्रदेश' शब्द पसंद नहीं था। लेकिन उनकी योजना में धर्म के आधार पर भू–क्षेत्रों का पुनर्विभाजन के बीज मौजूद थे। लेकिन जिन्ना की मुख्य माँगों को मानना, इस बात को मानना था कि कांग्रेस मुस्लिम जनता तक प्रचार करने न जाये और मुस्लिम मत की लीग ही प्रतिनिधि संस्था है, और यह बात कांग्रेस के लिए सोच–विचार से परे थी। फिर भी जब तक कांग्रेस सत्ता में थी, वह एकपक्षीयता के असिद्ध आक्षेपों की उपेक्षा भी नहीं कर सकती थी! इस द्वन्द्व में से एक मार्ग था लीग के नेतृत्व के सिर पर से आर्थिक परिवर्तन के कार्यक्रम को लेकर मुस्लिम किसानों तक पहुँचाना। लेकिन यहाँ भी जवाहरलाल को लगा कि कांग्रेस मंत्रिमंडल काफी तेज़ी से प्रगति नहीं कर रहा था, मुस्लिम जनता को कांग्रेस में ले आने के प्रयासों में सांप्रदायिक विचार सफल रूप से विघ्न पहुँचाता था।

दूसरा पर्याय यह था कि लीग के इस निश्चय का लाभ उठाया जाये कि उसका आधार व्यापक बनाया जाये और उसके नेताओं के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण और मुस्लिम जनसाधारण की जरुरतों के बीच संघर्ष को और तीव्र किया जाये। इसलिए जवाहरलाल ने मुस्लिम जनसभाएँ, जिनमें क़र्ज़ से छूट और मुस्लिम किसानों के पक्ष में ताल्लुक़ेदारी पद्धति को ख़त्म करने की माँग पेश की जाती थीं, बुलाने पर ज़ोर दिया। लेकिन ये लंबी अवधि की याजनाएँ थीं जो अति–सांप्रदायिक प्रचार और हिंसा के संदर्भ में कोई गति नहीं पकड़ सकीं। सत्ता से कमज़ोर और ऐसे शत्रु द्वारा बार–बार मार खाने पर जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था, कांग्रेस के भीतर इस समय सबसे ज़ोरों से अंतर्गृह–कलह शुरु हो गया था। सुभाष बोस, कई वर्षों के कारावास और निर्वासन के पश्चात 1938 में जवाहरलाल के बाद कांग्रेस के अध्यक्ष बने। 1939 में जब उन्होंने घोषित किया कि वे फिर से अध्यक्ष पद के लिए खड़े होंगे, कांग्रेस के दक्षिण पंथी को गाँधी ने प्रोत्साहन दिया कि वे अपना उम्मीदवार खड़ा करें। लेकिन बोस निश्चित रूप से जीत गये, और गाँधी ने पट्टाभि की हार को अपनी हार माना। यह देखकर कि बोस चाहे चुनाव जीते हों, कांग्रेस का बहुसंख्यक वर्ग अब भी गाँधी के सौम्य नेतृत्व का समर्थन करता है। बारह प्रमुख गाँधी–समर्थकों के कार्यकारिणी समिति से त्याग पत्र

दिया और त्रिपुरी में यह प्रस्ताव पारित किया कि बोस अपनी नयी समिति नामित करें। गाँधी से सलाह करके और उनका परामर्श मानते हुए गाँधी ने सहकार्य करने से मना किया। नतीजा यह हुआ कि बोस को अध्यक्षता से त्याग पत्र देना पड़ा। तब एक–एक कर, सुभाष का निष्कासन, उनके द्वारा नयी पार्टी बनाना, कांग्रेस से अलग अकेला रास्ता शुरु हुआ। इस समस्त घटनाक्रम में जवाहरलाल का रुख़ व्यक्तिवादी रहा और दोनों पक्षों को वह पसंद नहीं था। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि बोस चुनाव जीत गये फिर भी उनको इस प्रकार से निकाल बाहर किया जा रहा था, पर वे बोस का भी भरपूर समर्थन नहीं कर पा रहे थे। अतः कार्यकारिणी समिति के बारह सदस्यों के त्यागपत्र के पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर करना अस्वीकार किया, पर स्वयं अपनी मर्जी से त्यागपत्र दे दिया।

यद्यपि उनके कुछ वक्तव्य बोस की आलोचना करने वाले थे, त्रिपुरी में वे एकदम चुप रहे। वे निजी तौर पर समझौता कराना चाहते थे और बोस से कहते रहे कि वे त्यागपत्र न दें। जब बोस ने बहुत अनुरोध किया तो जवाहरलाल ने बोस के रुख़ के प्रति अपनी नापसंदगी स्पष्ट की, और पुनर्गठित कार्यकारिणी समिति में आने से भी मना कर दिया जब तक कि महायुद्ध छिड़ जाने से समस्त परिस्थितियाँ ही नहीं बदल गयीं। इस तरह की प्रेम और अप्रेम की अस्पष्टता बोस नहीं समझ सके, गाँधी और लोगों के खुले विरोध से ज्यादा यह बात उन्हें कांग्रेस से बाहर ले गयी, वे कभी इस बात को माफ़ नहीं कर सके। जवाहरलाल ने बोस को नष्ट होने दिया, यह कहना तो एकदम अतिश्योक्ति–भरी अर्थहीन बात होगी। असल में बोस ने स्वयं को नष्ट किया। उन्होंने जिस तरह का रुख़ अपनाया उसकी तार्किक परिणति थी उन्हें आंदोलन के बाहर करना, और फिर लौटने के लिए कोई राह नहीं बची थी। लेकिन जवाहरलाल की ऊपर से दिखाई देने वाली अस्थिर मनःस्थिति का भी स्पष्टीकरण अवश्य मिलना चाहिए। बोस और गाँधी के मध्य लड़ाई, जैसा बोस उसे देखते और दिखाना चाहते थे, वाम और दक्षिण के बीच में सीधी लड़ाई नहीं थी। वे जर्मनी, इटली, जापान की निंदा करने से हिचकिचाते थे और दिसंबर, 1938 में वे बंबई में जर्मन राजदूत से मिले थे। जवाहरलाल की बोस ने आलोचना की थी कि वे चीन और स्पेन जैसे डूबते हुए विषयों को समर्थन दे रहे थे और यूरोप से जो यहूदी शरणार्थी

आ रहे थे उनके स्वागत के लिए विशेष उत्साही ही नहीं थे। असल में जवाहरलाल को राष्ट्रीयता से ज्यादा किसी व्यापक प्रतिबद्धता में कमज़ोरी की आशंका लगती थी जो सच थी, और बोस के इस संकीर्ण क्षेत्र में भी फैसले पर किसी को विश्वास नहीं हो सकता था। जब युद्ध छिड़ गया तो जवाहरलाल बोस का पक्ष लेंगे ऐसी आशा नहीं की जा सकती थी। वे कांग्रेस को एक व्यापक साम्राज्यवाद–विरोधी मोर्चा मानते थे, और कभी भी गुटों के अर्थ में बराबर विचार वालों की समितियों में उनका विश्वास नहीं था। उनकी कार्यकारिणी समिति की कल्पना थी कि अलग-अलग विचारों के लोग, परस्पर विश्वास के साथ एक साथ काम करें। इसलिए बोस ने जब अपने साथियों पर इल्ज़ाम लगाया तो वह जवाहरलाल को एकदम अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उसका विरोध किया। लेकिन उसके साथ ही बोस को हटाने के यत्न भी उन्हें नापसन्द थे और नतीजा यह हुआ कि उन्होंने अपने को किसी भी एक पक्ष से जोड़ा नहीं। ऐसे वातावरण में जवाहरलाल को दो बातों ने संतोष दिया। वे अखिल भारतीय देशी रियसतों के प्रजामंडलों के सम्मेलन के अध्यक्ष बने। इस नाते वे अलग-अलग रियासतों में चलने वाले आंदोलनों को समेकित करने में जुट गये, और उसमें पूरे भारत को भी जोड़ने की योजना बनाने में लगे।

ब्रिटिशों के विरुद्ध संघर्ष में यह एक महत्वपूर्ण विषय बन सकेगा, कांग्रेस की लड़ाई तथा लीग के साथ मतभूद से उठकर, फेडरेशन' जो 1935 के 'एक्ट' में सोचा गया था, उसे पूर्ण रूप से अस्वीकार कर बिल्कुल ही कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र तक पहुँचाने वाला था। यद्यपि वे बहुत कुछ बाधित थे गाँधी के रजवाड़ों के बहुत दूसरे तरीके से ब्रिटिशों की मध्यस्थता स्वीकार करने की प्रार्थना से, फिर भी यह एक कार्य–क्षेत्र था जिसका जवाहरलाल ने स्वागत किया। दूसरा उनका प्रिय कार्य था राष्ट्रीय योजना। योजनाबद्ध अर्थ–रचना, यूरोप में भी तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध के अंत में, अब भी स्पष्ट और अपरिभाषित थी। लेकिन यह सोचा जाता था कि सिर्फ सोवियत रूस में सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय योजना थी, जिसमें पूरी अर्थव्यवस्था मानवीय कल्याण के लिए बड़े प्रमाण पर उत्पादन से जोड़ गयी थी, और वह मुनाफ़े के इरादे से या केवल युद्ध में कौशल्य बढ़ाने के विचार से प्रेरित थी। दूसरे शब्दों में, योजना समाजवाद की एक भाग थी। जवाहरलाल इससे

सहमत थे। वे विश्वास करते थे कि भारत को सोवियत आदर्श से काफी कुछ सीखने लायक़ था। लेकिन उन पाठों को एक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था पर घटित करना ओर ऐसे एक देश में योजना का विचार करना जो कि अभी स्वतंत्र नहीं था एक साहसपूर्ण और नयी बात प्रारंभ करने वाले मन का लक्षण था।

उन्हें इस प्रकार का काम, सिर्फ समय तक चलनेवाला, साहसपूर्ण और समाजवाद तक पहुँचाने वाले के रूप में उत्प्रेरित करता था। कांग्रेस प्रदेशों के उद्योग–मंत्रियों की एक बैठक में यह तय किया गया कि एक राष्ट्रीय योजना समिति निर्मित की जाये, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल हों। उन्होंने यह काम खुशी से उठा लिया और एक समिति उन्होंने बनायी जिसमें केवल कांग्रेस जन नहीं थे, अपितु वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, उद्योगपति और व्यावसायिक भी थे। एक लंबी प्रश्न तालिका बनायी गयी और विस्तृत रूप से वितरित की गयीं और तीस उपसमितियाँ बनायी गयीं, जो पृथक-पृथक विशेष विषयों पर ब्योरेवार सिफ़ारिशें सुझाने वाली थीं। जवाहरलाल का अपना योगदान, इन योजना–निर्माताओं के विविध प्रकार के सदस्यों की भीड़ को एकमेल रखने के अतिरिक्त भारत में योजना के सामान्य उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करना था। उनके लिए योजना आवश्यक रूप से लोकतांत्रिक ढाँचे में समाजवादी अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई थी, लेकिन वे लोगों को समाजवादी पक्ष पर जोर देकर डराकर भगा देना भी नहीं चाहते थे।

इसलिए कांग्रेस ने योजना अपनायी थी कि किसी भी जीवंत राष्ट्रीय आंदोलन को राष्ट्रीय जीवन के हर पक्षों में दिलचस्पी लेनी चाहिए, लेकिन कांग्रेस स्वयं समाजवाद से प्रतिबद्ध नहीं थी। अतः जवाहरलाल यह आशा करते थे कि अपनी पार्टी और भारतीय मध्यवित्त वर्ग को, उसके अनजाने, समाजवाद की तरफ ले जाये। मध्यवित्त वर्गों को छोड़कर या नष्ट कर कोई भी वर्गविग्रह जल्दी से अपरिपक्व रूप में ले आने का अर्थ था अराजकता और कोई भी चीज़ निर्मित करने की एक प्रलंबित अस्थिरता पैदा करना। कांग्रेस का आदर्श है भारत में स्वतंत्र लोकतांत्रिक राज्य की स्थापना। ऐसे स्वतंत्र लोकतांत्रिक राज्य का अर्थ है एक समता पर आधारित समाज जिसमें प्रत्येक सदस्य को आत्माभिव्यक्ति और आत्म–संतोष के समान अवसर मिल

सके, और हर सदस्य को समुचित निम्नतम सुसंस्कृत जीवन–मान की आश्वस्ति जिससे कि वह इस समान अवसर को एक यथार्थ रूप दे सके। हमारी योजना की यह पार्श्वभूमि या नींव होनी चाहिए। एक वर्ष पश्चात वे और भी स्पष्टभाषिता से स्वीकार करने लगे कि हमारा प्रमुख उद्देश्य है राष्ट्रीय जीवन को उसके समस्त रूपों में राष्ट्रीय जीवन का समाजीकरण करना। निजी उद्योग एकदम नहीं रहेंगे ऐसा विचार नहीं था लेकिन उन्हें पूर्ण रूप से नियंत्रित करना होगा और याजना से संबद्ध होगा। कांग्रेस का कुटीर–उद्योग पर बल वृहत पैमानें पर उद्योगों को नकारना नहीं था और कोई भी योजना हो उसे दोनों की व्यवस्था करनी होगी, और कांग्रेस धीरे–धीरे दूसरी चीज़ का महत्व समझती जायेगी। गाँधीवादी दृष्टिकोण कि यंत्र मात्र अपने आप में पाप है, वे नहीं मानते थे, और इसलिए उन्होंने अखिल भारतीय कताई–बुनाई संघ की कार्यकारिणी से इस्तीफ़ा दे दिया। योजना उसके पूरे आयाम में, स्वतंत्र भारत के लिए होनी चाहिए। फिर भी राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के क़दम यथाशीघ्र से उठाने चाहिए, राष्ट्रीय आय अग्रिम दस वर्षों में दुगुनी और तिगुनी बढ़ानी चाहिए, भारतीय जनता का जीवनस्तर उठाना चाहिए और नये स्वार्थों के निर्माण को रोकना चाहिए।

पोषक आहार, बेहतर कपड़े और मकान प्रत्येक भारतीय को अग्रिम वर्षों में मुहैया हों इस पर बल देना चाहिए। इस तरह एक और फ़ायदा होगा कि योजकों के मध्य में जो उद्देश्य था, आत्म–निर्भरता, जिसके लिए योजना, अन्य लाभों के अलावा, ब्रिटिशों के भारत छोड़ने से पूर्व ही आर्थिक साम्राज्यवाद को क्षीण बनाने में मददगार होगी। 1940 के ग्रीष्म तक, आयोजकों के मध्य में एक सामान्य दृष्टिकोण की कमी की ज्यादा बाधा, सांख्यिकी और अन्य सूचना–विवरणों का अभाव, और काफी जल्दी योजना के क्रियान्वयन की संभावना न होने पर भी सत्रह उन–समितियों ने अपनी अंतिम या अंतरिम रिपोर्ट पेश की। इनमें सिर्फ उत्पादन के तकनीकी कार्यक्रम ही नहीं अपितु वितरण, सामाजिक न्याय ओर सामाजिक कल्याण के व्यापक प्रश्न भी थे। जिस उप–समिति को जवाहरलाल सबसे ज्यादा प्रमुखता देते थे वह थी स्त्रियों की स्थिति और अधिकारों की समिति। अब योजना के दूसरे सोपान तक पहुँच चुके थे। एक सुविस्तृत रिपोर्ट, विविध उप–समितियों की अनुशंसाओं पर आधारित, रूप ले रही थी। मई, 1940 में

पंद्रह दिनों तक प्रतिदिन यह समिति मिलती रही और, फिर जून में भी, जवाहरलाल की अध्यक्षता में, उसने एक सामान्य संरचना को स्वीकृति दी। उसमें अनेकों विसंगतियाँ थीं और अनेक शाब्दिक अस्पष्टताएँ थीं, फिर भी विस्तृत रूप से रुख़ राज्य–स्वामित्व या राज्य नियंत्रण या दोनों के मिश्रण पर था। फिर भी, राजनैतिक घटनाएँ ज्यादा ध्यान आकर्षित करने लगीं। वे कांग्रेस मंत्रिमंडल जिन्होंने योजना आयोग को राज्यों के ऊपर अधिकार दे रखा था, अब नहीं रहे। अक्तूबर, 1940 में जवाहरलाल स्वयं पकड़ लिये गये और सरकार उन्हें जेल में से योजना आयोग के मामलों पर विचार करने की अनुमति नहीं दे सकती थी। 1947 से पूर्व जवाहरलाल का योजना में योगदान, इसलिए सिर्फ एक धड़ा बनाने जैसा मानना चाहिए। फिर भी, उसने मार्ग तोड़ा और बनाया। युद्ध काल में अनेक लोगों ने अनेक तरह की योजनाएँ बनायीं, और भारत सरकार ने उनकी होड़ में एक योजना–विभाग का निर्माण किया, बंबई के एक उद्योगपति को उसका अध्यक्ष बनाया–इन सबके मूल में था राष्ट्रीय योजना आयोग का कार्य। जवाहरलाल ने भारत को योजना के प्रति सचेत बनाया।

अप्रैल, 1936 में उनका अध्यक्षीय भाषण मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद के दृष्टिकोण से, भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति में सशक्त विश्लेषण से भरा हुआ था। उन्होंने सार्वजनिक मंच से समाजवाद के क्रान्तिकारी विचारों का ज़ोरदार प्रचार किया। उन्होंने कहा कि ''भारत तथा विश्व की समस्याओं के समाधानों के लिए समाजवाद ही एकमात्र साधन है।'' उन्होंने विश्व की प्रगतिशील शक्तियों को अपना सहयोग देने की पेशकश की। यह वह समय था, जबकि नेहरू का समाजवाद में बौद्धिक लगाव तथा उनकी भावात्मक निष्ठा पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। परन्तु समाजवाद के प्रति नेहरू की आस्था उनके कुछ प्रतिक्रियावादी साथियों को चुभती थी। जब स्पेन में फ्रेंकों का विद्रोह हुआ तो वे त्यागपत्र देने के लिए कदाचित राजी न हुए। कांग्रेस में एकता बनाए रखने तथा विश्व में तनाव की अवश्यम्भाविता को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिया। वे 1937 में फिर कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गए।

अंग्रेजी सरकार ने भारतीयों को खुश करने तथा प्रान्तों में उन्हें

स्वायत्तता प्रदान करने के लिए 1935 का कानून पास किया। नेहरू ने इस कानून को 'दासता तथा दमन का राजपत्र कहा और ऐसा कानून जिसके द्वारा 'ब्रेक तो लगा दी गई परन्तु इंजन कोई नहीं था।' परन्तु इसके बावजूद कांग्रेस ने 1937 के प्रान्तीय चुनाव लड़ने का निश्चय किया। चुनाव के दिनों में नेहरू एक चलती–फिरती मूर्ति बने हुए थे। उन्होंने विस्तृत यात्रा की और अपनी चुनाव–यात्रा को 'भारत तथा उसके लोगों की खोज–यात्रा' कहा। अतः उनकी महान् रचना के लिए नींव रखी गई। उनकी अध्यक्षता में कांग्रेस को अद्भुत जीत प्राप्त हुई। इस चुनाव–अभियान के अनुभव ने उनकी बाद में बहुत सहायता की जब वे भारत के प्रधानमन्त्री बने। 1938 में वे अपनी आँखों से वहाँ पर चल रहे गृह–युद्ध को देखने के लिए स्पेन गए। उन्होंने इंगलैंड तथा चैकोस्लोवाकिया की भी यात्रा की। उन्हें संकट की घड़ी में तथाकथित प्रगतिवादी लोगों तथा गुटों के पतन के कारण बहुत ही निराशा हुई।

भारत लौटने पर उन्हें मुस्लिम लीग की बढ़ती साम्प्रदायिकता की भावना तथा गतिविधियों के कारण बहुत निराशा हुई। जिन्ना के नेतृत्व में लीग ने भारत का बँटवारा करके एक नए मुस्लिम राज्य की स्थापना की माँग की। कहा जाता है कि मार्च 1937 में नेहरू के शब्द, ''भारत में आजकल केवल दो शक्तियाँ हैं, अंग्रेज साम्राज्यवादी और भारतीय राष्ट्रवाद, जिसका कि कांग्रेस प्रतिनिधित्व करती है'', जिन्ना के इस प्रत्युत्तर के लिए उत्तरदायी है, ''नहीं, एक तीसरा पक्ष मुसलमान भी है।'' इतिहास ने इन शब्दों को कुछ ही वर्ष पश्चात् सत्य करके दिखा दिया।

अगस्त 1939 में उन्होंने चीन की संक्षिप्त यात्रा की, परन्तु 1939 में विश्वयुद्ध छिड़ जाने पर वे भारत लौट आए। अंग्रेजी सरकार ने भारतीय स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अपने युद्ध के लक्ष्यों को स्पष्ट करने से इन्कार कर दिया चाहे वे यह घोषणा कर रहे थे कि वे विश्व में लोकतन्त्र की रक्षा के उद्देश्य से युद्ध लड़ रहे हैं। युद्ध के आतंक के कारण नेहरू को बहुत कष्ट हुआ। उनका विश्व के उज्ज्वल भविष्य के बारे में जो विश्वास था, वह डोल गया। कांग्रेसी नेताओं के साथ वार्तालाप तथा गांधीजी की नीतियों ने उनके कष्ट में और वृद्धि की। विश्व–राजनीति में सोवियत रूस की भूमिक ने उन्हें

और अधिक दुखी कर दिया।

1940 के पश्चात् की घटनाओं ने नाटकीय रूप धारण किया। अंग्रेजी सरकार कांग्रेस को सन्तुष्ट करने में असफल रही और कांग्रेस द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया गया। इससे पहले कि नेहरू एक सत्याग्रही बनकर गिरफ्तारी देते, उन्हें गिरफ्तार करके चार वर्ष की सख्त कैद की सज़ा दी गई, पर उन्हें दिसम्बर, 1941 तक ही जेल में रखा गया। जनवरी 1942 के अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में आपसी मतभेदों के बावजूद गांधी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी बनाने की घोषणा की। अंग्रेज हर सम्भव तरीके से भारतीयों को प्रसन्न करके घर में युद्ध को जीतना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रिप्स को भारत भेजा गया, परन्तु उसके सुझाव कांग्रेस तथा लीग, दोनों ने अस्वीकार कर दिए। अगस्त, 1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने प्रसिद्ध 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया और उसके तुरन्त पश्चात् नेहरू को गिरफ्तार करके जून 1945 तक अहमदाबाद के किले की जेल में रखा गया। इस लम्बे कारावास में नेहरू ने अपनी रचना सम्पूर्ण की।

जून 1945 में नेहरू की रिहाई के पश्चात् भारत अपने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर तेज़ी से बढ़ने लगा। फरवरी, 1946 में भारतीय समस्या का समाधान करने के लिए एक मन्त्रिमंडलीय मिशन भारत आया, पर यह भी भारतीय समस्या का समाधान करने में असफल रहा। नेहरू को अगस्त, 1946 में फिर कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया गया। अगस्त, 1946 में लार्ड वेकेल ने नेहरू को अन्तरिम सरकार का निर्माण करने का निमन्त्रण दिया। नेहरू देश के विभाजन तक अन्तरिम सरकार के मुखिया के रूप में काम करते रहे। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के बढ़ने के कारण बंगाल तथा बिहार में बहुत बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। नेहरू को इसके कारण बहुत मानसिक कष्ट हुआ। उन्होंने प्रभावित क्षेत्रों का विस्तृत दौरा किया और लोगों से शान्ति तथा साम्प्रदायिक सद्भाव बनाए रखने की अपील की।

1946 के अन्त में चुनाव करवाए गए और एक संविधान सभा का निर्माण किया गया। मार्च 1947 में लार्ड माउंटबेटन को भारत का गवर्नर–जनरल बनाकर भेजा गया और ब्रिटेन की मज़दूर सरकार ने उन्हें छः महीनों के

अन्दर शक्ति के हस्तान्तरण के लिए कहा। उसने देश को 'भारत' तथा 'पाकिस्तान' दो राष्ट्रों में विभाजित करने का प्रस्ताव रखा। नेहरू ने बहुत दुःखी होकर इस योजना को अथवा वास्तव में जिन्ना के दो–राष्ट्र सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

अतः 14–15 अगस्त, 1947 को आधी रात के समय नेहरू ने संविधान सभा में प्रभावशाली भाषण देते हुए अपने उत्तरदायित्व को निभाने के अपने दृढ़ संकल्प को सामने रखा। उन्होंने कहा, "बहुत वर्ष पहले हमने भाग्य परियुक्ति का वचन लिया था और अब समय आ गया है जब हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करेंगे...जिस प्राप्ति के उत्सव को आज हम मना रहे हैं, वह इससे बड़ी विजयों तथा प्राप्तियों के लिए एक कदम है।"

नेहरू ने स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री का पद सँभाला और वे अपनी मृत्यु—27 मई, 1964—पर्यन्त इस पद पर टिके रहे। स्वतन्त्रता के साथ साम्प्रदायिक दंगे भी आए जो कि विशेष रूप में पंजाब तथा बंगाल में बहुत भयंकर रूप धारण कर गए थे। दिल्ली भी इन दंगों से न बच सकी। इसके फलस्वरूप दोनों ओर से लोगों का निकलना शुरू हुआ और एक बहुत बड़ी शरणार्थी समस्या पेश आई। कश्मीर में कबायलियों के आक्रमण के फलस्वरूप पाकिस्तान तथा भारत के बीच युद्ध छिड़ गया। इसके बावजूद नेहरू ने अपनी धर्मनिरपेक्षवाद की धारणा का त्याग न किया। 30 जनवरी, 1948 को गांधीजी की हत्या कर दी गई और राष्ट्र का नेतृत्व करने के लिए नेहरू अकेले रह गए। पूरे साहस तथा दृढ़ता से उन्होंने कहा कि उनके प्रधानमन्त्री रहते भारत कभी एक हिन्दू राज्य नहीं बनेगा। संयुक्त राष्ट्र आयोग के द्वारा कश्मीर में लड़ाईबन्दी लागू की गई। चाहे युद्ध बन्दी जनवरी, 1949 में लागू की गई थी, पर इससे आज तक कश्मीर की समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

इसी दौरान भारत की संविधान सभा गम्भीरतापूर्वक भारत के नए संविधान का निर्माण कर रही थी। चाहे संविधान सभा के बहुत से सदस्यों ने भारत को राष्ट्रमंडल की सदस्यता का त्याग करने पर बल दिया, परन्तु नेहरू ने भारत की राष्ट्रमंडल की सदस्यता को बनाए रखा। संविधान सभा ने अपना काम नवम्बर, 1949 में पूरा कर लिया था, और नया संविधान 26

जनवरी, 1950 को लागू किया गया।

इसके पश्चात् नेहरू बड़े साहस से आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में लग गए। भारतीय संघ में देशी रियासतों का विलय, पाकिस्तान से आए हुए लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास, योजना आयोग तथा केन्द्र सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करना, सामुदायिक विकास–योजनाओं का सूत्रपात करना, सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में औद्योगिक अर्थ–व्यवस्था का विकास करना, 1951–52, 1957 तथा 1962 में वयस्क मताधिकार के आधार पर आम चुनाव करवाना इत्यादि नेहरूजी के प्रधानमन्त्री के रूप में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ थीं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, उन्होंने गुट–निरपेक्षता का महान् मार्ग तैयार किया और वे किसी भी गुट के अनुयायी नहीं बने। उन्होंने अमेरिका, रूस, इंगलैंड तथा चीन की यात्राएँ कीं जो कि काफी लाभकारी सिद्ध हुई। भारत के कोरिया, हिन्द–चीन, संयुक्त अरब गणराज्य की गाज़ा पट्टी तथा काँगो में महान् योगदान से, न केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का सम्मान बढ़ा, अपितु इससे नेहरू के विश्व–शान्ति के सिद्धान्त में विश्वास को भी बढ़ावा मिला। नेहरू ने वास्तव में बहुत बढ़िया तरीके से पदार्थवादी पश्चिम में पूर्व के आध्यात्मिक राजदूत की भूमिका निभाई।

इस शान्ति के दूत को, अक्टूबर, 1962 में हमारी उत्तरी सीमाओं पर चीन द्वारा अकारण आक्रमण से बहुत ज़बर्दस्त धक्का लगा। यह उस देश की ओर से भारत की पीठ में छुरा घोंपने की बात थी, जिसके लिए नेहरू विश्व संस्था में झगड़ता रहा था। नेहरू ने इस चीनी आक्रमण को लोकतन्त्रीय मान्यताओं को चुनौती कहा, जो भारत के लिए अत्यधिक प्रिय है। उन्होंने कहा, ''साम्राज्यवादी तथा विस्तारवादी चीन की यह चुनौती केवल हमारे लिए ही चुनौती नहीं, अपितु यह सारे संसार के लिए है, क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा व्यवहार का स्पष्ट उल्लंघन है...जो कुछ चीन ने किया है, वह विश्व–चेतना का अपमान है।''

कहा जाता है कि नेहरू समाजवाद में विश्वास रखने वाले एक मित्र देश के विश्वासघात के धक्के के कारण जीवित न रह सके। चाहे उन्होंने इस राजनीतिक आँधी को थाम लिया, पर उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। उन्होंने

स्वास्थ्य की खराबी की परवाह न करते हुए मातृभूमि की सेवा में अपने आपको लगाए रखा। 27 मई, 1964 को वह प्रकाश–स्तम्भ जिसने करोड़ों कष्ट संवलित लोगों में स्फूर्ति का संचार किया, बुझ गया। आधुनिक भारत के शिल्पी अब नहीं रहे। अच्युत मेनन के शब्दों में, ''यह हमारा सौभाग्य था कि देश के निर्माण के आरम्भिक वर्षों में वह प्रधानमन्त्री और भाग्य विधाता रहे। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम का उनका व्यापक ज्ञान, ऐतिहासिक स्रोतों पर उनका अधिकार, उनकी दूरदर्शिता और समाजवादी विचारों के प्रति उनका आकर्षण इन सभी ने सम्मिलित रूप से भारत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।'' अपनी अन्तिम बीमारी तक वे प्रसन्न, चौकस, साहसी तथा दुर्दम्य बने रहे। वे गरीबों, अनाथों तथा दलितों के सहायक थे। उन्होंने अपने जीवन के बड़े कठिन समय में देश का नेतृत्व किया। उन्होंने देश के सम्मान को बढ़ाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे में उपयुक्त स्थान दिलवाया। वे देश की नैतिक पतवार तथा राजनीतिक वलयेक्ष थे। उन्होंने एक कृतज्ञ राष्ट्र से अधिकतम सद्भाव प्राप्त किया और उसके बदले में देश को बहुत सद्भाव दिया। उनका अन्तिम इच्छापत्र देशवासियों के प्रति उनके प्रेम का एक साहित्यिक चित्र है। उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि उनकी राख काफी ऊँचाई से उन खेतों पर बिखेर दी जाए जहाँ पर ''भारत के किसान मेहनत करते हैं ताकि राख भारत की मिट्टी में मिल जाए और भारत का अटूट अंग बन जाए।'' चलपति राव ने इन शब्दों में उनका सम्यक् चित्रण किया है। वह कहते हैं, ''वह बहुमुद्राओं वाले व्यक्ति थे और उनकी मुद्राएँ अनेक थीं। वह चिन्तनशील थे, शीघ्र कुद्ध होने वाले, तन्मयवृत्ति के, उद्धत स्वभाव वाले, एकाकी, अपनी प्रतिक्रिया में दृढ़, उदार, साहसी, सौम्य, क्रोधी क्षमाशील थे। किन्तु उनकी एक मुद्रा स्थायी थी। उनके मुख पर प्रसन्नता, नेत्रों में चमक और लोगों से मिलते और बातें करते समय सौम्य स्वभाव रखते थे।''

नेहरू ने पाश्चात्य लोकतन्त्रों में पूँजीवाद के दमन तथा उसके क्षीण होने के पश्चात् और रूसी साम्यवाद में से श्रद्धा उठ जाने के बाद अपनी पुरानी धारणाओं का त्याग कर दिया। उन्होंने मार्क्सवाद का समर्थन करना छोड़ दिया। उनके समाजवाद का लक्ष्य पूँजीवाद का अन्त करना न रहा। उसके स्थान पर उन्होंने एक नई योजना का आविष्कार किया–पूँजीवाद तथा समाजवाद के बीच का मार्ग, जिसे प्रायः मिली–जुली अर्थव्यवस्था की

संज्ञा दी जाती है। पश्चिमी लोकतन्त्रों की भाँति भारतीय लोकतन्त्र का लक्ष्य भी सभी व्यक्तियों का कल्याण रखा गया। इसका आधार धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र तथा समाजवाद रखा गया। राजनीति, सामाजिक तथा आर्थिक समानता इसका प्रमाणांक होगा। स्वतन्त्रता इसका पोषक सिद्धान्त होगा। परन्तु समूचे समाज के हित में स्वतन्त्रता को नियन्त्रण में रखा गया।

भारतीय संविधान के माध्यम द्वारा कल्याणकारी राज्य के आदर्श को प्राप्त किया गया। भारतीय संविधान के, जनता के रहन–सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, दरिद्रता को खत्म करने तथा बेकारी को दूर करने के उद्देश्यों की पूर्ति की गई। पिछड़ी श्रेणियों का उत्थान करना तथा ग्रामीण भारत को, जिसकी अब तक उपेक्षा की गई थी, भी उठाना था। कुटीर उद्योगों को भी लाखों भारतीयों की आजीविका का साधन बनाने के लिए उन्नत करना था। नेहरू ने इस बात पर बल दिया कि अगर उस रोग को खत्म करना है, जो कि लोगों को भारत भर में खराब कर रहा था, अगर ग्रामीण जनता के रहन–सहन के स्तर को ऊपर उठाना है...अगर उन्हें दूसरों पर निर्भर रहने की अपेक्षा आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाना है, तो इस सबके लिए गांधीजी के खादी तथा कुटीर उद्योगों के कार्यक्रम को अपनाए बिना और कोई चारा ही बाकी नहीं है। सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा नेहरूजी गाँव वालों को धूल तथा मिट्टी, आलस्य तथा बीमारी, निरक्षरता तथा अज्ञान से मुक्त कराना चाहते थे।

परन्तु सिर्फ गाँवों के कल्याण का ही लक्ष्य नहीं था। अतः गाँधीजी के उलट नेहरू का विश्वास दहाड़ते हुए उद्योगों तथा भारी मशीनों में था, जिनके द्वारा आत्मनिर्भरता प्राप्त की जा सकती थी। भारत की दरिद्रता की समस्या का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक इसका उद्योगीकरण नहीं होता तथा यह आधुनिक विज्ञान तथा औद्योगिकी का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं करता। नेहरूजी के निर्देशन में पंचवर्षीय योजनाओं का कार्यक्रम शुरू किया गया, जिनमें भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया। परन्तु नेहरू उद्योगीकरण के खतरों से भली–भाँति परिचित थे, चाहे उन्होंने नियोजित तथा नियन्त्रित अर्थव्यवस्था में इसे अनिवार्य समझा। अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक, 'डिस्कवारी ऑफ इंडिया' में उन्होंने कहा

है, ''मैं व्यापार तथा बड़े उद्योगों के पक्ष में हूँ और मेरा विश्वास है कि गरीबी को दूर करने के लिए तथा रहन–सहन के स्तर को ऊपर उठाने तथा दूसरे मन्तव्यों की पूर्ति के लिए और भूमि पर से दबाव को कम करने के लिए तेज़ी से भारत का उद्योगीकरण आवश्यक है।'' यदि हमें उद्योगीकरण का पूरा लाभ उठाना है और इसके खतरों से बचना है तो बहुत सावधानी से आयोजना बनाने तथा समंजन करने की आवश्यकता है। उद्योगीकरण के कारण उत्पादन में जो वृद्धि होगी उससे निःसन्देह लोगों का जीवन–स्तर ऊँचा होगा। इससे अधिक–से– अधिक लोगों को काम का अवसर मिलेगा।

नेहरू केवल लोगों के आर्थिक उत्थान के पक्ष में ही नहीं थे। वे जीवन के सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य को अपनाने के पक्ष में भी थे। यहाँ पर नेहरू के विचारों पर गांधीजी की छाप दिखाई देती है। कल्याणकारी राज्य का उद्‌देश्य लोगों की आर्थिक तथा सांस्कृतिक भलाई होना चाहिए, क्योंकि नेहरू स्वयं भौतिक पश्चिम के लिए आध्यात्मिक पूर्व के दूत थे। उनके अपने शब्दो में, ''हमारा अन्तिम उद्‌देश्य श्रेणी–विहीन समाज है जिसमें सबको बराबर का आर्थिक न्याय तथा सबको समान अवसर प्राप्त हों, एक ऐसा समाज जिसे आयोजनाबद्ध तरीके से संगठित करके लोगों के भौतिक तथा सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाया जाए, जिसमें आध्यात्मिक स्तर को बढ़ावा मिले, लोगों में सहयोग, निःस्वार्थता और सेवा की भावना उत्पन्न हो और उनमें अच्छे काम करने, सद्‌भावना तथा प्यार का तत्त्व हो और अन्त में इस किस्म का संसार बने।''

राजनीतिक क्षेत्र में नेहरू के कल्याणकारी राज्य में प्रतिनिधि सरकार होगी जोकि राजनीतिक संस्थाओं पर आधारित होगी। उनका समानता के सिद्धान्त में विश्वास था। वे पूँजीवादी व्यवस्था के जारी रहने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने समाजवादी लोकतन्त्र पर बल दिया। चाहे बाद में उन्होंने पूँजीवाद के बारे में अपनी धारणा में कुछ परिवर्तन किया, फिर भी उनका अटूट विश्वास, समाजवादी समाज के आदर्श में बना रहा। लोकतन्त्र तथा समाजवाद में अगाध श्रद्धा के कारण ही, उन्होंने कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को अपनाया। सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक लोकतन्त्र तथा

समाजवाद के बिना, वास्तविक स्वतन्त्रता अथवा प्रगति सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा, "इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आजादी आवश्यक हैं, पर वे केवल एक ठीक दशा में ही उठाए गए कदम हैं; सामाजिक स्वतन्त्रता तथा समाज और राज्य के समाजवादी ढाँचे के बिना, देश तथा व्यक्ति अपना विकास नहीं कर सकते।"

इसके अलावा, नेहरू के कल्याणकारी राज्य में गाँव के स्तर पर स्थानीय स्वशासन एक आधार के रूप में होगा।

उन्होंने कहा, "गाँव एक आत्मनिर्भर इकाई नहीं बन सकता, पर यह सफलतापूर्वक ढंग से सरकार तथा चुनाव की इकाई बन सकता है। प्रत्येक इस प्रकार की इकाई एक बड़े राजनीतिक ढाँचे के काम करने वाली एक स्वतन्त्र प्रशासकीय इकाई होगी और गाँव की आवश्यकताओं का ध्यान रखेगी...मुझे विश्वास है कि गाँव को एक इकाई माना जाना चाहिए। इससे सच्चा तथा अधिक उत्तरदायी प्रतिनिधित्व मिलेगा।" इससे नेहरू की विकेन्द्रीकरण अथवा 'लोकतन्त्र की जड़' के बारे में लगन का पता चलता है।

इस प्रकार के लोकतन्त्र के आदर्श की प्राप्ति शान्तिमय उपायों से की जाएगी। ज़मीदारी प्रथा का उन्मूलन, बुनियादी तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और भारतीय ग्रामों का कायापलट, सभी शान्तिमय ढंगों से पूरे किए गए हैं। शक्ति का प्रयोग नहीं किया गया। सहयोगी ढंगों का प्रचार किया गया। नेहरू लोगों पर कोई नीति अथवा योजना थोपने के पक्ष में नहीं थे। वे लोगों को अपने साथ मिलाने में सफल हुए क्योंकि उन्होंने हमेशा लोगों के कल्याण की ही चिन्ता की और पूरी लगन से उनकी सेवा करते हुए जिए और मरे।

धर्मनिरपेक्षवाद तथा नेहरू

नेहरू किसी विशेष मत तथा कर्म के अनुयायी नहीं थे। उनका मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिकता में विश्वास था। उनके विचारानुसार धर्म संकीर्ण तथा दूसरे विचारों को सहन नहीं करता। धर्म उनके लिए स्वकेन्द्रित तथा अहंवादी है। अतः यह राष्ट्र की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधा है। विज्ञान में धर्म की पुरानी धारणा को चुनौती दी है। नए भारत का

निर्माण अलौकिकतावाद तथा रूढ़िनिष्ठता जो कि धार्मिक विश्वास का ही फल है, की निर्जीव बुनियाद पर नहीं किया जा सकता। 1948 में अलीगढ़ में दिए अपने एक भाषण में उन्होंने कहा, ''क्या हम एक राष्ट्रीय राज्य में विश्वास करते हैं जिसमें सभी धर्मों और विचारों के लोग रहते हैं और जो मूलतः धर्मनिरपेक्ष हैं अथवा एक धर्म पर आधारित ऐसा राज्य जिसमें अन्य विचारों वालों के लिए कोई स्थान नहीं है।'' अतः उन्होंने भारत जैसे धार्मिक प्रवृत्तियों वाले देश में न्याय तथा समानता पर आधारित धर्मनिरपेक्ष समाज कायम करने की बात सोची। महता के अनुसार, ''भारत के राजनीतिक जीवन को उनकी विशिष्ट देन यह थी कि उन्होंने धर्मनिरपेक्षता पर आग्रह किया।''

उनके अनुसार धर्मनिरेपक्षवाद केवल राजनीतिक सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि एक क्रान्तिकारी सामाजिक प्रवृत्ति वाला सिद्धान्त है जिसमें भारत के सभी धर्म तथा सम्प्रदाय आ जाते हैं। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्महीनता अथवा आर्थिक कल्याण ही नहीं। इसमें आध्यात्मिक तत्त्व भी विद्यमान है। उन्होंने कहा, ''...धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की आर्थिक भलाई के अलावा भी कोई पृष्ठभूमि तथा उद्देश्य है। इसमें अवश्य ही कुछ आध्यात्मिक गुण तथा व्यवहार के कुछ मान हैं।''

भारत में पक्षपात, कट्टरता, धर्मान्धता तथा साम्प्रदायकिता के बावजूद नेहरू ने भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बना दिया।

बोल्स के शब्दों में, ''नेहरू की सबसे महान सफलता यह थी कि उन्होंने धर्मनिरपेक्ष राज्य कायम किया, जिस राज्य में साढ़े चार करोड़ मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान न जाने का निश्चय किया, शान्तिपूर्वक ढंग से रह सकें और अपनी इच्छा से पूजा आदि कर सकें।'' वास्तव में नेहरू किसी धर्म के प्रति भेदभाव नहीं रखते थे। देश की एकता पर बल देते हुए उन्होंने धर्मनिरपेक्षता को अपरिहार्य माना। उनके शब्दों में, ''साम्प्रदायिकता एक पिछड़े देश का पहचान चि है, आधुनिक युग का नहीं। लोगों को अपने धर्म में निष्ठा रखने का अधिकार है, परन्तु धर्म को राजनीति में लाकर देश को खंडित कर देना, यह ऐसी बात है जो यूरोप में 300 या 400 वर्ष पूर्व होती

थी।'' ग़लत राह पर चलकर हमें स्वयं को खोना नहीं है। हमें देश को गिरने नहीं देना है। हमें यह सुनिश्चित करना है कि स्वतन्त्रता की अमूल्य निधि हमारी दुर्बलता के कारण हमारे हाथों से निकल न जाए। नेहरू के धर्म–निरपेक्षवाद के चार पहलू हैं :

इसका अर्थ है भारत में सभी धर्मों को समान स्थान प्रदान करना। किसी भी धर्म को कोई विशेषाधिकार न दिया जाए। धर्म के आधार पर किसी भी सम्प्रदाय के वैध अधिकारों को न छीना जाए। उन्होंने कहा, ''हम एक स्वतन्त्र तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे हैं जहाँ पर प्रत्येक धर्म तथा विश्वास को पूर्ण स्वतन्त्रता तथा समान आदर प्राप्त है, जिसके प्रत्येक नागरिक को समान स्वतन्त्रता तथा समान अवसर प्राप्त हैं।'' उन्होंने सभी सामाजिक असमानताओं को दूर करने पर बल दिया। उनके अनुसार, जातीय प्रथा पर आधारित समाज धर्मनिरपेक्ष कदाचित् नहीं बन सकता। चाहे वे लोगों के निजी विश्वासों में हस्तक्षेप के विरुद्ध थे, परन्तु अगर ये विश्वास जातीय विभाजनों में उलझ जाते हैं, तो वे राज्य के सामाजिक ढाँचे को प्रभावित करते हैं। अतः समाज को इस बन्धन से मुक्त कराना होगा।

धर्मनिरपेक्ष राज्य

धर्मनिरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म को अपने साथ नहीं टाँकता। नेहरू ने हमेशा हिन्दू राज्य अथवा मुस्लिम राज्य का विरोध किया। उन्होंने लोकराज्य का समर्थन किया। वे चाहते थे कि राज्य धर्मों के सहअस्तित्व के सिद्धान्त को अपनाए। राज्य को धार्मिक स्वतन्त्रता के अतिलंघन नहीं करना चाहिए। नेहरू ने पाकिस्तानी संविधान सभा में पाकिस्तान को इस्लामी गणतन्त्र घोषित करने के कदम की निन्दा की। इस प्रकार की नीति लोकतन्त्र के विरुद्ध है, क्योंकि इससे, ''...नागरिकों की दो श्रेणियाँ बन जाती हैं...जिनमें से एक को दूसरी की अपेक्षा कम अवसर प्राप्त होते हैं।''

नेहरू ने धर्मनिरपेक्षवाद को आधुनिक लोकतन्त्रीय समाज का एक अटूट अंग माना। आधुनिक भारत दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को नहीं अपनाएगा, क्योंकि आधुनिक विश्व के दो या तीन राज्यों को छोड़कर, शेष सभी राज्य धर्मनिरपेक्ष राज्य हैं। उन्होंने इस बात को माना कि हिन्दू धर्म तथा इस्लाम

दोनों ही भारत के सामाजिक जीवन में गहरे जमे हुए हैं। उनके कुछ सदाचारिक नियम तथा कायदे होते हैं, जिनका इनके अनुयायी पालन करते हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि विभिन्न प्रकार के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित नियमों का प्रचलित होना धर्मनिरपेक्ष समाज के असंगत है। अतः उन्होंने सभी भारतीयों के लिए, जाति तथा धर्म के आधार पर भेदभाव किए बिना, एक सामान्य नागरिक संहिता तैयार करने का प्रयत्न किया। चाहे उन्होंने धर्म को विशुद्ध निजी मामला समझा और किसी भी व्यक्ति के निजी विश्वास में हस्तक्षेप करने को अच्छा न समझा, फिर भी उन्होंने धर्म द्वारा सामजिक तथा राजनीतिक जीवन में किसी प्रकार के हस्तक्षेप को बुरा समझा। अतः उन्होंने ऐसे राज्य के निर्माण के लिए कार्य किया जो कि धर्मों को ''सुरक्षा प्रदान करे, परन्तु एक को हानि पहुँचाकर दूसरे का पक्ष न ले और स्वयं किसी भी धर्म को राज्य–धर्म के रूप में न अपनाए।'' मेहता ने यह ठीक ही सम्मति दी है, ''राष्ट्र को ऐसा धर्मनिरपेक्ष राज्य का देना जो धर्म के प्रति तटस्थ रहे, यह एक बात है कि कानून और राजनीति के क्षेत्र में यह प्रभावी हो, एक अन्य बात है। इसके सम्बन्धों में नेहरू का दृष्टिकोण सावधानी का था, विशेषतः जहाँ मुख्य अल्पसंख्यक वर्ग की भावनाओं का सम्बन्ध हो।''

नेहरू के विचार में धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ विभिन्न समुदायों की मानसिक विचार–पद्धति है। चूँकि भारत में बहुत से धर्म हैं, अतः यहाँ पर ऐसी मानसिक विचार–पद्धति की आवश्यकता है, जिससे इन धर्मों के बीच में सुमेल तथा मैत्री की भावना उत्पन्न करने में सहायता मिले। वे धर्मों द्वारा एक–दूसरे में हस्तक्षेप करने अथवा राज्य की बुनियादी धारणाओं को चुनौती देने को बुरा समझते थे।

नेहरू इसके बारे में बिल्कुल स्पष्ट थे कि धर्मनिरपेक्षता के आदर्श की प्राप्ति की सफलता मुख्य रूप से बहुमत के अल्पमत के प्रति व्यवहार पर निर्भर है। उन्होंने हर समय भारतीयों से यह अनुरोध किया, ''उन्हें वह बात अवश्य ही ध्यान में रखनी होगी कि अल्पसंख्यकों के हित तथा उनका कल्याण ही उनका पवित्र धर्म है। अगर वे इस दायित्व को निभाने में असफल रहे, तो वे न केवल देश को हानि पहुँचाएँगे, अपितु उनका अपना नुकसान

भी होगा।" उनका यह दृढ़ विश्वास था कि बहुसंख्यक वर्ग के आक्रामक व्यवहार से भारत में किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय के मन में भय पैदा हो सकता है। उन्होंने अल्पसंख्यकों से भी सहनशील बने रहने की आशा की। अतः उन्होंने दोनों से विशाल दृष्टिकोण अपनाने तथा ऐसा व्यवहार न करने का अनुरोध किया जिससे भारत की अखंडता और राष्ट्र की एकता को ठेक पहुँचे।

वास्तव में नेहरू का धर्मनिरपेक्षवाद भारत के लिए एक वास्तविक आवश्यकता थी। यह उन सभी धार्मिक विभिन्नताओं तथा आपसी शत्रुता के लिए अचूक दवा थी, जो कि इन विभिन्नताओं के फलस्वरूप भारत में देखने को मिलती है। पृथक् मत–प्रणाली को समाप्त करके तथा उसके स्थान पर मताधिकार प्रणाली लागू करके इस दिशा में पहला कदम उठाया गया। कुछ एक मौलिक अधिकार जैसे कि, धर्म का अधिकार, सांस्कृतिक तथा शिक्षा का अधिकार तथा समानता का अधिकार और कुछ ऐसे लक्ष्य जो निर्देशक सिद्धान्तों में लिखे गए हैं आदि भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने की ओर उठाए गए दूसरे कदम हैं। डी.एफ्. कराका, जो कि नेहरू के एक बहुत सख्त आलोचक हैं, ने ठीक ही कहा है कि "बावजूद हिन्दू साम्प्रदायिकता के दबाव के, भारत के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को बनाए रखने का श्रेय नेहरू को प्राप्त है।"

सामुदायिक विकास कार्यक्रम, जिसे गांधीजी के आदर्शों वाले आत्मनिर्भर ग्रामीण गणराज्यों के साथ मिलाया गया है, 2 अक्टूबर, 1952 को शुरू किया गया था। नेहरू ने कहा कि देश के द्वारा यह एक बहुत बड़ी बात शुरू की गई है। एक भाषण में उन्होंने कहा, "जो काम आज यहाँ पर शुरू किया जा रहा है, उस क्रान्ति को लाने के लिए है, जिसके लिए लोग काफी समय से शोर मचा रहे हैं, और यह दरिद्रता को दूर करने का एक छोटा–सा प्रयास है।" जब इसके सन्तोषजनक परिणाम सामने न आए, तो इन योजनाओं का मूल्यांकन करते हुए नेहरू ने कहा कि सरकारी पदाधिकारियों के व्यापारिक दृष्टिकोण के कारण ये योजनाएँ अधिक सफल नहीं हो पाई। अतः उन्होंने उनसे अनुरोध किया कि वे इनकी सफलता के लिए गाँव वालों की मदद प्राप्त करें। उन्होंने कहा कि तुम्हें उनके मनों तथा हृदयों तक पहुँचना चाहिए और

उन्हें अपने अधीन नहीं, अपितु साथी के रूप में काम करने के लिए आमन्त्रित करना चाहिए, ताकि धीरे–धीरे तुम्हारा काम करने वालों के साथ एक प्रकार का भातृभाव तथा उनसे बन्धुत्व कायम हो सके।

उन्होंने बल दिया कि त्रुटियों के बावजूद, ये योजनाएँ जनता की विचारधारा में परिवर्तन ला रही हैं और लोग अपने आपको गतिहीनता तथा निष्क्रियता से बाहर निकाल रहे हैं। वे देश की प्रगति के कार्य में स्वतन्त्रता तथा साझेदारी की भावना से काम रहे हैं। वह महसूस करते हैं कि वास्तविक स्वराज्य का युग आरम्भ हो गया है। अतः नेहरू ने इन योजनाओं की--इन मानवीय गतिविधियों के केन्द्रों की दीपक के साथ तुलना की, जो कि भारत के दूर तथा अँधेरे कोनो में प्रकाश भेज रहे हैं। सामुदायिक विकास योजनाओं का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा, ''अब तक सामुदायिक विकास योजनाओं द्वारा, गाँवों में रहने वाले लोगों को स्वावलम्बी, मिलकर काम करने तथा सहयोग से अपने गाँवों का नव–निर्माण करने और प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में और विशेष रूप में कृषि के क्षेत्र में आगे बढ़ने के कार्य को पूरा करने का अवसर प्रदान किया गया है।''

3

नेहरू एवं अर्थव्यवस्था

जैसा कि ऊपर कहा गया है पाँचवें दशक में नेहरू के अनुसार देश की समस्याओं का समाधान मिश्रित अर्थव्यवस्था में ही है, जो कि कई क्षेत्रों में सार्वजनिक उद्यमों को गैर–सरकारी उद्यमों से मिलाती है। उनका लक्ष्य उन सभी उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करने का था, जिनका सम्बन्ध प्रतिरक्षा, उत्पादन तथा दूसरे सभी बड़े बुनियादी उद्योगों से है। शेष में ग़ैर–सरकारी उद्यम की आज्ञा दे दी गई। अतः सार्वजनिक तथा निजी, दो क्षेत्र कायम हो गए। राज्य के उद्यम सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं जबकि निजी उद्यम ग़ैर–सरकारी क्षेत्र के अधीन आते हैं। बिखरी हुई अर्थव्यवस्था तथा सीमित आर्थिक तथा तकनीकी साधनों के कारण, राज्य के लिए सभी उद्योगों को नियन्त्रण में लेना कठिन था। यह अधिक अच्छा तथा उचित समझा गया कि जिस क्षेत्र में ग़ैर–सरकारी उद्यम काम कर रहे थे, उनमें सरकार कोई हस्तक्षेप न करे और भारत के नवनिर्माण के लिए राज्य के साधनों को प्रयुक्त करके उन क्षेत्रों में राज्य का नियन्त्रण शुरू किया जाए, जिनमें ग़ैर–सरकारी उद्यम कम लाभ की दृष्टि से काम करना पसन्द न करते हों। उदाहरण के तौर पर नदी घाटी–योजनाएँ तथा भारी बिजली के साज–सामान इस श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार ग़ैर–सरकारी क्षेत्र को बनाए रखने से सिद्ध होता है कि हमारे समाजवादी ढाँचे में उद्योगों के पूर्णरूप में समाजीकरण के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया, जैसा कि पूर्ण रूप से समाजवादी अर्थव्यवस्था में होता है।

यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि ग़ैर–सरकारी क्षेत्र भी पूर्ण रूप से सरकारी नियन्त्रण से मुक्त नहीं है। ग़ैर–सरकारी क्षेत्र के लिए राष्ट्रीय योजना के मुख्य सिद्धान्तों को अपनाकर सार्वजनिक क्षेत्र में मिलकर काम करना आवश्यक है। इस क्षेत्र को राष्ट्रीय योजना के लक्ष्यों को स्वीकार करके अपने आपको इसके अनुकूल बनाना होगा। योजना आयोग को इसके ऊपर अपना नियन्त्रण रखने की जरूरत है। ग़ैर–सरकारी क्षेत्र को अपनी भूमिका निभाते समय सामाजिक मन्तव्य को सामने रखना होगा। अतः स्वार्थ को सार्वजनिक भलाई के अधीन रखा जाएगा। समय के साथ–साथ ग़ैर–सरकारी क्षेत्र का महत्त्व कम होता चला जाएगा और सार्वजनिक क्षेत्र में बढ़ोतरी होगी। परन्तु उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि ''ग़ैर–सरकारी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र के प्रगतिशील विस्तार की निर्भरता विभिन्न तत्त्वों पर, जिनमें प्राप्त किए गए परिणाम, प्राप्त स्रोत और देश की क्षमता आदि शामिल है, होनी चाहिए। इसकी कसौटी सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति होनी चाहिए। अतः नेहरू चाहते थे कि भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था लचीली तथा बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल ढलने वाली होनी चाहिए।''

वास्तव में मिश्रित अर्थव्यवस्था के बहुत लाभदायक परिणाम सामने आए हैं। इससे सरकार को अर्थव्यवस्था को नष्ट–भ्रष्ट किए बिना वर्तमान अर्थव्यवस्था पर ही निर्माण करने का अवसर मिला है। नेहरूजी के विचार में ग़ैर–सरकारी क्षेत्र ने हमारी अर्थव्यवस्था के अन्तर्कालीन समय में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसी तरह भारत की वर्तमान स्थिति को सामने रखते हुए सार्वजनिक क्षेत्र भी अपरिहार्य है। उन्होंने ठीक ही कहा है, ''मिश्रित अर्थव्यवस्था बीच का मार्ग है जो कि भारत की वर्तमान स्थिति के अनुकूल है और जिससे ऊँचे परिणामों की आशा की जा सकती है। इस अन्तर्कालीन अवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका भी अपरिहार्य है, परन्तु ग़ैर–सरकारी क्षेत्र का योगदान भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।''

नवम्बर 1954 में नेहरू ने समाज के समाजवादी ढाँचे का लक्ष्य सामने रखा। पूरी तरह से वर्तमान नीति को छोड़ने के बारे में बहुत से अनुमान लगाए गए। परन्तु नेहरू ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में कोई बुनियादी परिवर्तन लाने की कोई योजना नहीं है। परन्तु नए उद्योगों

पर सरकारी मालिकी तथा नियन्त्रण पर अधिक बल दिया जाएगा। अतः इससे स्पष्ट है कि उन्होंने 'समाज के समाजवादी ढाँचे' के शब्द का प्रयोग सैद्धान्तिक रूप से नहीं किया। वे ग़ैर–सरकारी क्षेत्र को खत्म करने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु उन्होंने उसे स्वतन्त्रता तथा प्रोत्साहन देने की राय दी। उन्होंने सीमित स्रोतों वाले अल्प–विकसित देश के लिए, जहाँ पर अर्थव्यवस्था का विस्तार किया जा रहा था, सार्वजनिक क्षेत्र के तेज़ी से बढ़ने की अपरिहार्यता पर बल दिया।

नेहरू के मार्गदर्शन में कांग्रेस ने अपने 1955 के अवाड़ी अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित कर समाजवादी आदर्श पर आधृत समाज के निर्माण को अपना लक्ष्य निर्धारित किया। 'भारत और संसार' शीर्षक पुस्तक में वह इन शब्दों में समाजवादी आदर्श पर आधृत समाज को परिभाषित करते हैं, ''इस प्रकार के समाज से हमारा अभिप्राय एक ऐसे समाज से है जिसमें सभी को समान अवसर उपलब्ध हों तथा एक अच्छे जीवन की भावी सम्भावनाएँ खुली हों। अतः हमें समानता पर और असमानताओं के दूरीकरण पर बल देना है तथा यह भी सुनिश्चित करना है कि समाजवाद दरिद्रता के कारण नहीं बढ़ रहा है। सम्पत्ति तथा उत्पादन का होना आवश्यक है।'' उन्होंने समाजवाद को एक जीवन शक्ति बताया जिसे नए दिग्विन्यास की आवश्यकता है, देश की परिस्थितियों के अनुरूप। ''संसार की तथा भारत की समस्याओं का निदान समाजवाद में ही है'', ऐसा नेहरू बलपूर्वक कहते हैं। ''मैं जब कभी इस शब्द का प्रयोग करता हूँ तो यह मानववाद की दृष्टि से नहीं, वरन् वैज्ञानिक आर्थिक दृष्टि से मैं इसका प्रयोग करता हूँ। समाजवाद मात्र एक आर्थिक सिद्धान्त ही नहीं है। यह एक जीवन दर्शन है जो मुझे रुचता है। भारत में दरिद्रता–उन्मूलन तथा वृत्तिहीनता की विशाल, व्यापक समस्या के समाधानार्थ समाजवाद के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं देखता। इसी के द्वारा हम अपने देश में व्यापक अधोगति तथा आधीनता के वर्तमान परिदृश्य को दूर कर सकेंगे।''

सम्पत्ति के अधिकार की परवाह न करते हुए ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन, जिसे देश के सर्वोच्च न्यायाधिकरण द्वारा स्वीकार किया गया था और उसको चुनौती दिए जाने पर नेहरू द्वारा न्यायपालिका को झिड़की देना कि वह देश में समाजवाद लाने के रास्ते में बाधक सिद्ध हो रही है, नेहरू

के देश में समाजवाद स्थापित करने के इरादे का सूचक है। ज़मींदारी प्रथा का ज़िक करते हुए उन्होंने कहा, "यह प्रथा हमेशा के लिए जारी नहीं रह सकती; इसकी चिन्ता नहीं है कि आपके बुनियादी अधिकार क्या कहते हैं, अथवा आपका संविधान क्या कहता है या आपकी अदालतें क्या कहती हैं। अगर आप इससे परे देखने से इन्कार करते हैं, तो आपके सामने एक क्रान्तिकारी स्थिति पैदा हो जाएगी, जो कि इन सबकी अवहेलना कर देगी।"

उन्होंने सहकारी खेती तथा सहकारी सेवाओं की स्थापना पर भी बल दिया। उनका मानना था कि सहकारी खेती तथा सहकारी सेवाओं द्वारा भारत के ग्रामों में समाजवाद की झलक देखी जा सकती है। उत्पादन में वृद्धि केवल बड़े तथा कुशल भूमिपति तथा सहकारिता से काम करने वाले कुशल परिवारों द्वारा की जा सकती है। चूँकि निजी मालिकी के अधीन बड़े फार्म चलाना सम्भव है, उसके लिए सहकारी खेती ही एकमात्र साधन है।

इस प्रकार का सहकारिता का सिद्धान्त गाँव की सभी गतिविधियों में लागू किया जाना चाहिए, जैसे कृषि का प्रबन्ध तथा शिक्षा। इससे गाँवों की सर्वांगीण उन्नति की जा सकती है। साझी खेती द्वारा भारत की दरिद्रता को दूर किया जा सकेगा। वे साझी खेती के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा, "मैं हर खेत में तथा हर किसान के पास जाकर इस प्रोग्राम को स्वीकार करने की योजना करूँगा। अगर वे नहीं मानेंगे तो मैं इसे कार्यान्वित नहीं कर सकूँगा।"

अतः इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि भारतीय आर्थिक विकास की समस्या के बारे में नेहरू का दृष्टिकोण उनके पहले के समाजवादी विचारों की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक था। तुरन्त परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से, मिश्रित अर्थव्यवस्था–जिसमें ग़ैर–सरकारी मालिकी तथा सरकारी मालिकी दोनों को उचित स्थान मिलता है, एक बढ़िया साधन था। उन्होंने विश्व में चल रहे झुकाव के सन्दर्भ में उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण को अपरिहार्य समझा। उन्होंने भविष्यवाणी भी की कि सार्वजनिक क्षेत्र राष्ट्र के नियन्त्रण एवं निदेशन में रहकर द्रुत गति से विकसित हो सकता है। इस प्रकार का राजकीय नियन्त्रण एवं निदेशन अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आने

वाले सामरिक महत्त्व के स्थलों पर विशेषतः आवश्यक है। राष्ट्रीय सम्पत्ति का सामान्य जन हित में नियोजन तथा उसका कुछ हाथों में केन्द्रीकृत न होना सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि समाजवाद पर आधारित समाज एक ऐसा समाजवाद रह जाता है जो मिलावट युक्त है। निजी क्षेत्र राष्ट्रीय हितों के प्रति समवेदनशील नहीं हो सकता। वास्तव में इस किस्म के समाजवाद में गांधी तथा मार्क्स के विचारों का मिश्रण था, जिनका कि नेहरू के मन पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने साम्यवादियों के क्रान्तिकारी ढंगों को अपनाकर समाजवाद लाने की अपेक्षा धीमी गति से चलने वाले शान्तिपूर्वक लोकतन्त्रीय ढंगों को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा। लिमये की सम्मति में, ''नेहरू अपने मन्थरगामी सुधारों के दृष्टिकोण को मार्क्सवादी वैचारिक परिधान में प्रस्तुत करते हैं।'' अशोक मेहता के अनुसार, ''नेहरू प्रतिपादित समाजवाद उस सोरीलियन मिथक से अधिक कुछ नहीं जो अपनी वक्तृत्व शक्तिमत्ता के प्रभाव के कारण ही मूल्यवान है।'' वस्तुस्थिति यह है कि नेहरू ने प्रजातन्त्र तथा समाजवाद को दो भिन्न प्रकोष्ठों में नहीं रखकर देखा। उन्होंने जो प्रस्तुत किया है वह दोनों का संश्लेषण है। अतः उन्हें सामान्यतः एक प्रजातान्त्रिक समाजवादी ही कहा जाता है। समाजवाद की प्राप्ति वह प्रजातन्त्र की विजय से न कि तानाशाही के अत्याचारों के माध्यम से चाहते हैं। अपने सपनों के समाजवादी राज्य में नेहरू जिस वर्गहीन समाज को चाहते हैं, उसे विधि और व्यवस्था पर आधारित प्रजातान्त्रिक समाजवाद द्वारा ही अस्तित्व में लाना है जिसमें सोद्देश्यपरक योजना निर्माण सुनिश्चित हो। मेहता का यह कथन उपयुक्त ही है, ''राष्ट्रवाद, प्रजातन्त्र, धर्मनिरपेक्षता तथा आर्थिक विकास जहाँ नेहरू की नीति के चार स्तम्भ हैं, वहाँ समाजवाद मुकुट स्थानीय गुम्बद है।'' किन्तु नेहरू का समाजवाद एक जीवित, गतिशील, उन्नत और विकासोन्मुख अस्तित्व बना रहा जो मात्र एक परिभाषा से कहीं अधिक गहरा उतरता है जीवन की, विचार की, कार्य की प्रक्रिया के भीतर। एस. गोपाल की यह सम्मति उचित ही है, ''समाजवाद नेहरू के लिए एक सिद्धान्त के परिभाष्य कलेवर मात्र से कहीं अधिक एक प्रवृत्ति है।'' इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नेहरू एक निश्चित, निर्धारित सिद्धान्त के प्रति आस्थावान थे। मार्क्सवाद द्वारा ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने की जहाँ

नेहरू सराहना करते थे, वहीं वह साम्यवादियों द्वारा मार्क्सवाद को 'पवित्र सिद्धान्त' मानने के लिए उनकी आलोचना भी करते थे। मार्क्स के कुछ निष्कर्षों को वह कुछ अनुवर्ती घटनाओं, उदाहरणार्थ प्रजातान्त्रिक विकास और तकनीकी प्रगति के सन्दर्भ में अनुपयोगी, अप्रासंगिक मानते थे। इससे कुछ आलोचक इस टिप्पणी करने पर बाध्य हुए कि नेहरू ऐसे उदार प्रजातन्त्रवादी थे जिनकी समाजवाद के प्रति स्वच्छन्द अनुरक्ति थी। उनकी प्रधान मन्त्रित्व की अवधि में राष्ट्र के दीर्घावधिक हितों को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने समाजवाद के उत्साह पर अंकुश लगाना पड़ा, उनके प्रयत्न मन्द पड़ गए और इस प्रकार मर्यादित प्रयत्नों के कारण वह अपने समाजवाद को उन पश्चिमी देशों से गहरा रंग नहीं दे सके जो समाजवादी होने का दम नहीं भरते।

समाजवादी व्यवस्था वाले राष्ट्र ने व्यापक निन्दा की है। उनका आरोप है कि यह अर्थव्यवस्था मिश्रित होने के स्थान पर अस्थिर, संशयायित अर्थव्यवस्था होगी।

नेहरू तीसरे दशक से ही योजना की ओर झुक रहे थे। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद उन्होंने आयोजना द्वारा सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया, जिस आयोजना ने रूस जैसे पिछड़े हुए देश में अद्‌भुत काम किया है। एक लोकतन्त्रीय देश में आयोजन को लागू करने का एक नया तजुर्बा था। नेहरू आयोजना द्वारा भारतीय समाज में समानता लाने के लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते थे। उन्होंने आयोजना को लक्ष्य नहीं बनाया, परन्तु उसे साधन बनाकर, ''लोगों की भलाई तथा प्रगति, सबके लिए अवसर प्रदान करने तथा स्वतन्त्रता के विकास का लक्ष्य बनाया।''

उनके लिए लोकतन्त्र तथा आयोजना एक–दूसरे से भिन्न नहीं थे। उन्होंने कहा, ''अगर मुझे कोई यह कहे कि लोकतन्त्रीय ढाँचे का अर्थ है आयोजना का अभाव, तो मैं इस कथन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूँ।'' पूँजीवादी लोकतन्त्र में विशेष सुविधा प्राप्त श्रेणियाँ जनता की अवहेलना करके अपनी ही भलाई के लिए योजनाएँ बनाती हैं। अतः उन्होंने कहा कि आयोजित लोकतन्त्र में, खुले बाज़ार की प्रणाली के स्थान पर उत्पादन के साधनों पर राज्य की मालिकी को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। उन्होंने

कहा कि आयोजना एक ऐसा अमल है, जिसके द्वारा ऐसी शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है, जो ग़रीबों को और ग़रीब बनाने में लगी हैं। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जब तक अमीर तथा ग़रीब के बीच में अन्तर को कम नहीं किया जाता और अधिक–से–अधिक समानता नहीं लाई जाती, आज़ादी केवल एक सिद्धान्त ही बनकर रह जाएगी।

एक नियोजित अर्थ–व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि वह लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने का अवसर दे और वे योजनाओं को स्वीकार करें। नेहरू ने कहा कि समाजवादी आयोजना द्वारा लोकतन्त्र को जारी रखने के लिए ज़रूरी है कि लोगों के सद्भाव तथा सहयोग को प्राप्त किया जाए। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा, ''लोकतन्त्रीय नियेजना का अर्थ है—अपनी इच्छा से तथा ठीक दिशा में की गई मेहनत, जिससे समाज तथा व्यक्ति की भलाई हो सके।''

नेहरू इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे, कि नियोजित समाज में स्वतन्त्रता का ह्रास होता है। राज्य के नियन्त्रण तथा निर्देश के बावजूद भी व्यक्ति को काफी मात्रा में निजी स्वतन्त्रता तथा नेतृत्व प्राप्त होता है। उन्होंने केन्द्रीकरण के विरुद्ध चौकस रहने की चेतावनी दी और स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र को बनाए रखने के लिए कुछ एक नियन्त्रण रखने पर बल दिया। हमारा नियन्त्रण तो लोकतन्त्रीय ढंग से चुनी गई संसद है। संसदीय विधानमंडल, जो कि मार्किट के विकास तथा ट्रेड यूनियन पर नियन्त्रण रखता है, झगड़ों को निबटाने के कुछ दूसरे नियन्त्रण हैं।

उन्होंने कहा कि नियोजना एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है और यह पीढ़ियों तक चलती रहेगी। नियोजना से उनका अभिप्राय था, ''एक उद्देश्य को सामने रखना; वह उद्देश्य नहीं, जिसे जल्दी से पूरा कर लेना हो, वरन् वह उद्देश्य जो कि बहुत दूर है और जिसे निरन्तर प्रयत्नों द्वारा पूरा किया जाए। हम केवल कल के लिए ही योजना नहीं बना सकते, हमें तो वर्षों तक के लिए ऐसा करना होगा।'' इस तरीके से नियोजना राष्ट्र को विभिन्न गतिविधियों को देखने का एक समूचा ढंग है। अतः नियोजना का सम्बन्ध उत्पादन, खपत, रोज़गार तथा बहुत–सी दूसरी बातों से है, जैसे कि परिवहन, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सेवाएँ। अतः नियोजना का उद्देश्य उद्योगों तथा

कृषि की ओर पूरा ध्यान देने का है।

नेहरू के शब्दों में योजना का तात्पर्य, ''ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना है, जो शोषण, ग़रीबी, बेरोज़गारी तथा अन्याय से मुक्त हो।'' वास्तव में नेहरू चाहते थे कि नियोजना का उद्देश्य जन–कल्याण हो। वे चाहते थे कि नियोजना द्वारा अधिकतम धन पैदा किया जाए और उसका बँटवारा ऐसे ढंग से किया जाए कि वह थोड़े से हाथों में ही इकट्ठा न हो, बल्कि वह अधिक–से–अधिक लोगों तक पहुँचे। नियोजना द्वारा भारत के सीमित साधनों का उपयोगी ढंग से इस्तेमाल किया जाना चाहिए। मेहता कहते हैं, ''नेहरू की तर्क की ओर प्रवृत्ति तथा चमत्कार के प्रति उनका सम्मोहन आर्थिक नियोजन के विचार द्वारा प्रेरित थे। इसे वह कृषि प्रधान व्यवस्था से औद्योगिक व्यवस्था लाने की दिशा में एक विश्वस्त कार्य तन्त्र के रूप में देखते थे।''

नेहरू इस बात के भी समर्थक थे कि नियोजना का सामाजिक उद्देश्य भी है। इसके द्वारा नई सामाजिक व्यवस्था को कायम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त नियोजना से राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य को भी पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार नियोजना द्वारा, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता तथा जातीयता जैसी संकीण प्रवृत्तियों को दूर करने के लिए भी एक साँझा मोर्चा बनाया जा सकता है। लोकसभा में पहली पंचवर्षीय योजना के बारे में बोलते हुए नेहरू ने कहा था, ''भारत में कृषि, औद्योगिक, सामाजिक, आर्थिक तथा दूसरे पहलुओं को एक प्रकार की विचारधारा में इकट्ठा करने का यह पहला प्रयास है। इससे सारा देश नियोजना के बारे में ही सोचने लगा है। इससे लोग एक होकर सारे देश के बारे में सोच रहे हैं।''

नियोजना को शान्तिपूर्ण तथा लोकतन्त्रीय ढंगों द्वारा लागू किया जाना है, क्योंकि आर्थिक कल्याण तथा रहन–सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लक्ष्य को जीवन के उच्चादर्शों के आधार पर प्राप्त करना होगा, जिन आदर्शों ने शताब्दियों से लोगों को शिष्ट बनाया है। उन्होंने कहा, ''आखिर हम स्वतन्त्रता, समानता, व्यक्ति के सम्मान तथा मानवीय भावना की स्वतन्त्रता में विश्वास रखते हैं। इसी वजह से हमने अन्त में लोकतन्त्रीय जीवन–प्रणाली अपनाई है।'' तीसरी योजना आरम्भ किए जाने के समय तक नेहरू शिक्षा

क्षेत्र की न्यूनताओं से परिचित हो चुके थे तथा वह इस आवश्यकता के प्रति भी जागरूक थे कि ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ न्यूनतम सुविधाएँ उपलब्ध की जाएँ। गन्दी बस्तियों की स्वच्छता, नगरों में उनके सुधार तथा बाल कल्याण के प्रति भी वह सजग थे। अतः उनकी नियोजन की अवधारणा स्वनिष्ठित नहीं थी। उन्होंने कहा, "नियोजन प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं का पुनराम्भ ही होगा। इन्हीं के साथ चौथी योजना तथा तत्पश्चात् और योजनाएँ भी बनेंगी। नियोजन अभीष्ट लक्ष्यों की ओर निरन्तर बढ़ने वाली प्रक्रिया है। अन्त में महत्त्व इसी बात का है कि मानव का विकास हो और उसकी समृद्धि में वृद्धि हो। यद्यपि नियोजन में भौतिक विकास भी समाविष्ट है तथापि अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि मनुष्यों के कल्याणार्थ निवेश किया जाए।

4

नेहरू एवं मार्क्सवाद का उन पर प्रभाव

नेहरू का दृष्टिकोण एक कुलीन परिवार में जन्म लेने तथा लालन–पालन होने के कारण 1920 तक बिल्कुल धनवानों जैसा था। वे भारतीय मज़दूरों तथा किसानों की दीन दशा से बिल्कुल अपरिचित थे। आकस्मिक रूप से 1920 की गर्मियों में अवध में उनका सम्पर्क किसान–आन्दोलन से हुआ। इससे उनके जीवन में एक महान् परिवर्तन आया। वे तीन दिन तक किसानों के पास ठहरे और उन्हें उनकी दुख तथा कष्ट–भरी गाथाओं को सुनने का अवसर मिला। इसके बारे में उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त की : "उन्हें तथा उनके कष्ट तथा उनकी बहुत अधिक कृतज्ञता को देखकर मेरा अपना मन आरामदेह तथा सुखदायी जीवन तथा तंगदिल शहरी राजनीति वाले जीवन को देखकर लज्जा तथा शोक से भर गया, जिस जीवन में करोड़ों नंगे–भूखे भारत के पुत्रों–पुत्रियों की उपेक्षा हो रही है...मेरे सामने नंगे, भूखे, दलित तथा बुरी तरह मुसीबत में फँसे देशवासियों का एक नवीन चित्र प्रस्तुत हो गया।" अतः नेहरू ग्रामीण भारत की भूमि सम्बन्धी समस्या के बारे में सचेत हुए। दलितों के लिए इस सहानुभूति के कारण बाद के जीवन मे उनका विश्वास समाजवाद में दृढ़ हुआ।

मार्च, 1926 में एक वर्ष नौ महीने की उनकी विदेश–यात्रा ने भी उनके राजनीतिक चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। उनका कई समाजवादियों से सम्पर्क हुआ और समाजवाद की ओर उनका और अधिक आकर्षक हुआ। उस समय तक समाजवाद के प्रति उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः विद्योचित तथा

आदर्शवादी ही थी। उनकी राष्ट्रवाद तक ही सीमित राजनीति की समाजवादी हितों के प्रति निष्ठा गौण स्थानीय ही थी। 1927 से अधिकाधिक रूप से समाजवाद के रूप में एक ऐसा प्रतिमान उन्हें प्राप्त हुआ, उस सूत्र के लिए जिसमें राष्ट्रवाद के पुराने धागे को पिरोया जाना था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने फरवरी, 1927 में ब्रुसेल्स में दलित राष्ट्रीयताओं के सम्मेलन में भाग लिया। ब्रुसेल्स–सम्मेलन ने, उन्हें विश्व के विभिन्न भागों के वामपक्षी मज़दूर संगठनों से मिलने का अवसर प्रदान किया और वे यूरोपीय मज़दूरों के अन्दरूनी झगड़ों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सके। माइकेल ब्रेचर का विचार है, ब्रसेल कांग्रेस नेहरू के राजनीतिक विचारों के विकास में दिशा संकेत मील का पत्थर प्रमाणित हुई। यह राजनीतिक विचार जहाँ तक समाज के उनके व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सम्बन्ध है। साम्यवाद ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। उन्होंने कहा है, "मैं साम्यवाद की ओर झुका, चाहे इसमें कुछ भी त्रुटियाँ थीं परन्तु यह दम्भी तथा पूँजीवादी नहीं था।" परन्तु वे उनके तानाशाही तरीके तथा हिंसावादी ढंगों के समर्थक नहीं थे। उन्होंने नवम्बर, 1927 में सोवियत रूस की यात्रा की और सोवियत साम्यवादियों के नियोजित रूप से देश में से दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा तथा सामाजिक–आर्थिक न्याय के प्रयत्नों का इनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनके उदार तथा व्यक्तिवादी मन ने राजनीतिक कैदियों के साथ किए जाने वाले पाशविक व्यवहार के कारण बग़ावत की। अतः नेहरू अब नए राजनीतिक चिन्तन तथा परिवर्तित मान्यताओं वाले व्यक्ति थे। उन्होंने महसूस किया कि सामाजिक स्वतन्त्रता तथा समाज तथा राज्य के समाजवादी ढाँचे के बिना, देश तथा व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। अतः आर्थिक आत्मनिर्भरता ने उनके राष्ट्रवाद को एक नया विषय प्रदान किया। तब से उन्होंने दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काम किया : 1. राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा 2. न्याय पर आधारित सामाजिक– आर्थिक व्यवस्था।

लाहौर कांग्रेस को 1929 में अध्यक्ष पद से सम्बोधित करते हुए नेहरू ने कहा, "समाजवादी दर्शन व्यापक रूपेण पूरी सामाजिक संरचना में प्रविष्ट हो चुका है तथा अब मात्र विवाद का विषय यही है कि इसे साकार करने के लिए हम क्या उपाय बरतें और आगे बढ़ने की हमारी गति क्या हो। भारत

को इस मार्ग पर जाना होगा, भले ही उपाय उसके अपनें हों तथा इस आदर्श का अनुकूल वह अपनी प्रतिभा के साथ करे।" किन्तु उन्होंने धन के लिए मनुष्य का बलिदान करने की बात नहीं कही। उनका मत था यदि कोई उद्योग अपने लोगों को भूखा मारे बिना नहीं चलाया जा सकता तो उसे बन्द कर देना ही उचित है। यदि भूमि पर कार्य करने वाले व्यक्ति भोजन पाने में असमर्थ हैं और उनके उचित अधिकार का बड़ा भाग बिचौलिए के साथ चला जाता है तो बिचौलियों को अवश्य मार्ग से हटाया जाना चाहिए। वह चाहते थे कि खेत अथवा फैक्ट्री में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यूनतम वेतन सुनिश्चित किया जाए तथा उसे काम भी उतने ही निश्चित समय तक करना चाहिए जिससे उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव न पड़े। लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने पुनः कहा, "इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है कि विश्व की समस्याओं के साथ ही भारतीय समस्याओं का समाधान भी समाजवाद द्वारा ही सम्भव है। समाजवाद मात्र एक आर्थिक सिद्धान्त ही नहीं है, यह एक जीवन दर्शन भी है। इसीलिए यह मुझे रुचता भी है। निर्धनता निवारण, वृत्तिहीनता की समस्या का समाधान एवं पतन की स्थिति को दूर करने के लिए, मैं समाजवाद का कोई अन्य विकल्प नहीं देखता।"

मार्क्स के प्रभाव ने द्धजैसा कि पहले विचार किया गया है), उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के पूँजीवादी लोकतन्त्र को चुनौती देने के लिए प्रोत्साहन दिया। वे पूँजीवाद के कट्टर विरोधी थे, जो कि औद्योगिक युग की देन है और जो कि साम्राज्यवाद की अन्तिम दशा है। नेहरू के अनुसार, उनके लिए केवल विकल्प समाजवाद को अपनाना है। उन्होंने समाजवाद का अध्ययन व्यापक दृष्टिकोण से किया। उन्होंने कहा, "आज का विश्व अनिवार्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय है, चाहे उसका राजनीतिक ढाँचा पीछे रह रहा है और राष्ट्रीय कहलाता है। अगर समाजवाद को सफल होना है, तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय विश्व–समाजवाद का रूप धारण करना होगा।" चाहे नेहरू का मार्क्सवाद की ओर काफी गहरा झुकाव था, पर वे साम्यवादी नहीं थे।

उन्होंने स्वीकार किया, शायद आंशिक रूप से मेरी जड़ें अब भी उन्नीसवीं सदी में हैं और इसमें से पूर्ण रूप से बाहर निकल आने के लिए

मैं उदार मानववादी प्रथाओं से प्रभावित हुआ हूँ।'' स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् नेहरू का सोवियत रूस की ओर झुकाव यह सिद्ध करता है कि नेहरू सोवियत व्यवस्था से प्रभावित हुए, यद्यपि यथार्थवादी होने के कारण वे उसे भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ढालना चाहते थे। नेहरू के ऊपर रूसी प्रभाव का अत्यन्त विश्लेषणात्मक प्रस्तुतन मेहता ने इन शब्दों में किया है, ''यह अधिकतर रूसी क्रान्ति का प्रभाव ही था जिसने नेहरू की आस्था को उदारवाद से समाजवाद की ओर अर्थात् मिल से मार्क्स की ओर प्रवर्तित किया। जीवन के अन्त तक पुरातनपन्थी समाजवाद तथा इसके अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के प्रति उनका सन्देह बना रहा।''

नेहरू की यूरोप तथा रूस की यात्रा, उनके द्वारा सम्मेलनों में भाग लेने और वामपक्षी संगठनों से सम्पर्क स्थापित करने तथा भारत के मेहनतकश लोगों के बीच में घूमने के संक्षिप्त इतिहास से पता चलता है कि चाहे नेहरू बुर्जुआ श्रेणी में से थे, विभिन्न प्रभावों तथा धारणाओं के कारण समाजवादी बन गए। भारत के लोगों की ग़रीबी से प्रभावित होकर, और उसे विज्ञान तथा उद्योग–विज्ञान की सहायता से उत्पादन को बढ़ाकर, दूर करने की सम्भावना को देखकर, नेहरू ने समाजवादी जीवन के सिद्धान्त के रूप में उसे स्वीकार किया और भारतीय संसद द्वारा भारत के लिए समाजवादी समाज की व्यवस्था को अपना लिया गया।

नेहरू के अपने शब्दों में, ''मेरे लिए समाजवाद मात्र एक सिद्धान्त ही नहीं है, वह एक धर्म मत है जिसे मैं मस्तिष्क और हृदय दोनों में स्थान देता हूँ।'' यह कहा जा सकता है कि यद्यपि तीसरे दशक में नेहरू का विश्वास वैज्ञानिक समाजवाद में था, पर जब उनके प्रधानमन्त्री पद के दौरान उनके सामने प्रशासकीय समस्याएँ आईं तो वे यथातथ्यवादी बन गए। वे अपने लोगों पर किसी प्रकार की भी विचारधारा को थोपना नहीं चाहते थे। 26 दिसम्बर, 1950 को भारतीय केमिकल मैनुफेक्चुर्स एसोसिएशन को नई दिल्ली में सम्बोधित करते हुए उन्होंने अपने यथातथ्यवादी होने का प्रमाण दिया। उन्होंने कहा, ''इस विश्व में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ तथा सिद्धान्त हैं। मैं समझता हूँ कि उनमें कुछ–न–कुछ सच्चाई अवश्य ही है। परन्तु मेरी निजी धारणा यह है कि चाहे यह आवश्यक है कि हम अपनी

विचारधारा को आधार बनाएँ, परन्तु उसे बलपूर्वक दूसरों से मनवाना न्यायोजित नहीं है...। व्यवहार में आपको स्थिति के तथ्यों को ध्यान में रखना होगा और या तो अपने आपको अथवा अपने सिद्धान्त को उनके अनुकूल ढालना होगा।''

4 मार्च, 1949 को व्यापारी संघ तथा 4 जनवरी, 1957 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सामने दिए गए भाषण से उनके वास्तविक दृष्टिकोण तथा उनकी लोकतन्त्रीय समाजवाद की धारणा का स्पष्ट रूप से पता चलता है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जिन विधियों से लोगों को लाभ पहुँचेगा और जनता की तसल्ली होगी, वे विधियाँ अपने आप उपयोगी सिद्ध होंगी। एक गम्भीर प्रेक्षक के रूप में, उन्होंने यह महसूस किया कि बहुत से देशों में पुराने ढंग के पूँजीवाद को नए लोकतन्त्रीय समाजवाद में परिवर्तित किया जा रहा है। अतः वे समाजवाद की कठोर परिभाषा बनाए रखने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने राय व्यक्त की कि लोकतन्त्रीय समाजवाद में तीन बातें होती हैं—द्ध1) अभिग्रहण के स्थान पर सहयोग; द्ध2) प्रत्येक के व्यक्तित्व के विकास के लिए सामान्य अवसर प्रदान करना; तथा द्ध3) इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोकतन्त्रीय प्रक्रिया तथा शान्तिपूर्ण और वैध विधियों का प्रयोग करना। उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में कहा, ''इन 'वादों' के प्रति मेरा विशेष आकर्षण नहीं है। और यही मेरा तरीका है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि देश का तरीका भी इस समस्या पर विचार करने के लिए यथातथ्यवादी होना चाहिए, और मैं यह भूल जाना चाहता हूँ कि इसके साथ 'वाद' चिपका हुआ है। हमारी वर्तमान समस्या लोगों के जीवन–स्तर को ऊपर उठाने की है, उनकी दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हों, उन्हें अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए रोटी–कपड़ा दिया जाए और जीवन में उन्नति करने के लिए उनकी सहायता की जाए।''

नेहरू ने वास्तव में तीसरे दशक के शुरू में पूँजीवाद को साम्यवाद का चश्मा लगाकर देखा। उन्होंने पूँजीवाद की बुराइयों तथा इसके पतन की अवश्यम्भाविता के बारे में साम्यवादियों का अनुसरण किया। उन्होने मार्क्सवादियों की इस धारणा का समर्थन किया कि पूँजीवाद के कारण अमीर और अधिक अमीर बने रहें और ग़रीब और अधिक ग़रीब। उन्होंने

महसूस किया कि चाहे पूँजीवाद ने उत्पादन को बढ़ाया है, वह धन के उचित बँटवारे की समस्या का समाधान करने में असफल रहा है। अतः ग़रीबी और बेकारी बढ़ रही है। उन्होंने वर्तमान झगड़ों के लिए पूँजीवाद को ही उत्तरदायी ठहराया। विलर्ड रेंज के शब्दों में, ''...उन्होंने तर्क द्वारा सिद्ध किया है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का ही एक पैतृक लक्षण है और जब तक साम्राज्यवाद कायम रहेगा, प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी शक्तियों में तथा शोषकों और शोषितों के बीच में युद्ध होते रहेंगे।''

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, नेहरू ने पूँजीवादी देशों के रवैये में परिवर्तन देखा। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के 'न्यू डील' कानून के पास हो जाने, तथा ग्रेट ब्रिटेन में कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त के उदय होने के कारण 'खुले मुकाबले के सिद्धान्त' को काफी धक्का लगा तथा पूँजीवाद की धारणा में भारी बदलाव हुआ। पूँजीवाद को सभ्य, विनीत तथा भावित किया गया। इसकी बहुत–सी बुराइयाँ दूर हो चुकी थीं। लोकतन्त्र की कार्यविधि के पुनरुत्थान के कारण अमीरों को और अधिक अमीर बनने तथा ग़रीबों को औरं अधिक ग़रीब बनने से रोका गया। पहली बार पूँजीवादी राज्यों में बड़े–बड़े व्यापारियों तथा उद्योगों पर नियन्त्रण रखना शुरू किया और जनता की दशा को सुधारने की ओर कदम उठाए। इससे पूँजीवाद की ओर नेहरू के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। अब उन्हें पूँजीवाद से कोई चिढ़ न रही। पूँजीवाद के गुणों, जैसे कि उत्पादन को बढ़ावा देने तथा अनुसन्धान तथा औद्योगिकी को प्रोत्साहन देने के कारण नेहरू ने देश में पूँजीवाद को राज्य के नियन्त्रण में बनाए रखने का निश्चय किया। जिस संशोधित व्यवस्थ को वे भारत में लागू करना चाहते थे, उसे मिली–जुली अर्थव्यवस्था का नाम दिया गया। उनके दृष्टिकोण में इस परिवर्तन का यह अर्थ नहीं है कि उनके विचारों में असंगति थी। अपितु इससे उनके यथार्थवादी होने का पता चलता है। इससे उन्होंने समाजवादी विचारधारा का त्याग नहीं कर दिया। 1955 में उन्होंने कहा, ''मैं भी भारत तथा विश्व में श्रेणीहीन समाज की स्थापना चाहता हूँ। मैं नहीं चाहता कि विशेषाधिकारों वाली कोई श्रेणी हो। मैं समाज में विभिन्न श्रेणियों के बीच में बहुत अधिक असमानता नहीं चाहता।'' उनकी प्रेरणा पर कांग्रेस ने 1955 के आखिरी अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित किया, ''हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य

है कि कल्याण राज्य तथा एक समाजवादी अर्थव्यवस्था। अतः आर्थिक नीति का उद्‌देश्य यह सुनिश्चित करना हो कि उपयोगी पदार्थों का वितरण पर्याप्त तथा समान हो।'' नौ वर्ष उपरान्त उन्होंने अपने समाजवादी विचारों को कांग्रेस के सिद्धान्त में स्थान दिला दिया तथा समाजवादी नियोजन को कांग्रेस के आर्थिक कार्यक्रम के घोषणापत्र में स्थान मिल गया। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि नेहरूजी की सामाजिक विचारधारा के कठोर भावों में काफी परिवर्तन आया। स्मिथ के शब्दों में, ''स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा ऊँचे पद के उत्तरदायित्वों ने नेहरू को देश की समस्याओं का समाधान करने के लिए कम क्रान्तिकारी साधन अपनाने के लिए बाध्य कर दिया।''

किन्तु नेहरू का समाजवाद सदा एक क्रियाशील मानववाद रहा। ऐसा मानववाद जिसके द्वारा मानव मुक्ति पाना चाहता है कल की असुरक्षा की शक्तियों से और मानव की सर्जन–शक्ति का नियोजन रचनात्मक कार्यों में करने के लिए अपने समस्त जीवन में उन्होंने भारतीय जनता को समाजवादी भारत के निर्माण के महान् उद्यम से सम्बद्ध रखने का यत्न किया। उन्होंने जिस समाजवाद को सुदृढ़ नींव प्रदान की उसे उन्होंने नए सम्पृक्त अर्थ तथा मुख्यार्थ प्रदान किए। समय बीतने के साथ उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि समावाद की प्रतिबद्धता से मुकरने का कोई प्रश्न ही नहीं है। पी.सी. जोशी के शब्दों में, ''उनकी समाजवादी अवधारणा इतनी संश्लिष्ट थी कि वह उनके द्वारा स्वयं चुनी हुई प्रतीत होती थी। उपयुक्त ही लगता है कि इसे एक ऐसी दृष्टि के रूप में परिभाषित किया जाए जो इतनी ही समाजवादी थी जितनी मानववादी।''

5

नेहरू एवं लोकतन्त्र

लोकतन्त्र की कोई नई धारणा नेहरू ने प्रस्तुत नहीं की। उनके लोकतन्त्रीय चिन्तन में लॉक, रूसो, मोंटेस्क्यो, बेंथस, जे.एम. मिल तथा कार्ल मार्क्स आदि विचारकों के चिन्तन का मिश्रण है। अपनी प्रसिद्ध रचनाओं में नेहरू ने मोंटेस्क्यो कीए रूसो की तथा जान स्टुअर्ट मिल की नामक रचनाओं के हवाले दिए हैं। इससे पता चलता है कि नेहरू पर इन विचारकों के चिन्तन का गहरा प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप वे लोकतन्त्र के प्रेमी बन गए। 1935 में उन्होंने इस बात को स्वीकार किया था, ''मेरे विचार अब भी उन्नीसवीं शताब्दी वाले हैं और मुझ पर मानववादी उदार प्रथाओं का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।''

मानववादी तथा उदारवादी प्रभावों के अतिरिक्त नेहरू की व्यक्ति के समाज में सर्वांगीण विकास की धारणा ने उन्हें लोकतन्त्रवादी बना दिया। उनके शब्दों में, ''...व्यक्ति ही को ध्यान में रखा जाता है...कोई भी व्यक्ति नगण्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना महत्त्व है और उसे विकास के पूर्ण अवसर प्रदान किए जाने चाहिएँ।'' समूह में व्यक्ति के अस्तित्व के खत्म हो जाने के कारण नेहरू को दुख होता था। अतः उन्होंने ऐसे लोकतन्त्रीय समाज की स्थापना पर बल दिया जिसमें व्यक्ति को विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त हो सकें।'' उन्होंने एक बार कहा था, ''मैं स्वभाव तथा प्राप्त प्रशिक्षण की अपेक्षा से एक व्यक्ति हूँ तथा बौद्धिक दृष्टि से एक समाजवादी हूँ। मैं

समझता हूँ कि समाज व्यक्तित्व का दमन कर उसकी हत्या नहीं करता। निस्सन्देह आकृष्ट हूँ मैं इसकी ओर क्योंकि असंख्य लोगों को इससे आर्थिक और सांस्कृतिक बन्धनों से मुक्ति मिलेगी।''

व्यक्ति की प्रतिष्ठा में विश्वास ने नेहरू की लोगों में श्रद्धा उत्पन्न की। लोगों में श्रद्धा ही उनके लोकतन्त्र की संकल्पना का सार है। कलकत्ता में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा, ''विशाल जनता को विश्वास में लेना जरूरी है। उनके मन में यह संवेदना जाग्रत होनी चाहिए कि वे राष्ट्र को चलाने में साँझी हैं, वे सरकार तथा उद्योगों को चलाने में भागी हैं। यही लोकतन्त्र का सार है।''

उनके मन में मानववादी भावों, व्यक्तिवाद में श्रद्धा तथा लोगों में अधिक श्रद्धा के फलस्वरूप, उन्होंने निरंकुशतावाद की निन्दा की और वे लोकतन्त्र की ओर बढ़े। उन्होंने फासिस्टवाद तथा साम्यवाद की एक दलवादी धारणा होने के कारण निन्दा की। यदि फासिस्टवाद (उग्र राष्ट्रवाद) पूँजीवाद को बनाए रखने के लिए एक भद्दा तथा अत्याचारी प्रयत्न है, तो साम्यवाद भी 'मनुष्य की स्वतन्त्रता भावना' को कुचलने का असभ्य तरीका है।

इस प्रकार नेहरू ने अधिनायकवाद की निन्दा करते हुए लोकतन्त्र को जीवन की पद्धति तथा सामाजिक ढाँचे का आधार माना। लोकतन्त्र से उनका अभिप्राय कुछ एक राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था नहीं था। लोकतन्त्र से उनका अभिप्राय एक गतिशील समाज की स्थापना था, जिसमें व्यक्ति को उसके विकास के लिए पूरे अवसर प्राप्त हों। वे लोकतन्त्र शब्द की कोई निश्चित परिभाषा देने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इससे उसके विशाल क्षेत्र को सीमित करने वाली बात हो जाती है। अतः हम उनके मन में से समय–समय पर निकली लोकतन्त्र की विभिन्न परिभाषाओं को देखते हैं।

स्वतन्त्रता–संग्राम के दौरान उनके लिए लोकतन्त्र का अर्थ था, 'स्वराज्य' तथा विदेशी दासता से मुक्ति। बाद में उनके समाजवादी विचारों के कारण उनके द्वारा लोकतन्त्र की व्याख्या में भी परिवर्तन आ गया। अपने जीवन के अन्त तक उन्होंने इस शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया। अपनी एक विशाल परिभाषा में उन्होंने कहा, ''लोकतन्त्र न केवल राजनीतिक, न केवल आर्थिक, परन्तु मानसिक वस्तु है,...इसमें जहाँ तक सम्भव हो, राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र

में सबके लिए समान अवसरों की उपलब्धि शामिल है। इसमें व्यक्ति के विकास की स्वतन्त्रता तथा अपनी क्षमता तथा योग्यता का विकास करना भी शामिल है। इसमें उस स्थिति में दूसरों के विचारों को सहन करना शामिल है, जब उनके आपसे काफी मतभेद हों। यह एक गतिशील वस्तु है, गतिहीन नहीं है। यह एक आपसी पहुँच अथवा ढंग है, जिसे हम अपनी राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त कर सकते हैं।''

इस परिभाषा के विश्लेषण से पता चलता है कि नेहरू के विचारानुसार, लोकतन्त्र का अर्थ केवल व्यक्ति की आर्थिक दशा का सुधार ही नहीं, वरन् यह उसकी सर्वांगीण उन्नति है। एक अन्य भाषण में उन्होंने लोकतन्त्र के विभिन्न पहलुओं को इकट्ठा करके इसके बहुत गहरे तथा विशाल अर्थ प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा, ''...हम एक बढ़िया जीवन पैदा करना चाहते हैं, एक अच्छा व्यक्ति...हम वापस व्यक्ति की ओर जाते हैं, उसे अपने आपको जानने का अवसर देते हैं और संस्थाओं तथा सरकार के स्वरूपों का इस ढंग से गठन करते हैं, जिससे इस पहलू को प्रोत्साहन मिले।''

लोकतन्त्र की इस विशाल व्याख्या से सिद्ध होता है कि नेहरू ने व्यक्ति को लोकतन्त्र से अलग नहीं माना। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास केवल लोकतन्त्र में ही सम्भव है।

डी. ई. स्मिथ ने नेहरू द्वारा समय–समय पर की गई लोकतन्त्र की परिभाषा का सारांश बताते हुए माना है कि कुछ अतिछादन अपरिहार्य था। इन परिभाषाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है : द्धक) स्वतन्त्रता के रूप में लोकतन्त्र की परिभाषा, जिसमें मानवीय आदर्शों को प्राप्त किया जा सकता है; द्धख) लोकतन्त्र की कुछ सरकारी संस्थाओं तथा क्रियाओं के रूप में परिभाषा; द्धग) एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में लोकतन्त्र की परिभाषा, जिसमें धीरे–धीरे आर्थिक तथा सामाजिक समानता प्राप्त की जाए; द्धघ) लोकतन्त्र की परिभाषा, व्यक्ति तथा समाज द्वारा समस्याओं के समाधान के लिए उठाए गए कदम। इन परिभाषाओं की संक्षिप्त व्याख्या से हम नेहरू की लोकतन्त्र के बारे में धारणा को समझने के योग्य हो सकेंगे।

व्यक्तिवादी होने के नाते नेहरू बीसवीं सदी में व्यक्ति के भाग्य को बहुत महत्त्व प्रदान करते हैं। एक सच्चे लोकतन्त्रीय राज्य में, मानवीय आदर्शों की प्राप्ति तथा व्यक्ति के सृजनात्मक विकास के लिए स्वतन्त्रता होती है। नेहरूजी मनुष्य के अव्यक्तिकरण तथा पाशविकीकरण के कारण अत्यन्त दुखी हुए। उन्होंने दुखी होकर कहा, ''व्यक्ति अधिक–से–अधिक भीड़ को महत्त्व देता जा रहा है। भीड़ अपने ऊपर उत्तरदायित्व नहीं लेती और प्रायः व्यक्ति को ही ऐसा करना पड़ता है। भीड़ का व्यक्ति पर नियन्त्रण होता है, पर उसकी अपनी आत्मा होती है। लगभग हर जगह पर व्यक्ति अपने आपको भीड़ के अधीन करता चला जा रहा है, अथवा उसके द्वारा पकड़ा जा रहा है। भीड़ निर्दयी है। भीड़ मुझे डराती है।'' उनके विचार में युद्ध तथा हिंसा ही व्यक्ति के इस दमन तथा असभ्याचरण के लिए उत्तदायी है। उन्हें आशंका थी कि अगर यही प्रक्रिया चलती रही तो समझदार व्यक्ति के लिए जीवन नीरस हो जाएगा। इससे तानाशाही सरकारों के प्रति उनका विरोध स्पष्ट हो गया।

उन्होंने इस बात पर बल दिया कि केवल लोकतन्त्रीय ढाँचे में ही मनुष्य की योग्यताओं का बढ़िया तरीके से विकास किया जा सकता है। उनकी सुप्रसिद्ध रचना, में उन्होंने विचार, लेखन तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता के लिए कई हवाले प्रस्तुत किए हैं। दिसम्बर 13, 1946 को नेहरू द्वारा संविधान–सभा में रखे गए प्रस्तावों में भी उन्होंने भारतीयों के लिए विचार, कथन, धर्म, पूजा, काम, सभा तथा अमल की स्वतन्त्रता की गारंटी पर बल दिया। डॉ. राधाकृष्णन ने यह उचित ही कहा है, ''जवाहरलाल नेहरू एक उल्लेखनीय राजनेता थे तथा मानव स्वतन्त्रता के प्रति उनकी सेवाएँ हम भुला नहीं सकते। उन्हें न केवल भारतीयों की, अपितु विश्व के सभी लोगों की स्वतन्त्रता अभीष्ट थी। इसमें वह वर्ग, पन्थ तथा देश का कोई भेद नहीं रखते थे।''

परन्तु नेहरू निरंकुश स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं थे। संसद में एक बहस के दौरान उन्होंने कहा, ''एक लोकतन्त्रीय समाज में, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणा को सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ सन्तुलित करना होगा और व्यक्ति को सामाजिक गुट के साथ। व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को हानि पहुँचाने का कोई अधिकार नहीं है।''

उन्होंने स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी बुरा नहीं माना। वे राज्य की सुरक्षा तथा शक्ति की स्वतन्त्रता में सन्तुलन कायम करने के इच्छुक थे। यद्यपि व्यक्ति को अपनी सुरक्षा के लिए कानून की सहायता मिलनी चाहिए, तो भी समाज को भी स्वार्थी तथा लुटेरे व्यक्तियों से सुरक्षा की ज़रूरत है। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि राज्य की सुरक्षा तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के बीच में रेखा खींचना कठिन है। एक भाषण में उन्होंने कहा, ''युद्ध के समय लोकतन्त्र को राज्य का पक्ष लेना चाहिए और शान्ति–काल में व्यक्ति का।''

नेहरू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा केन्द्रीकरण की बढ़ रही रुचि के बीच में संघर्ष का भी अनुभव किया। उन्होंने ब्रिटिश संसदीय लोकतन्त्र में भी इस प्रवृत्ति का पता लगाया। इस प्रकार का संघर्ष केवल मन्त्रिमंडल में ही नहीं, अपितु मुट्ठीभर विशेषज्ञों में भी देखा जाता है, क्योंकि संसद के लिए कुछ एक जटिल तथा तकनीकी प्रश्नों का हल सम्भव नहीं होता। उन्होंने दलील दी कि सरकार का सारा ढाँचा इसी के कारण संकटग्रस्त हो गया है। इस प्रकार की स्थिति से वे चिन्तित नहीं हुए। उन्होंने कहा कि इस प्रकार का झुकाव भारत के लिए बहुत आवश्यक है, जो कि अपनी आर्थिक दशा को सुधारने में लगा है। उन्होंने कहा, ''भारत का राष्ट्रीय आयोजना का तजुर्बा आधुनिक युग की कठिन समस्याओं में से एक महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान है। यह समस्या है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उत्साह को कैसे बनाए रखा जाए और इसके साथ केन्द्रित सामाजिक नियन्त्रण तथा लोगों के आर्थिक जीवन की आयोजना कैसे बनाई जाए?''

चाहे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बहुत–सी चुनौतियों का सामना करना होता है, परन्तु यह आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्य का अनिवार्य अंग है। अगर व्यक्ति को मानवीय आदर्शों को प्राप्त करने का अवसर दिया गया, तो लोकतन्त्र ठप्प हो जाएगा। अशोक मेहता के शब्दों में, ''अपने लोगों के विश्वास के कारण वह एक पक्के प्रजातन्त्रवादी बन गए। वह कभी लोगों को व्यापक अधिकार तथा उत्तरदायित्व देने में संकोच नहीं करते थे, क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि इनके बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग की लोगों में योग्यता है।''

नेहरू ने लोकतन्त्र की प्रतिनिधि संस्थाओं के रूप में भी परिभाषा प्रस्तुत की है। इस प्रकार की परिभाषा में निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा लौकिक प्रभुसत्ता, बहुमत का शासन तथा उत्तरदायी राजनीतिक दल तथा नेता शामिल हैं।

नेहरू के अनुसार लौकिक प्रभुसत्ता का विचार भारतीय प्रथाओं के लिए विदेशी नहीं था। उनका मानना था कि भारत के लोग अपने संविधान का स्वयं निर्माण करें। उन्होंने कहा कि ''संविधान का ब्यौरा तैयार करना तो वकीलों का काम है, पर एक राज्य तथा सारे भारत के संविधान के लिए बुनियादी आधार तो एक ही हो सकता है कि शक्ति तथा उत्तरदायित्व तथा अन्तिम प्रभुसत्ता तो आवश्यक ही लोगों में हो।'' इस आकांक्षा की पूर्ति हो गई, क्योंकि संविधान सभा में संविधान का प्रारूप तैयार करके उसे 26 नवम्बर, 1949 को स्वीकार कर लिया गया। लोगों की इच्छाओं को व्यक्त करने वाली पहली संसद का चुनाव 1951–52 में हुआ था। उनके अनुसार राजनीतिक समानता का अर्थ है मताधिकार प्रदान करना, जो कि लोकतन्त्र का एक अनिवार्य तत्त्व है। उन्होंने कहा कि ''राजनीतिक शक्ति, जोकि वोट द्वारा प्राप्त होनी थी, वह एक परछाई–सी बनकर रह गई, क्योंकि आर्थिक शक्ति इसके साथ नहीं थी, और पहले लोकतन्त्रवादियों की धारणा की समानता वोट के अधिकार के फलस्वरूप प्राप्त होगी, झूठी सिद्ध हुई।'' उन्नीस वर्ष पश्चात्, 1951 में, उन्होंने, ''राजनीतिक समानता को दूसरी समानताओं की प्राप्ति का आधार माना।''

इसके अलावा उन्होंने कहा कि बहुमत का शासन लोकतन्त्र का एक अभिन्न अंग है। उनके अपने शब्दों में, ''अगर सरकार बहुमत के विचारों के अनुकूल चलती है तो वह लोकतन्त्रीय सरकार है।'' परन्तु नेहरू ने इस बात को भी माना कि बहुमत हमेशा ठीक नहीं हो सकता। अतः उन्होंने भारत में अल्पसंख्यकों की सांस्कृतिक तथा धार्मिक सुरक्षा के लिए संवैधानिक उपचारों की राय दी। उन्होंने इस बात पर बल दिया, ''...भारत जैसे विशाल तथा विभिन्नता वाले देश में, एक साधारण प्रकार का लोकतन्त्र, जिसमें अल्पसंख्यकों को शासन करने का अधिकार दिया जाए, बिल्कुल सन्तोषजनक तथा वांछनीय नहीं है, चाहे इसे स्थापित भी किया जा सके।''

नेहरू 'बुद्धिहीन जनता' के बारे में सचेत थे, जो कि ग़लत प्रकार के नेताओं का चुनाव करके स्तर के पतन के लिए उत्तरदायी है। प्रचार–अभियान के शोर ने लोगों के चिन्तन को बदल दिया है, जिसके फलस्वरूप ''तानाशाह तथा ऐसे राजनीतिज्ञों को चुन लिया जाता है, जो बिल्कुल बुद्धू होते हैं और संसार के सारे शोर की परवाह नहीं करते और फिर भी नेता बने रहते हैं। परन्तु उनका प्रतिद्वन्द्वी पराजित होता है, क्योंकि वह इस सारे शोर को सहन नहीं कर सकता।''

अतः आधुनिक लोकतन्त्र गलत प्रकार के लोगों का चुनाव करने के लिए उत्तरदायी है, चाहे ऐसे राजनीतिक लोगों से ठीक प्रकार की नीतियों का निर्माण करवाने की आशा की जाती है। लोकतन्त्र को छोड़कर दूसरे ढंगों द्वारा ठीक प्रकार के नेताओं को चुनने के सारे प्रयत्न असफल हुए है। इससे कशमकश पैदा होती है, जिससे लोकतन्त्रीय राज्य को उलझना पड़ता है। परन्तु नेहरू ने इसमें कोई उदासी न दिखाई और राय दी कि लोकतन्त्रीय राज्य को ''ठीक ढंगों द्वारा ग़लत व्यक्तियों को चुनने से भी पीछे हटना नहीं चाहिए और अच्छाई की आशा करनी चाहिए।''

प्रारंभ में नेहरू इंगलैंड की दो–दलीय पद्धति के आलोचक थे, क्योंकि इस पद्धति में मतदाता शुरू में अपनी इच्छा के अनुसार अपने प्रतिनिधि चुनने का बहुत कम अवसर रह जाता है और निर्वाचित सदस्य भी अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करने की अपेक्षा अपने दल के ही अधीन हो जाते हैं। 1951 से उन्होंने इसके बारे में अपने विचारों में तब्दीली की और कहा कि अनुशासित राजनीतिक दलों द्वारा ही लोकतन्त्र सफलतापूर्वक काम कर सकता है। अनुशासित राजनीतिक दल न केवल कुशल सरकार के लिए ही अनिवार्य है, अपितु जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए भी वे महत्त्वपूर्ण हैं।

चाहे स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय कांग्रेस को ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और नेहरू इसके अगुआ थे, परन्तु उन्होंने बहुत बार शक्तिशाली विरोधी दल की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि शक्तिशाली विरोधी दल कांग्रेस के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा। परन्तु प्रायः आलोचक, नेहरू पर विपक्ष के प्रति असहिष्णुता तथा कांग्रेस दल के लिए अगाध प्रेम का आरोप लगाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नेहरू ने सदैव राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़

बनाने के लिए कांग्रेस को ही श्रेय दिया। उन्होंने 1954 में कहा, "चह कांग्रेस के भाग्य में ही है कि वह इस संकट के समय देश की एकता के लिए परिश्रम करें।"

उन्होंने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की भाँति विपक्ष की धारणा पर बल देने की रुचि की कई बार निन्दा की। उन्होंने भारत की एकता तथा स्थिरत के लिए कांग्रेस जैसे संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। यह एक खतरनाक विचारधारा थी। स्मिथ ने भी कहा है, "नेहरू द्वारा राष्ट्रीय एकता के लिए केवल एक ही राजनीतिक दल पर बल देने से उनके लोकतन्त्रीय सिद्धान्त की दुर्बलता का पता चलता है।"

लोकतन्त्र में उत्तरदायी नेतृत्व की समस्या बहुत कठिन है। नेता लोग प्रायः सच्चाई को छिपाते हैं और नैतिक स्तरों की अवहेलना करते हैं। एक सच्चे नेता को, जिसकी धारणा दृढ़ है, अपने आपको साधारण जनता की सोच–शक्ति के बराबर नहीं लाना चाहिए। परन्तु उसे केवल अपनी मन–मरजी से काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह लोगों से, जिनका कि वह प्रतिनिधि है, अलग हो जाएगा। एक सत्यनिष्ठा वाला राजनीतिज्ञ तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह लोगों से सत्य का पालन नहीं करवा सकता। एक नेता के रूप में राजनीतिज्ञ को "वातावरण के अनुकूल अपने आपको ढाल लेना चाहिए और उसे कम बुराई को अपनाना चाहिए।"

नेहरू ने महसूस किया कि लोकतन्त्र में नेतृत्व की समस्या का कोई उत्तर नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक पीढ़ी को अपना–अपना उत्तर ही ढूँढ़ना होगा।

अतः नेहरू की लोकतन्त्र के बारे में धारणा थी–कुछ सरकारी संस्थाओं तथा नीतियों, जैसे कि प्रतिनिधियों द्वारा लौकिक प्रभुसत्ता, वयस्क मताधिकार द्वारा चुनाव, बहुमत द्वारा शासन, उत्तरदायी राजनीतिक दल तथा उत्तरदायी नेतृत्व। उनके अनुसार इन महत्वपूर्ण तत्त्वों के अभाव के फलस्वरूप लोकतन्त्र का पतन हो जाएगा।

नेहरू ने लोकतन्त्र का चित्र खींचते हुए कहा कि यह समाज की एक ऐसी रचना है, जिसमें धीरे–धीरे सामाजिक तथा आर्थिक समानता को प्राप्त

किया जाता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, "लोकतन्त्र का अर्थ है समानता और लोकतन्त्र केवल समानता वाले समाज में ही पनप सकता है।"

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि उन्नीसवीं शताब्दी में लोकतन्त्र तथा राजनीतिक शक्ति कुलीन वर्गों की एकाधिकार रही है। राजनीतिक समानता के सिद्धान्त, प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक मत, के आधार पर बना राजनीतिक ढाँचा, वास्तव में लोकतन्त्र से बहुत दूर है। लोकतन्त्र की मशीनरी को सत्तारूढ़ दल अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए प्रयुक्त करता है। अतः नेहरू ने पूँजीवाद तथा लोकतन्त्र को दो परस्पर–विरोधी शब्द माना है। वास्तविक लोकतन्त्र, पूँजीवाद को समाप्त करके तथा आर्थिक समानता लाकर कायम किया जा सकता है। भारतीय संविधान में दर्ज राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्त, जिनमें नेहरू की आकांक्षाएँ देखने को मिलती हैं, "'श्रेणीहीन तथा जातिहीन समाज' की ओर एक स्पष्ट कदम है। समानता के लिए उनकी लालसा, लोकसभा में उनकी टिप्पणी से स्पष्ट होती है, "जो कुछ भी वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक असमानता को बनाए रखने का समर्थन करता है, वह बुरा है।"

उन्होंने सारी जातीय प्रणाली की निन्दा की, जिसके कारण भारत में सामाजिक समानता के रास्ते में बाधा उपस्थित होती है और जो लोकतन्त्रीय घटनाओं तथा वर्तमान दशाओं का विरोधी है। उनके शब्दों में, "आज के समाज के सन्दर्भ में, जाति–प्रथा और वह सब कुछ, जो कि इसके साथ सम्बन्धित है, प्रगति के लिए बिल्कुल बेमेल, प्रतिक्रियावादी प्रतिबन्ध तथा अवरोध है। इसके ढाँचे के अन्तर्गत स्थिति तथा अवसर की समानता नहीं हो सकती और न ही राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र ही सम्भव हो सकता है।"

चूँकि भारत का उद्देश्य लोगों का कल्याण है, इसलिए इसे नई सामाजिक व्यवस्था तथा आर्थिक ढाँचे की ज़रूरत है। इसे ऐसे समाज की ज़रूरत है, जो निजी नफे की लालसा तथा व्यक्तिगत लालच से भरा हुआ न हो, और जो कि सहकारी प्रयत्नों पर आधारित श्रेणीहीन समाज हो। इस प्रकार के समाज को नेहरू ने 'समाज का समाजवादी रूप' कहा और एक प्रकार का 'आर्थिक लोकतन्त्र'।

नेहरू का विचार था कि लोकतन्त्र आत्म–अनुशासन का एक मार्ग है। अतः लोकतन्त्र की पृष्ठभूमि तथा आधार, ''जनता में उसकी शिक्षा के लिए होना चाहिए।'' उनके लिए लोकतन्त्र मूल्यों की योजना तथा जीवन में नैतिक स्तर था। लोकतन्त्र का अर्थ था : स्वतन्त्रता तथा अनुशासन। उनके शब्दों में, ''आप चाहे लोकतन्त्र की परिभाषा सौ तरीकों से करें, परन्तु इन परिभाषाओं में निश्चित रूप में एक परिभाषा समाज का आत्म–अनुशासन है। जितना कम अनुशासन ऊपर से थोपा जाएगा, उतना अधिक आत्म–अनुशासन होगा और लोकतन्त्र का विकास बहुत अधिक होगा।'' इस प्रकार के आत्म–अनुशासन में अल्पसंख्यकों का विचार–विमर्श के पश्चात् बहुमत द्वारा लिए गए निर्णयों को स्वीकार करना होगा।

इस प्रकार से कई लोकतन्त्र की परिभाषा के प्रमाण–चिं हैं, सहिष्णुता तथा शान्तिपूर्वक ढंग।

नेहरू के अनुसार, ''लोकतन्त्र का अर्थ है केवल सहिष्णुता नहीं जो हमारे साथ सहमत हैं, अपितु उनकी भी जिनके साथ हम सहमत नहीं हैं।'' दूसरे शब्दों में सहिष्णुता का मतलब है विभिन्न विचारों के अस्तित्व को स्वीकार करना तथा सबसे शक्तिशाली विचार का अभिभावी होना।

राजनीतिक मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात्, नेहरू ने लोकतन्त्र में शान्तिमय ढंगों के प्रयोग पर बल दिया। उन्होंने कहा कि, ''एक लोकतन्त्रीय राज्य का सार उसके द्वारा शान्तिपूर्वक वातावरण में काम करना है। समस्याएँ चाहे कितनी भी पेचीदा क्यों न हों, उन्हें शान्तिमय ढंगों द्वारा, विचार–विमर्श द्वारा, समझौते द्वारा तथा परिवर्तन द्वारा हल किया जाता है।'' उन पर गांधीजी का इतना गहरा प्रभाव था कि उन्होंने हिंसा में विश्वास करने वालों को लोकतन्त्र का दुश्मन समझा, क्योंकि उनकी इसके सिद्धान्तों में कोई श्रद्धा नहीं होती। उन्होंने राय दी, ''अगर हमने शान्तिपूर्ण विधियों का त्याग किया तो इसका पहला शिकार लोकतन्त्र तथा दूसरा शिकार प्रगति होगी।''

वास्तव में लोकतन्त्र की इस प्रकार की परिभाषा की जड़ें भारत की बीती हुई रूढ़ियों में हैं। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों में विभिन्न जातियों के धर्म, कामों तथा कर्तव्यों की सूचियाँ दी गई हैं, पर उनमें से किसी में भी अधिकारों का कोई वर्णन नहीं किया गया है।

हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि लोकतन्त्र की ये चार अनिवार्य शर्तें हैं। स्मिथ के अनुसार, ''लोकतन्त्र को ऐसी दशा में ठीक ढंग में लागू नहीं किया जा सकेगा, अगर प्रतिनिधि संस्थाएँ व्यक्तियों के अधिकारों को कुचलती रहेंगी अथवा आर्थिक ढाँचे में बड़ी–बड़ी असमानताएँ होंगी अथवा संस्थाएँ प्रचलित धारणाओं के अनुकूल आत्म–अनुशासन के अनुसार चलकर काम नहीं करेंगी।'' वास्तव में सच्चे लोकतन्त्र के ठीक प्रकार से चलाने के लिए इन चार तत्त्वों को लागू करना आवश्यक है।

उनकी पुस्तक 'भारत की खोज' को पढ़ने से यह साफ लगता है कि उनके मन में गणराज्यों के प्रति सम्मान का भाव था। सांस्कृतिक विरासत की इस अमूल्य निधि को उन्होंने आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उद्धृत किया। नेहरू जी की गांधी जी पर अपार श्रद्धा थी तथा गांधी जी का भी उन पर अगाध विश्वास था। पंडित नेहरू यह साफ–साफ देख रहे थे कि किस तरह गांधी जी ने देश के आम लोगों को स्वतंत्रता आंदोलन का हिस्सा बना दिया है। इससे नेहरू जी के मन में आम लोगों के प्रति संप्रक्ति और गहरी हो गई। भारत की आम जनता गांधी जी के संपर्क ने ही नेहरू जी को जोड़ा। सन् 1920 में पहली बार वे गाँव के प्रत्यक्ष संपर्क में आए और उसे महसूस किया। अपनी आत्मकथा में उन्होंने अंगीकार किया, ''तब से मेरे दिमाग में सदा यह नंगी–भूखी जनता ही भारत की तस्वीर रही है।'' उनका यह विश्वास इसके बाद से दृढ़ होता चला गया की एकमात्र राजनीतिक व्यवस्था लोकतांत्रिक ही हो सकती है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान कई स्थानों पर पं॰ नेहरू ने इस प्रकार के विचार स्पष्ट किए हैं। 1929 के लाहौर अधिवेशन में तो उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में साफ–साफ घोषणा की कि ''हमारा विचार है कि दूसरे की भाँति भारतीयों का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वे स्वाधीन हों, अपने श्रम–फल का उपभोग करें, जीवन के लिए जरूरी वस्तुएँ और उन्नति के पूर्ण अवसर प्राप्त करें।'' उसके सात साल बाद सन् 1936 में कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में अपनी इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने घोषण की कि, ''भारत का अंतिम उद्देश्य 'लोकतांत्रिक राष्ट्र की स्थापना' करना है। भारत एक प्रभुतासंपन्न राष्ट्र के रूप में 'पूर्ण लोकतंत्र' को प्रगति और उन्नति के पथ पर ले जाएगा तथा 'एक नई सामाजिक और आर्थिक

व्यवस्था' के युग का सूत्रपात करेगा।'' इसमें 'पूर्ण लोकतंत्र' शब्द काफी महत्व का है। पं॰ नेहरू के लिए 'लोकतंत्र' मात्र एक शासन प्रणाली नहीं थी अपितु वह एक समस्त जीवन पद्धति थी। उनके लोकतंत्र का संबंध सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्वरूप से था। यहाँ तक कि उसका विस्तार नैतिक मूल्यों तक था। इसलिए वे जब भी 'लोकतंत्र' की बात करते थे, तब उसके साथ एक नई सामाजिक और आर्थिक प्रबन्ध की बात कहना नहीं भूलते थे। पं॰ नेहरू ने संविधान निर्माता के रूप में भी उन अधिकांश मुद्दों पर बहस में सक्रिय भाग लिया जिनका संबंध संसदीय प्रजातंत्र को सुदृढ़ बनाने से था। मौलिक अधिकार, पिछड़े वर्गों का विकास तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे विषयों पर पं॰ नेहरू ने अपने विचार बड़ी तार्किकता के साथ रखे और उन्हें सभी ने स्वीकार भी किया। अपने देश की सामाजिक और आर्थिक स्थितियों की पं॰ जवाहरलाल नेहरू को गहरी पहचान थी। उनकी मान्यता थी कि भारत जैसे विविध संस्कृतियों वाले देश में एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ प्रत्येक संस्कृति को अपने नैसर्गिक रूप में फलने–फूलने का मौका मिले, जहाँ किसी भी समस्या के बारे में खुली बातचीत की जा सके और उसका शांतिपूर्ण समाधान ढूँढा जा सके। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता के जबरदस्त हिमायती थे। वे चाहते थे कि देश के लोगों को एक खुला वातावरण दिया जाना चाहिए, जहाँ उनकी सर्जनात्मक शक्ति को विकसित होने का अवसर मिले। पं॰ नेहरू की निगाहें तेजी से बदल रही सामाजिक प्रबन्ध के प्रति सतर्क थीं। इसलिए वे एक ऐसी व्यवस्था चाहते थे जो बदलती परिस्थितियों के अनुसार हो। उन्होंने जब उन सम्पूर्ण मापदंडों पर सभी प्रचलित शासन–व्यवस्थाओं को तौला तो संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को इसके सबसे ज्यादा अनुवूफल पाया। पं॰ नेहरू की भारतीय जनता के प्रति एक गहरी प्रतिबद्धता थी। वे इसे बड़े स्पष्ट रूप से देख रहे थे कि इस प्रतिबद्धता को पूरा करने का एकमात्र माध्यम यही हो सकता है कि आम लोगों को शासन व्यवस्था में सम्मिलित किया जाए। वे मानते थे कि संसदीय शासन प्रणाली में अन्य प्रणालियों की अपेक्षा 'इच्छा तथा इच्छा पूर्ति के बीच की खाई' को पाटने की अधिक संभावना है तथा इसमें 'ऐसा गुण है कि यह जीवन के परिवर्तनशील ढाँचे में ठीक बैठ सकता है।'' नेहरू जी के लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने आप में कोई साध्य नहीं थी अपितु वे

इसे एक साधन मानते थे। नई दिल्ली में 25 फरवरी, 1956 को पहले अखिल भारतीय संसदीय लोकतंत्र संगोष्ठी में बोलते हुए पं॰ नेहरू ने इस बारे में स्पष्ट रूप से कहा था, ''लोकतंत्र मंजिल तक पहुँचने का एक जरिया है। हमारी मंजिल क्या है ? मंजिल है व्यक्ति के लिए बेहतर जिंदगी।''

पं॰ नेहरू के इन विचारों को सदैव याद रखा जाना चाहिए। इस दृष्टि से पं॰ नेहरू के ये विचार एकदम सही मालूम पड़ते हैं कि संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था ही जन–आकांक्षाओं का सबसे ज्यादा सम्मान कर सकती है। पं॰ नेहरू ने सिर्फ विचारों के स्तर पर ही संसदीय प्रबंध का सम्मान नहीं किया अपितु उसे अपनी साँसों में जिया भी है। संसदीय संस्थाओं के प्रति उनके मन में गहरे सम्मान का भाव था। सदन में शिष्टाचार की वे जीवंत प्रतिमूर्ति थे। यहाँ तक कि वाद–विवाद के दौरान उत्तेजनापूर्ण क्षणों में भी अपना संतुलन बनाए रखते थे। उनमें जो आत्मसंयम की साधना थी, उसी ने उन्हें इतना संतुलित बना दिया था। एक बार उन्होंने कहा था, ''प्रजातंत्र में अनुशासन स्वयं द्वारा ही लागू किया होता है। यदि अनुशासन नहीं है तो प्रजातंत्र भी नहीं है।'' उन्होंने 17 वर्ष तक देश के प्रधानमंत्री के रूप में हमारे देश की लोकतांत्रिक जड़ों को अपने विचार और व्यवहार से सींचा और उसे सुदृढ़ किया। वे सदन से मुक्त विचार–विमर्श का एक पवित्र स्थल मानते थे। हालांकि नेहरू जी की सरकार सदैव अत्यध्कि बहुमत में रही, इसके बावजूद उन्होंने कभी भी अल्पमत की अवहेलना नहीं की। अल्पमत के सम्मान को वे लोकतांत्रिक प्रबन्ध का सम्मान मानते थे। 'संसदीय लोकतंत्र विषय पर नई दिल्ली में आयोजित एक गोष्ठी में 6 सितम्बर, 1957 को पं॰ नेहरू ने कहा था, ''हमने संसदीय सरकार को स्वीकार किया है, क्योंकि समस्याओं के निदान के लिए यह एक शांतिपूर्ण तरीका है। यह तरीका है दलीलें पेश करने का, आपस में बैठकर चर्चा करने का और फैसले करने का तथा उस फैसले को स्वीकार करने का, भले ही कोई इत्तफाक न रखता हो। फिर भी शासन प्रणाली में अल्पमत की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्वाभाविक रूप से बहुमत, बहुमत होता है तो चलेगी उसकी ही, लेकिन वह बहुमत, जो अल्पमत को नजरअंदाज करता है, संसदीय लोकतंत्र की सच्ची आत्मा के मुताबिक काम नहीं करता।'' पंडित नेहरू के ये विचार शब्द मात्र नहीं थे, अपितु वे इसे अपने व्यवहार में भी लाते थे। मैं पंडित नेहरू

की अंतिम वसीयत को, जो उन्होंने 21 जनवरी, 1954 को लिखी थी, भारत की संस्कृति एवं भारत के लोगों के प्रति उनके गहरे प्रेम का सबसे पवित्र दस्तावेज मानता हूँ। वसीयत में व्यक्त किया गया गंगा के प्रति उनका प्रेम भारत की सांस्कृतिक विरासत के प्रति उनके अगाध स्नेह को व्यक्त करता है। वसीयत के अंतिम हिस्से में उन्होंने लिखा है, "मेरी भस्म के बाकी हिस्से को मैं चाहता हूँ कि हवाई जहाज से ऊँचाई पर ले जाकर बिखेर दिया जाए, उन खेतों में, जहाँ भारत के किसान मेहनत करते हैं, ताकि वह भारत की मिट्टी में मिल जाए और उसी का अंग बन जाए।" अपने देश के इतिहास तथा अपने देश के लोगों के प्रति जिस व्यक्ति में इतना गहरा लगाव होगा, वह लोकतांत्रिक व्यवस्था के अलावा किसी दूसरे शासन प्रणाली की कल्पना नहीं कर सकता, हमारा देश उनकी जन्म शताब्दी मना रहा है। हम सब लोकतांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में अपना योगदान देकर इस महापुरुष को अपनी सच्ची श्रद्धांजलि दे सकते हैं।

एक बार जवाहरलाल नेहरू प्रजातांत्रिक प्रक्रिया पर बुल्गारिया की यात्रा पर थे तो उन्हें वहाँ की असेंबली को संबोधित करने का सम्मान प्रदान किया गया। असेंबली को संबोधित करते हुए नेहरू ने कहा कि यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे बुल्गारिया के नये संविधान के अनुसार चुनी गई पहली नेशनल असेम्बली को संबोधित करने के लिए आमंत्रित किया गया है। मैं असेम्बली के सब माननीय सदस्यों का अपनी तरफ से अपने प्रतिनिधि मंडल, भारत की सरकार, संसद और जनता की तरफ से अभिनंदन करता हूँ और उन्हें बधाई देता हूँ। अनेक वर्षों तक मैं खुद एक सांसद रहने के कारण इस अवसर पर आपके साथ एक विशेष संबंध का अनुभव करता हूँ। नेहरू ने आगे कहा कि कई वर्षों तक एक सांसद के रूप में अनुभव प्राप्त करने की वजह से मैं आप सभी के साथ एक खासतौर के संबंध को महसूस कर रहा हूँ। मुझे अपने गणराज्य के उन प्रारंभिक दिनों की याद आती है, जब हमने अपनी प्रथम संसद के लिए चुनाव किए थे। हमारे नवजात राष्ट्र का सौभाग्य था कि हमारे शासन की बागडोर हमारे पहले प्रधानमंत्री पं॰ जवाहरलाल नेहरू जैसे सच्चे लोकतंत्रवादी के हाथ में थी। उन्होंने कहा थाः लोकतंत्र केवल राजनीतिक नहीं है, केवल आर्थिक भी नहीं है, बल्कि मन का है इसमें राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में, यथासंभव, सब लोगों के लिए अवसर की

समानता शामिल होती है। इसमें व्यक्ति के लिए विकास करने तथा अपनी सामर्थ्य और योग्यता का अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए व्यक्ति की आजादी शामिल होती है। इसमें दूसरे लोगों को और उनकी राय को, जब वह आपकी राय से अलग हो, बर्दाश्त करना भी सम्मिलित है। उन्होंने संसदीय लोकतंत्र के लिए अमूल्य कार्य किया। भारत में लोकतंत्र की संस्थाओं और प्रक्रियाओं की जीवन–शक्ति के रूप में पं॰ जवाहरलाल नेहरू आज भी जीवित हैं। वस्तुतः दुनिया भर में राजनीति को गतिशील बनाने के लिए उनके योगदान का स्थायी महत्त्व है। जब मैं पहला बहुदलीय चुनावों के आधार पर, लोकतांत्रिक तरीके से चुनी हुई संसद का उदय हुआ था। तो वे नई प्रबन्ध में पथ–प्रदर्शक की तरह थे। वे अपनी जनता की सच्ची इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले थे। भारत में प्रजातंत्र के साधन–भावना, रचना–तंत्र–संकल्पना प्रथा और परंपरा–प्राचीन काल से ही विकसित होते रहे हैं। दूसरे लोगों के विचारों और विश्वास के लिए आदर भाव अलग हितों के समन्वय में विश्वास और भिन्न–भिन्न समुदायों के सहअस्तित्व के प्रति वचनबद्धता हमारी राष्ट्रीय विरासत का एक भाग है। हमारे प्राचीन ग्रंथ वेदों में मेल–मिलाप, समझौते और मदद संबंधी उपदेश दिया गया है। भगवान बुद्ध का करूणा का संदेश और महान सम्राट अशोक की राजशाही अनेकत्व और मैत्री की दिशा में सशक्त प्रभाव थे। वास्तव में, यदि हमारे इतिहास ने, वसीयत में हमारे लिए कुछ बौद्धिक और सामाजिक सम्पत्ति छोड़ी है, तो वह मेल–मिलाप समझौते, और मैत्री की है। ये मूल संकल्पनाएँ हमारी सभ्यता को जीवन–शक्ति देती हैं और राजनीतिक जीवन में इनकी अभिव्यक्ति लोकतंत्र के रूप में होती है। अतः कानून का शासन हमारे लोकाचार की सदाबहार खासियत है। ऐतिहासिक नजरिए से हमारे समाज में कानून और सत्य को एक माना गया है। इसकी कल्पना सिर्फ एक सुविधाजनक संस्था के रूप में नहीं की गई है, न ही इसे व्यवस्था लागू करने की मशीन माना गया है। इसे राज्य और इसकी संवैधनिक पद्धति का नैतिक आधार माना गया है। हमारे एक महान राजनीतिक चिंतक ने इसका सार उद्धृत करते हुए कहा, "कानून और नैतिकता जगत को थामे हुए हैं।" प्राचीन भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया की तकनीकों में, प्रतिनिधि सभा का संघटन और कार्य–प्रणाली समितियाँ तथा उपसमितियाँ, दलीय सचेतक, कोरम, मतदान,

गुप्त मतदान प्रस्ताव और मुख्तार के माध्यम से मतदान तक सम्मिलित थे। कार्य–विवरण रखने और पहले उदाहरणों के प्रयोग की पद्धति प्रचलित थी। इन समस्त ने भारत को शरीर–रूपी लोकतांत्रिक राजव्यवस्था की रचना हेतु मांस–मज्जा और रूप–बल इत्यादि दिया । इसकी प्रेरणा चिंतन और अंतरात्मा से प्राप्त हुई थी जिसने समूचे भारत को अनुप्राणित किया, ज्ञान दिया। इसने ग्राम परिषद् जैसे लोकतांत्रिक तंत्रों के स्थायी प्रचलन को जन्म दिया, जो वर्तमान संसदीय लोकतंत्र के लिए आज सम्पूर्ण देश को आधार देती है। लोकतांत्रिक मूल्यों और परंपराओं को सुगठित संसदीय लोकतंत्र में बदलने के कार्य पर भी हमारे स्वतंत्रता संघर्ष की प्रमुख विशेषताओं का प्रभाव पड़ा था। हमारे स्वतंत्रता संघर्ष को महात्मा गांधी ने प्रेरित किया और इसका आधार मानव की स्वाधीनता, गरिमा तथा अहिंसा के प्रति वचनबद्धता थी। क्योंकि इसने संघर्ष में भाग लेने वालों के मन में मजबूती से यह बात बैठा दी थी कि स्वतंत्र भारत में कोई भी राजनीतिक बदलाव शांतिपूर्ण होना चाहिए। इसके अलावा बहुत ज्यादा व्यक्तिवादी प्रकृति वाले समाज में ऐसी राजनीतिक पद्धति को स्वाभाविक रूप से पंसद किया गया जो मानव अधिकारों की रक्षा करे और व्यक्तिगत स्वाधीनता पर रोक लगाए बिना, लोगों को भागीदारी के लिए उत्साहित करे। हमारे लंबे स्वतंत्रता संघर्ष ने हमारे नेताओं को गंभीर आत्मनिरीक्षण का अवसर दिया और उनके विचार–विमर्श का नतीजा जानने के लिए समय दिया। मार्च, 1931 के कराँची अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मूल अधिकारों का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया गया था। इसे राष्ट्रपति महात्मा गांधी ने पेश किया था। महात्मा गांधी ने प्रस्ताव में कुछ मानव अधिकार और स्वतंत्रता खास तौर से सम्मिलित की थी। इनके अलावा प्रस्ताव में अल्पसंख्यकों की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का अधिकार; सरकारी नौकरी में महिलाओं की निर्योग्यता को खत्म करना; और लोकतंत्र तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक दूसरे बहुत से पहलुओं का भी उल्लेख किया गया था। भारत में ससंदीय लोकतंत्र को अपनाना मेल–मिलाप की संस्कृति का परिचायक है। भारत की सांस्कृतिक प्रकृति और राजनीतिक आकांक्षाओं के लिए संसदीय लोकतंत्र सबसे अच्छा उपयुक्त राजनीतिक पद्धति है। लोकतंत्र के बारे में नेहरू ने फरवरी, 1956 को एक भाषण में कहा था ''यह लक्ष्य–प्राप्ति का सही साधन

है, क्योंकि यह एक शांतिपूर्ण तरीका है। दूसरा कारण यह है कि यह उन समस्त प्रतिबंधो को खत्म करता है, जो दूसरी शासन पद्धतियाँ व्यक्तियों पर लगाती है। यह सत्ता द्वारा थोपें गए अनुशासन को आत्मानुशासन में बदलता है। लोकतंत्र व्यक्ति को विकास करने का अवसर प्रदान करता है। लोकतंत्र की विशेषता राजनीतिक सत्ता के बदलाव का स्वरूप है। इस प्रकार चुनाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया का बुनियादी पहलू है।

आज हम गर्व से एक जोरदार और जीवंत लोकतंत्र होने का दावा कर सकते हैं, जिसमें हर तरह की विचारधारा की मुक्त अभिव्यक्ति होती है। परन्तु लोकतंत्र सिर्फ चुनाव का मामला ही नहीं है। हरेक राजनीतिक प्रक्रिया के अपने नियम–विनियम, अपनी परंपराएँ और प्रथाएँ होती हैं। सच्चा लोकतंत्र व्यक्ति और राज्य के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का मेल करता है। लोकतांत्रिक राजनीति में निरंतरता और परिवर्तन के सिद्धांत निहित हैं, जो किसी राष्ट्र के जीवन में बहुत अन्ततोगत्वा होते हैं और लोकतांत्रिक पद्धति को बनाने या बिगाड़ने का उत्तरदायित्व आत्मानुशासन और आत्मसंयम के गुणों का है। अनुशासन और प्रबुद्ध स्वार्थ द्वारा ही समस्याएँ शांतिपूर्ण तरीकों से हल होती हैं जब शांति और सद्भाव होगा, तब ही लोकतांत्रिक स्थापना एवं राष्ट्र का विकास हो सकता है। सच्चे विकास के लिए, जो बहुआयमी होता है, पहली शर्त लोकतांत्रिक संस्कृति होनी चाहिए। लोकतंत्र के लिए पूर्णतावादी नजरिया चाहिए। लोकतांत्रिक जीवन–पद्धति के अनेक आयाम हैं। क्योंकि यह मानवमात्र की समानता को मानकर चलती है, इस प्रकार आर्थिक आयाम बहुत महत्वपूर्ण है। समानता के बगैर आजादी का कोई महत्व नहीं है और आम जनता की आर्थिक उन्नति के बिना समानता बेकार है। इसलिए लोकतांत्रिक विचारधारा और सामाजिक आर्थिक न्याय के बीच आधारमत संबंध है। नेहरू ने कहा यह नेशनल असेम्बली, जिसे संबोधित करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है बुल्गारिया की जनता की आकांक्षाओं और उनके द्वारा लोकतांत्रिक प्रक्रिया से चुनी हुई सरकार के बीच की आवश्यक कड़ी को प्रकट करती है। भारत में, हम आपकी संसदीय समस्याओं के सुदृढ़ होने को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं, चूँकि उनमें हमें दोनों देशों को एक करने वाला मजबूत बंधन प्रतीत होता है। यही वजह है कि आपका नया संविधान लागू होने के पश्चात् लोकसभा के अध्यक्ष के नेतृत्व में सांसदों का

एक संस्थागत संबंधों के और सुदृढ़ होने की आशा करते हैं। 1879 में आपके राष्ट्र में अर्नोवो संविधान तैयार किया था, जिसमें एक सदन वाली निर्वाचित संसद का प्रबन्ध किया। ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण वह प्रयोग सफल नहीं हो पाया। एक शताब्दी से भी ज्यादा समय के अंतराल के बाद, एक फिर लोकतांत्रिक युग का उदय हुआ है)ग्वेद मनुष्य जाति का प्राचीनतम ग्रंथ है।

6

नेहरू एवं स्वतंत्रता आंदोलन

माइकेल ब्रेचर ने ठीक ही कहा है, ''बीसवीं शताब्दी में बहुत कम राजनेताओं ने नेहरू की स्थिति को प्राप्त किया है। भारत के संक्रमण के युग में पूर्व प्रसिद्ध व्यक्ति के रूप में नेहरू का मुकाबला रूजवेल्ट, चर्चिल, लेनिन तथा माओ के साथ किया जा सकता है, जो अपने साथियों में ऊँचे उठे और जिन्होंने राष्ट्रीय संकट में अपने लोगों का पथ–प्रदर्शन किया।'' इसमें कोई सन्देह नहीं कि गांधी का बिना और कोई तीसरा व्यक्ति नहीं है जिसका लोगों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा हो, जितना कि स्वतन्त्रता के इस कर्णधार नेहरू का पड़ा है। बुद्धिजीवी वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में लाने का श्रेय नेहरू को ही प्राप्त है, जबकि गांधीजी ने किसानों को इस आन्दोलन में अपने साथ मिलाया। नेहरू की ग्रामीण लोगों के प्रति अपील भी कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी, क्योंकि उन्होंने उनकें लिए तीसरे तथा चौथे दशक में संघर्ष किया। वे हमेशा भारत की आशाओं तथा इच्छाओं की मूर्ति थे। एम.सी. छागला के शब्दों में, ''वह एक ऐसे राष्ट्रवादी थे जिन्होंने भारतीय जनता को उसकी समग्रता में, उसके सभी वैविध्य में देखा, एक राष्ट्र के ऐसे नागरिकों के रूप में जो शताब्दियों पुरानी परम्परा को उत्तराधिकार में पाने के समान रूप से अधिकारी रहे हैं।''

उन्होंने अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने जीवन के अमूल्य तीस वर्ष व्यय किए। उनके जीवन का राष्ट्रीय चरण 1947 में समाप्त हुआ। नेहरू के राष्ट्रवाद का पता उनके द्वारा अपने पूज्य पिता को

लिखे गए पत्रों से चलता है, जिनमें से एक पत्र का सार 'पायोनीयर' में छपा था। उन्होंने अपने पिता को लिखा, ''सरकार आपके व्यवहार के कारण आप पर बहुत प्रसन्न होगी। मेरा विश्वास है कि 'रायबहादुर' की अपमानजनक उपाधि अथवा इसी जैसा कोई अन्य प्रस्ताव आपको पहले से भी कम उदारवादी बना देगा।'' अपने लड़कपन में भी–उच्च शिक्षा के लिए हैरो जाने से पहले–उन्होंने भारत में विदेशियों की उपस्थिति तथा व्यवहार पर आपत्ति उठाई। रूस–जापान युद्ध में जापान की विजय के समाचार को सुनकर देशभक्त नेहरू को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इससे वे सफेद साम्राज्यवादियों के पंजे से मातृभूमि को मुक्त कराने के स्वप्न देखने लगे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, ''मैंने वीरता के कारनामों के स्वप्न देखे, कि किस प्रकार तलवार हाथ में लेकर मैं भारत के लिए लड़ूँगा और इसे स्वतन्त्र करवाने में सहायता करूँगा।''

जब वे हैरो में पढ़ रहे थे, तो वे बंगाल में बँटवारा–विरोधी आन्दोलन, स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन, प्रमुख बंगाली देशभक्तों के विपत्तन आदि के समाचारों को सुनकर बहुत उत्तेजित हुए। उन पर आयरलैंड के आन्दोलन का भी बहुत प्रभाव पड़ा और गैरीबालडी के देशभक्ति की कहानियों ने भी उन्हें प्रभावित किया। उनके मन में भारत में अंग्रेजी शासन की विरुद्ध भावनाएँ जगीं। अतः नेहरू के लिए राष्ट्रीय राजनीति में कूदना स्वाभाविक ही था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता प्राप्त की, इसकी कई एक राजनीतिक गतिविधियों में भाग लिया और समकालीन उदारवादियों की राजनीति के कारण दुखी हुए। उन्होंने इसे मध्य श्रेणी का काम कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा है, ''मेरे विचारानुसार राजनीति का अर्थ विदेशी शासन के विरुद्ध उग्र राष्ट्रवादी गतिविधि है और इसमें विदेशी शासन के लिए कोई स्थान नहीं है।'' सन् 1916 तक उग्रवादियों की प्रसिद्धि पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। नेहरू उनके साथ मिल गए। उन्होंने तिलक तथा मिसेज एनी बीसेंट की 'होमरूल लीग' की सदस्यता प्राप्त कर ली। उन्होंने इसके लिए विशेष रूप से कार्य किया। जब वे पहली बार 1916 में लखनऊ–कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी से मिले, तो वे प्रभावित न हो सके। परन्तु रोलेट एक्ट तथा अंग्रेजी शासन के दूसरे दमनकारी कानूनों के विरुद्ध गांधीजी द्वारा चलाए गए सत्याग्रह आन्दोलन से वे बहुत प्रभावित हुए। 13 अप्रैल, 1919

के जलियाँवाला बाग अमृतसर के हत्याकांड के कारण नेहरू, विदेशी शासकों की क्रूरता तथा देशी लोगों की बेबसी का पता चला गया। डॉक्टर नीरज का विचार है ''नेहरू कि इस दुखान्त घटना के कारण उग्रवादी राष्ट्रवादी बन गए।''

वे ग्रामीण भारत की भूमि समस्याओं के बारे में चौकस हुए। ''दलितों के लिए उनकी सहानुभूति ने समाजवाद में उनके विश्वास को और अधिक सुदृढ़ कर दिया।'' इसके कारण नेहरू भारत के झगड़ों लोगों के नज़दीक आए, जिनके साथ शासकों द्वारा अनुचित व्यवहार क़िया जा रहा था। गांधीजी ने 1921 में असहयोग–आन्दोलन चलाया और नेहरू ने इस आन्दोलन में बढ़–चढ़कर भाग लिया। चाहे नेहरू का अहिंसा में कोई गहरा विश्वास नहीं था, फिर भी नेहरू ने इसे परिस्थितियों के अनुकूल ठीक कदम ही समझा। नेहरू दिसम्बर, 1921 में गिरफ्तार हुए। मुकदमे की सुनवाई करने वाले जज के सामने उनके बयान से उनकी राष्ट्रवादी लगन का पता चलता है। उन्होंने कहा, ''हम स्वतन्त्रता के लिए–अपने देश की स्वतन्त्रता तथा विश्वासों के लिए लड़ रहे हैं। हम किसी भी राष्ट्र तथा लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहते। हम दूसरों पर प्रभुत्व नहीं जमाना चाहते। पर हम अपने देश में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहते हैं। हमारे लिए जेल स्वर्ग बन गया है, एक महान् तीर्थ...स्वतन्त्रता की लड़ाई में भारत की सेवा करना हमारे लिए सम्मानजनक है। स्वतन्त्रता के शानदार स्वप्न को सच्चा कर दिखलाने के लिए भारतीयों के लिए मर जाना भी कितना सौभाग्यपूर्ण होगा।''

कांग्रेस के प्रभाव के अधीन नेहरू ने यह महसूस किया कि स्वतन्त्रता के लिए संग्राम साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक साँझा संग्राम है। मार्च 1926 की उनकी यूरोप की यात्रा का उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वे केवल राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए ही चिन्तित नहीं थे। उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अन्तर्राष्ट्रीय का उनके विचारों पर प्रभाव पड़ा। अप्रैल 23, 1927 को उन्होंने गांधीजी को एक पत्र लिखा, ''मैं दूसरे देशों के साथ सम्पर्क करने की सभी विधियों का स्वागत करता हूँ और इस बात को स्वीकार करता हूँ कि हम उनके दृष्टिकोण को तथा विश्व–राजनीतिक को समझ सकते हैं...मैं कह सकता हूँ कि हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण है और जितनी

जल्दी हम इस संकीर्णता का त्याग कर सकें, राष्ट्र के हित में उतना ही अच्छा होगा।'' अतः इससे स्पष्ट है कि दिसम्बर 1927 में भारत लौटने पर नेहरू एक नए राजनीतिक चिन्तन तथा धारणा वाले व्यक्ति थे। तब से उनका राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर गया।

चालीस वर्ष की आयु में 1929 में उनके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रधान चुने जाने से, राष्ट्रीय जीवन में उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। अपने अध्यक्षीय भाषाण में उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा कि सभ्यता का पतन संकीर्ण राष्ट्रवाद के कारण हो रहा है, और उन्होंने आशा व्यक्त की कि स्वतन्त्र भारत विश्व सहयोग का स्वागत करेगा। उनकी अध्यक्षता में कांग्रेस ने 26 जनवरी, 1930 को सम्पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया। एक नाटकीय ढंग से उन्होंने रावी नदी के किनारे, इस दिन को राष्ट्रीय झण्डा लहराया और भारत के स्वतन्त्र देश होने की घोषणा की। उन्होंने लोगों से प्रतिज्ञा करने को कहा, जिसका प्रारूप उन्होंने स्वयं तैयार किया था। इस प्रतिज्ञा में से उनके राष्ट्रीय विचारों का स्पष्ट पता चलता है। प्रतिज्ञा इस प्रकार है–''हम मानते हैं कि दूसरे लोगों की भाँति हमें भी स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त हो और हम अपनी मेहनत का फल खा सकें, और जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करें, ताकि हमें विकास के पूरे अवसर प्राप्त हों...भारत में अंग्रेजी सरकार ने न केवल भारत के लोगों को स्वतन्त्रता से वंचित ही रखा है, अपितु उसने लोगों के शोषण को ही अपना आधार बनाया है और भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से बर्बाद कर दिया है।''

तब से नेहरू सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के महान समर्थक बन गए। कई बार उन्हें गिरफ्तार भी किया गया लेकिन विदेशी साम्राज्यवादियों के कठोर दंडों का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। उन्होंने मिस्त्र, मोरक्को, अलजीरिया, इंडोनेशिया तथा कांगों आदि देशों में राष्ट्रीय आन्दोलनों का स्वागत किया। उन्होंने अरब राष्ट्रवाद की आलोचना की। उन्होंने उन लोगों से असहमति प्रकट की जो यह कहते थे कि राष्ट्रवाद तेजी से अन्तर्राष्ट्रवाद तथा किसान–मजदूर आन्दोलन के आगे खत्म होता तथा पीछे को हटाया जा रहा है। उनके विचारानुसार सच्चे राष्ट्रवाद का अन्तर्राष्ट्रवाद के साथ कोई

संघर्ष नहीं होता। गांधीजी ने द्वितीय विश्वयुद्ध में उनकी भूमिका का वर्णन इस प्रकार किया है : ''उन्होंने कार्यकारिणी समिति द्वारा भारत को न केवल अपनी ही स्वतन्त्रता, बल्कि उन राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के बारे में भी सोचने के लिए बाध्य कर दिया, जोकि शोषण के शिकार हैं।'' वास्तव में नेहरू का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही भारत के राष्ट्रवाद की देन था। वे अंग्रेजों के संकट में फँसे होने के कारण, उस स्थिति का दुरुपयोग नहीं करना चाहते थे। लोकतन्त्र के सच्चे प्रेमी होने के नाते वे उन लोकतन्त्रों की सहायता करना चाहते थे जो फासिस्ट तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। परन्तु अंग्रेजी सरकार ने उनके उदार चिन्तन के प्रति कोई प्रतिक्रिया न दिखाई। इसके विपरीत उन्हें व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू करने से पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया। मुकदमे के दौरान दिए गए उनके जोशीले भाषण से उनके भारतीय राष्ट्रवाद का पता चलता है। उन्होंने कहा, ''आप केवल मेरा निर्णय अथवा निन्दा नहीं कर रहे, अपितु भारत के करोड़ों लोगों का फैसला कर रहे हैं। चाहे मैं आपके सामने पेशी भुगत नहीं रहा हूँ, पर मैं समझता हूँ कि अंग्रेजी साम्राज्य स्वयं विश्व की आदत के सामने खड़ा है।''

एक राष्ट्रवादी के रूप में नेहरू, वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक में तेज़ी से स्थिति का अध्ययन कर रहे थे। राष्ट्रपति गांधी ने भी, नेहरू के साथ मतभेदों के बावजूद, उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उन्होंने कहा, ''जवाहरलाल मेरा उत्तराधिकारी होगा। वह कहता है कि उसे मेरी भाषा की समझ नहीं आती...मुझे इस बात का पता है कि जब मैं नहीं हूँगा तो वह मेरी भाषा बोलेगा।'' नेहरू के लोगों का नेता बनने तथा लोगों द्वारा उन्हें स्वीकार किए जाने का और कोई बढ़िया प्रमाण नहीं मिलता, कि उन्हें भारतीय राष्ट्र के प्रमुख निर्माता द्वारा ऐसा मान लिया गया हो।

'भारत के निर्माता' के रूप में नेहरू की भूमिका उनके जून 1945 में जेल से रिहा होने से महत्त्वपूर्ण बनती है। ज्योंहि भारत स्वतन्त्रता की ओर बढ़ा, नेहरू का योगदान अधिक महत्त्वपूर्ण होता गया। हमारे संवैधानिक इतिहास के अत्यन्त कठिन समय से—1946 से आगे—नेहरू को कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में राजनीति में बहुत से नए कदम उठाने पड़े। चाहे इन

कदमों में कुछ गलत कदम भी उठाए गए परन्तु एक राष्ट्रवादी के रूप में उनकी सत्यनिष्ठा पर सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने भारत के विभाजन की बात को मानकर जिन्ना के दो राष्ट्र के सिद्धान्त को इसलिए माना, क्योंकि वे सद्भाव तथा शान्ति का नया युग आरम्भ करना चाहते थे, चाहे इसके लिए उन्हें बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ी। भारत ने 14–15 अगस्त, 1947 की आधी रात को स्वतन्त्रता प्राप्त की। नेहरू ने मन पर पत्थर रखकर संविधान सभा को सम्बोधित किया। उन्होंने कहा, ''काफी समय पहले हमने भाग्य से मिलने का वायदा किया था और अब समय आ गया है कि हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी तरह नहीं, अपितु अधिकांश सार्थक अंशों में पूरा करेंगे...जिस स्वतन्त्रता–प्राप्ति को आज हम मना रहे हैं, यह एक कदम है, जो उन महान् विजयों तथा प्राप्तियों के लिए एक अवसर पेश करता है, जो हमारी प्रतीक्षा कर रही है।''

1929 को लाहौर में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया था जिसकी जवाहरलाल नेहरू को अध्यक्षता करनी थी। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में इनसे पहले कभी कोई पुत्र अपने पिता के बाद कांग्रेस का अध्यक्ष नहीं बना था। जब पं॰ मोतीलाल नेहरू ने अपने पुत्र जवाहलाल नेहरू को कार्यभार सौंपा, तो उन्होंने फारसी की एक कहावत सुनाई 'हिरचे के पिदर नतवानद, पिसर तमाम कुनद।' भविष्य में उनकी यह कामना सत्य सिद्ध हुई। जवाहरलाल नेहरू ने इस लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता बड़ी सफलतापूर्वक और बड़े उत्साही वातावरण में की थी। इसमें घोषित किया गया कि उपनिवेशवाद से नेहरू रिपोर्ट में जो सहमति व्यक्त की गई थी, उसका समय खत्म हो गया। इसके पश्चात् स्वराज का अर्थ होगा 'पूर्ण स्वाधीनता'। केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों को इस्तीफा देने का आदेश दिया गया। स्वतंत्रता का प्रस्ताव 31 दिसम्बर की अर्द्धरात्रि को स्वीकार किया गया। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि वे गणतंत्रवादी ओर समाजवादी हैं। तभी रावी के तट पर स्वाधीनता का ध्वज फहराया गया। कांग्रेस के कैम्प में अत्यंत उत्साह दिखाई दे रहा था और जवाहरलाल नेहरू ध्वज के चारों तरफ नाचने लगे थे। गांधीजी का महत्व अब भी कांग्रेस के पथ–प्रदर्शक के रूप में था। उनका कांग्रेस में व्यक्तित्व पितृ–तुल्य था; पर भविष्य में

जवाहरलाल नेहरू तत्त्वतः अपने रूप में प्रगट हुए।

रावी के तट पर अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जो स्वाधीनता का शंखनाद फूंका था अब उसकी तैयारी बाकी रह गई थी। कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्य की अवहेलना का साहस यह सोचकर किया था कि भविष्य में संघर्ष और चुनौती का समय आना तय है। इस अधिवेशन में भारतीय कांग्रेस कमेटी को यह अधिकार दे दिया गया था कि प्रथम कदम तो गांधीजी ही उठायेंगे। खान अब्दुल गफ्फार खां भी अपने लाल कुर्ती दल के स्वयंसेवकों के साथ अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने पठानों में जागृति पैदा करके अहिंसक आधार पर संगठन किया था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस का कोई कदम अब तक के शान्त सीमाप्रान्त तक विस्तृत होना स्वाभाविक था।

इस अधिवेशन के फैसले के अनुसार पं॰ मोतीलाल नेहरू ने केन्द्रीय और प्रान्तीय असेम्बलियों से कांग्रेस सदस्यों को त्यागपत्र देने को कहा। उनके आदेश की कुछ ही सदस्यों ने अवज्ञा की थी। 26 जनवरी को गांधीजी ने 'स्वाधीनता दिवस' मनाने का आह्वान किया। उस दिन देश के ग्रामों और नगरों में हजारों–लाखों लोग इकट्‌ठा हुए, शपथ ली कि, 'ब्रिटिश साम्राय के नीचे रहना मानव और भगवान के प्रति एक अपराध है।

स्वाधीनता दिवस मनाने के लिए भारतीय जनता का इतना अधिक उत्साह और अनुशासन देखकर गांधीजी को काफी प्रेरणा मिली। उन्होंने फरवरी समाप्त होते–होते नमक कर पर आक्रमण करने का फैसला लिया। उन्होंने ग्यारह सूत्रीय कार्यक्रम किया तो लोग और भी अचम्भित हो उठे; चूंकि उनमें से कुछ तो केवल सामाजिक सुधार की बातें थीं। गांधीजी के पास स्वयंसेवकों की कोई कमी नहीं थी। उनके पास भीड़ लगी थी। वे सभी चमत्कार देखने के लिए उत्सुक थे। गांधीजी अपने निव्य के काम में व्यस्त थे और सायंकालीन प्रार्थना सभा में उन्होंने अपने कार्यक्रम की व्याख्या की। उन्होंने कहा कि वे कुछ स्वयंसेवकों के साथ साबरमती आश्रम से 388 किलोमीटर (241 मील) दूर दक्षिण की ओर दांडी के लिए पद यात्रा करेंगे और वहां एक नमक कानून तोड़ा जाएगा। साबरमती आश्रम में 11 मार्च की प्रार्थना सभा में काफी लोग इकट्‌ठा हुए। गांधीजी ने

उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा, '...हमारा उद्देश्य शक्तिशाली है, हमारे साधन शुद्ध हैं और भगवान हमारे साथ है। सत्याग्रही की हार तब तक नहीं हो सकती, जब तक वह सत्य को छोड़ न दे। कल जो लड़ाई शुरू होगी उसके लिए मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं. . .। गांधीजी 12 मार्च की सवेरे 78 स्वयंसेवकों के साथ अहमदाबाद से दांडी यात्रा पर निकल पड़े। उनकी यात्रा सफल साबित हुई। इससे सम्पूर्ण राष्ट्र में बिजली की लहर फैल गई और नमक प्रतिरोध का सूचक बन गया।

मार्च के तीसरे सप्ताह में अहमदाबाद में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की बैठक हुई। इस बैठक में पिता–पुत्र दोनों उपस्थित थे। इनमें निश्चय किया गया कि भविष्य में बैठक न होने की स्थिति में, कमेटी के सारे अधिकार अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू को दे दिए जाएं।

जवाहरलाल नेहरू अहमदाबाद से अपने पिता के साथ जम्बासेर गए, जो भड़ौच जिले का एक छोटा सा गांव था और वहां दांडी मार्च के समय गांधीजी ठहरने वाले थे। पं॰ मोतीलाल नेहरू ने 23 मार्च की यहां की सभा में आनन्द भवन, नया नाम 'स्वराज भवन' था, राष्ट्र के नाम भेंट करने का निश्चय कर लिया। यह फैसला अपना सर्वस्व संघर्ष में लगा देने का संकल्प था, जिसे गांधीजी ने प्रारंभ किया था। 6 अप्रैल को गांधीजी ने नमक बनाने और सभी कांग्रेस कमेटियों को अपने–अपने क्षेत्रों में सविनय अवज्ञा आंदोलन चालू करने की छूट दी थी। इसी दिन पं॰ मोतीलाल नेहरू ने स्वराज भवन कांग्रेस के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू को सौंप दिया।

इसी मध्य भारत सरकार यह जान चुकी थी कि गांधी जी के इस नमक आंदोलन के पीछे बहुत ही खतरनाक भावना निहित है। परिणामतः प्रधानमंत्री मैक्डोनल्ड के इस आदेश का कि क्रांतिकारी नेताओं से दृढ़ संकल्प के साथ पेश जाए का भारत सरकार ने पालन किया और एक सख्त अध्यादेश जारी करके इस आंदोलन को कुचलने का प्रयत्न किया। कांग्रेस को इतने भयंकर दमनचक्र का सामना करना पड़ा, जितना उसके संपूर्ण इतिहास में पहले कभी नहीं आया था। सरदार वल्लभ भाई पटेल को 7 अप्रैल और जवाहरलाल नेहरू को 14 अप्रैल को बंदी बना लिया। जेल में नेहरू पर मुकदमा चलाया गया और नमक कानून के तहत छह

मास की सजा सुनाई गई तथा नैनी जेल भेज दिया गया। पं॰ मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के स्थानापन्न अध्यक्ष बने। सरकार के दमनचक्र की परवाह न करते हुए कांग्रेसी स्वयंसेवकों ने जहां–तहां नमक कानून तोड़ा, सागर तट और नदियों के किनारे खारी जमीन पर नमक बनाया गया, जुलूस निकाले गए, लाठी प्रहार हुए, निहत्थों पर गोलियों की बौछार की गई।

पहली बार भारतीय ललनाओं ने अपने पानदानों के साथ इस आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया।

श्रीमती कमला नेहरू भी पूर्ण उत्साह के साथ वूफद पड़ीं। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, कृष्णा और श्रीमती स्वरूप रानी भी पीछे नहीं रहीं। वे जुलूसों का संगठन करने, सभाओं में भाषण देने, विदेशी वस्त्रों ओर शराब की दूकानों पर धरना देने में सबसे आगे रहीं। इस तरह सम्पूर्ण नेहरू परिवार स्वाधीनता के संघर्ष में वूफद पड़ा था। जब जेल में जवाहरलाल नेहरू को यह समाचार मिला, तो वे अत्यंत खुश हुए। लिखा, 'मुझे उम्मीद है कि जब मैं जेल से बाहर आऊँगा, तो देखूंगा कि औरतों ने आंदोलन सम्भाल लिया है।' पं॰ मोतीलाल का स्वास्थ्य उन दिनों काफी चिन्ताजनक हो गया था। डॉ॰ अंसारी ने उनके स्वास्थ्य की परीक्षा करके उन्हें विश्राम की सलाह दी थी; लेकिन उन्होंने डॉ॰ अंसारी की सलाह पर ध्यान न देकर, इतना कहा था कि जब तक देश में भीषण संघर्ष चल रहा है और उनका पुत्र जेल में है, तब तक वे पृथक् हटकर विश्राम नहीं कर सकते। इस तरह वे अपनी शेष शक्ति को बटोर कर आंदोलन को दिशा दे रहे थे।

सीमा प्रांत उधर जीवित हो उठा एवं पठान अनुशासित अहिंसक सैनिक सिद्ध हुए। गांधीजी 5 मई को बंदी बना लिए गए और बिना मुकदमा चलाए ही उन्हें यरवदा बंदीगृह में भेज दिया गया। परिणामस्वरूप नमक के गोदामों पर आश्चर्यजनक आक्रमण हुए। इस सत्याग्रह के अच्छे संचालनकर्त्ता पं॰ मोतीलाल नेहरू महासचिव सैयद महमूद और सहस्रों कांग्रेसियों को बंदी बना लिया गया।

पं॰ मोतीलाल नेहरू बीमारी की दशा में ही जेल गए थे। पित्रा पुत्र दोनों एक ही बैरक में थे, जिसका बरामदा इतना पत्थर था कि न तो धूप से रक्षा हो सकती थी, न वर्षा से। वे पिता की आवश्यकताओं को पहले से

ही सोच लेते थे और उन्हें हर प्रकार से आराम देने का प्रयत्न करते थे। जेल में 15 में सिर्पफ एक पत्र लिखने का नियम था। सो उन्होंने एक परिपत्र लिखने का विचार बनाया जो उनके परिवार के सदस्यों को संबोधित रहा करे। उन्होंने ऐसा ही पत्र 16 जुलाई, सन् 1930 ई॰ को लिखा। इसमें उन्होंने अपनी पत्नी को लिखा, '...तुम इतनी अधिक मेहनत कर रही हो, जिसे तुम्हारी बूढ़ी हड्डियां बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। यदि तुम चाहती हो कि तुम्हारी जिन्दगी में स्वराज आ जाए, तो उनसे कुछ कम काम लो। अपनी पुत्रवधू श्रीमती कमला नेहरू को लिखा, '...तुम्हारा पत्र इतने विस्तार से नहीं है, जितना कि मैंने उम्मीद की थी और तुम्हारी सेहत के बारे में तो किसी प्रकार का खबर—एक शब्द में भी नहीं है। ... तेजी से बढ़ने वाली लताएं और दूब लगवा लें तथा जबरन घुस आने वालों से स्वराज भवन को सलामत रखें। तमाम तरह के लोग इन दिनों निकल पड़े हैं और गांधी टोपी पहनने वाला हर आदमी गांधी का चेला नहीं होता।' श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को उन्होंने लिखा, '..सही इलाज के बिना बम्बई से तुम्हारा चला आना एक मुश्किल का काम था। जान पड़ता है कि तुम ;जेल सेद्ध न्यौता पाने के लिए बेकरार हो। इसमें कुछ तुक तो हो सकती है, बशर्ते कि तुमको ;अपनेद्ध भाई के और मेरे साथ रखा जाए, लेकिन यह असंभव है।' कृष्णा को पत्र न लिखने के लिए फटकारा, '...आखिर क्या मामला है, इस हफ्ते तुमने एक लाइन भी नहीं लिखी, यह पागलपन ही तो है। अंततः 12 वर्षीया पौत्री इंदिरा को लिखा, '...तुम्हारी वानर सेना का क्या हाल है? मेरा परामर्श है कि उसका प्रत्येक सदस्य एक पूंछ लगा ले और उस पूंछ की लम्बाई इस बात पर निर्भर करती हो कि सेना में उसका दर्जा क्या है...?

पं॰ मोतीलाल नेहरू के इस पत्र से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वे डिनर के पश्चात् गपशप कर रहे हों। इस दमनचक्र ने अवज्ञा की घटनाओं को और हवा दी। इस स्थिति में स्थापित करने का प्रयत्न किया। वे वायसराय और गांधीजी से मिले। पुनः नैनी जेल में 27 जुलाई, सन् 1930 ई॰ को पित्रा–पुत्र से मिले। नेहरू अस्वस्थ पिता की सेवा में जुटे थे। वे गांधीजी की राय के बिना समझौते की किसी वार्ता के लिए तैयार नहीं थे। वायसराय ने उन्हें गांधीजी से मिलने की अनुमति दे दी। अपने पिता पं॰

मोतीलाल और महासचिव सैयद महमूद के साथ जवाहरलाल नेहरू विशेष ट्रेन से पूना पहुंचे और गांधीजी से विचार–विनिमय किया। तभी वल्लभ भाई पटेल, जयरामदास दौलतराम और सरोजनी नायडू को भी यरवदा बंदीगृह में पहुंचा दिया गया था। इन सबको 'समझौता वार्ता' में सम्मिलित होने की अनुमति दे दी गई थी। गांधीजी ने इस बात पर बल दिया कि ब्रिटिश सरकार अपनी ईमानदारी के गवाह के रूप में उनकी ग्यारह बातों को स्वीकार करे और नमक कानून को रद्द कर दे। अंततोगत्वा वार्ता विफल रही। कांग्रेस और सरकार के बीच कोई समझौता न हो सकता। विशेष ट्रेन से जवाहरलाल नेहरू, पं॰ मोतीलाल नेहरू और सैयद महमूद को वापस नैनी बंदीगृह में भेद दिया गया। वहां पर पं॰ मोतीलाल नेहरू का स्वास्थ्य और बिगड़ गया। सरकार ने यह देखकर 11 सितम्बर, 1930 ई॰ को उन्हें मुक्त कर दिया। उनका वजन घटता जा रहा था। वे और श्रीमती कमला नेहरू इलाहाबाद को छोड़कर 14 सितम्बर को श्रीमती स्वरूप रानी, कृष्णा और विजयलक्ष्मी पंडित और उनके बच्चों के साथ स्वास्थ्य लाभ के लिए मूसरी गए। जवाहरलाल नेहरू छह मास का कारावास भुगतने के बाद 11 अक्तूबर को बंदीगृह से मुक्त हुए तथा उन्होंने कोशिश की कि अपनी थोड़े दिनों की रिहाई में वे राष्ट्रीय आंदोलन के लिए अधिक–से–अधिक कार्य कर लें। परिणामतः उन्होंने प्रांतीय कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी की एक बैठक बुलाई और उसे प्रेरित किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में 'कोई कर नहीं' आंदोलन का आरंभ किया जाए। मुक्ति के 8 दिन बाद ही इलाहाबाद में जिला किसान सम्मेलन होने की घोषणा की गई और इस मध्य वे 13 अक्तूबर को पिता से मिलने श्रीमती कमला नेहरू के साथ मसूरी गए। उनक पिता का वहां उपचार चल रहा था। तीन अनमोल दिवस नेहरू परिवार के सदस्य फिर से आनन्दपूर्वक साथ–साथ रहे। यह जवाहर लाल नेहरू के लिए अत्यंत ही सुखद अवकाश का अवसर था। इसी बीच प्रांतीय सरकार जवाहरलाल नेहरू को खुला न छोड़ने का निश्चय कर चुकी थी। देहरादून में मसूरी से लौटते समय धारा 144 के तहत उन्हें आदेश मिला। दूसरा अदेशी इसी धारा के अन्तर्गत लखनऊ में गाड़ी से उतरते समय मिला। तीसरा आदेश गले दिन सुबह 18 अक्तूबर को इलाहाबाद पहुंचने पर मिला।

19 अक्तूबर को उनके परिवार के सदस्य भी इलाहाबाद आ गए। वे परिवार से रेलवे स्टेशन पर मिले और फिर श्रीमती कमला नेहरू के साथ किसान सम्मेलन व सार्वजनिक सभा में भाग लेने हेतु चले गए। वहां उनका भाषण हुआ। जब वे उसी संध्या को किसान और अन्य नागरिकों की सभा में भाग लेकर वापस आ रहे थे, तभी उनकी कार आनन्द भवन के द्वार पर ही रोक ली गई। उन्हें बंदी बनाकर नैनी बंदीगृह में भेज दिया गया। इस एक ही भाषण में संबंध में उन पर अनेक अभियोग लगाए गए। राजद्रोह के अपराध में उन्हें 18 मास का सख्त दण्ड दिया गया और 500 रुपये जुर्माना किया गया। नमक कानून के तहत छह मास का सख्त दण्ड और सौ रुपये जुर्माना तथा 1930 के आर्डिनेंस के अन्तर्गत छह मास का दण्ड और सौ रुपये जुर्माना किया गया। अंतिम दोनों दण्ड साथ–साथ थे। इस प्रकार सब मिलाकर दो वर्ष का सख्त दण्ड और जुर्माना न अदा करने पर 5 मास का दण्ड और भुगतना था। यह जवाहरलाल नेहरू की पांचवीं जेल यात्रा थी। वे बंदीगृह की प्रथम बैरक में 8 दिन के उपरांत सैयद महमूद, नर्मदाप्रसाद एवं रणजीत के साथ जा मिले थे। रणजीत पण्डित बागबानी के अच्छे ज्ञाता थे। तुरन्त ही उन्होंने वीरान अहाते को तरह–तरह के पूफलों से गुलजार कर दिया। श्रीमती कमला नेहरू ने उधर आनन्द भवन में पहुंचकर इंतजार करते हुए परिवार को जब जवाहरलाल नेहरू के बंदी बनाए जाने का समाचार दिया तो पं॰ मोतीलाल नेहरू काफी दुखी हुए। उन्होंने स्वयं को सम्भाला और घोषित किया कि वे अब अपाहिज नहीं रहेंगे।

आश्चर्य की बात थी कि यकायक उनका स्वास्थ्य ठीक–सा लगने लगा। मुख से आने वाला रक्त भी स्वयं ही बंद हो गया। उन्होंने आंदोलन की बागडोर फिर से सम्भाल ली। उस वक्त उनका उत्साह देखने योग्य था। उन्होंने 10 नवम्बर, 1930 ई॰ को बम्बई की श्रीमती गोसी कैप्टेन को लिखा, 'नौरोजी परिवार के लोग राष्ट्रीय संघर्ष में जो जबरन करता हूं। फिर कांग्रेस अध्यक्ष की ढाई वर्ष की सख्त कैद के विरोध में 16 नवम्बर, सन् 1930 ई॰ को 'जवाहर दिवस' के रूप में मनाने का फैसला लिया। इस दिवस पर देश भर में सैकड़ों सभाएं हुई, जिनमें जवाहरलाल नेहरू के भाषण के आपत्तिजनक अंश पढ़े गए। इलाहाबाद में श्रीमती स्वरूप रानी,

विजयलक्ष्मी, कृष्णा और इन्दिरा जुलूस में चलकर उस मीटिंग में शामिल हई, जो पुरुषोत्तमदास पार्क में हुई और जिसमें अन्य नेताओं के अलावा श्रीमती कमला नेहरू ने भाषण दिया। उन्होंने वह पूरा 'राजद्रोही भाषण' पढ़ा, जिसके लिए उनके पति को दण्डित किया गया था। पं॰ मोतीलाल नेहरू का यह उत्साह घातक रोग को बढ़ने से रोकने में असमर्थ रहा। असाध्य रोग दमे के कारण उनके फेफड़ों में जालीदार मवाद बढ़ गया था, जिसके परिणामस्वरूप वक्षस्थल के बायीं ओर एक रसौली बन गई थी, जो रक्त कोषों को दबाती रहती थी। 17 नवम्बर को कलकत्ता के लिए वे प्रस्थान कर गए। वहां के दो प्रसिद्ध चिकित्सक नीलरत्न सरकार और जीवराय मेहता ने उन्हें देखा।

बंगाल के गवर्नर ने डॉ॰ विधानचन्द्र राय को भी यह अनुमति दे दी कि वे पं॰ मोतीलाल नेहरू को देखने हेतु कुछ घंटों के लिए अलीपुर सेंट्रल जेल से जा सकते हैं। इस असाध्य रोग ने उनके हृदय, फेफड़े और जिगर को प्रभावित कर लिया था। कलकत्ता के एक उपनगर में बने उद्यान गृह में रहने के लिए वे चले गए। श्रीमती कमला नेहरू को छोड़कर शेष परिवार वहीं पर आ गया। इस मध्य संयुक्त प्रान्त में चलने वाला आंदोलन अन्य प्रान्तों की तुलना में ज़्यादा विस्तृत था। उसी समय जवाहरलाल नेहरू को समाचार मिला कि जेल के अनुशासन का उल्लंघन करने के अपराध में संयुक्त प्रान्त में कोड़ों की सजा दी गई है। इस प्रकार की सजाओं के विरोध के परिणाम में नैनी बंदीगृह में उन्होंने और उनके साथियों ने तीन दिन का अनशन किया। कोड़ों के दण्ड से आंदोलन ने गति पकड़ी। श्रीमती कमला नेहरू को 1 जनवरी, सन् 1931 ई॰ को बंदी बना लिया गया। उस समय एक पत्र प्रतिनिधि मण्डल यहां उपस्थित था। उसने श्रीमती कमला नेहरू से एक संदेश मांगा। उन्होंने शीघ्र यह छोटा–सा संदेश दिया, 'आज मुझे बहुत ही खुशी है और इस बात का गर्व है कि मैं अपने पति के पदचिन्हों पर चल सकी हूं। मुझे आशा है कि आप लोग इस झण्डे को नीचे न झुकने देंगे। पत्नी की गिरफ्तारी का समाचार जब जवाहरलाल नेहरू को मिला, तो उन्हें हार्दिक खुशी हुई; श्रीमती कमला नेहरू अपने दूसरे साथियों की तरह जेल जाने को बहुत उत्सुक थी। उन्होंने विचारा कि इस समय उन्हें कितनी खुशी हुई होगी। इसके साथ ही वे आशंकित भी हुए कि

उनका स्वास्थ्य सदा खराब रहता था और जेल में उन्हें बहुत कष्ट न हो। उधर पं० मोतीलाल नेहरू पुत्रवधू की गिरफ्तारी का समाचार सुनकर सपरिवार इलाहाबाद लौट आए। जब वे 12 जनवरी को पखवाड़े वाली भेंट के लिए नैनी बंदीगृह में पहुंचे तो जवाहरलाल नेहरू को उनका सूजा हुआ चेहरा और गिरा हुआ स्वास्थ्य देखकर गहरी चोट पहुंची थी। मगर पं० मोतीलाल नेहरू मौत के ख्याल पर सदा हंस दिया करते थे। उसे हंसी में उड़ा दिया करते थे और कहा करते थे कि वे अभी बहुत दिन जीयेंगे। उन दिनों लंदन में होने वाली प्रथम गोलमेज सम्मेलन में अंतिम दिन थे। इसमें साम्प्रदायिकतावादी, प्रतिक्रियावादी, उदारवादी, अल्पहित वाले और कुछ प्रगतिशील कहलाने वाले व्यक्ति शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनल्ड ने समापन भाषण दिया, जिसमें कांग्रेसियों से अपरोक्ष रीति से अपील की गई थी कि वे बुरा मार्ग छोड़ दें और भले आदमियों के समूह में मिल जाएं। इस प्रकार इसमें जो भाषण हुए और आडम्बरयुक्त भाव इस बहुरंगी भीड़ ने प्रदर्शित किए, वे जवाहरलाल नेहरू और उनके साथियों के लिए मनोरंजन का विषय बन गए थे। उन्हीं दिनों इलाहाबाद में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक हुई और दूसरी बातों के साथ–साथ इस अपील पर विचार–विनिमय किया गया तथा किसी तरह का समझौता न करने का प्रस्ताव पास किया गया। पूरे देश में 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस बड़ी धूमधाम के साथ बनाया गया। इस मौके पर उधर जवाहरलाल नेहरू नैनी बंदीगृह में अपने साथियों के साथ सन् 1930 के कार्यों का सिंहावलोकन कर रहे थे और सन् 1931 को विशेष आशा के साथ आंक रहे थे। तभी मध्या को उन्हें पिताजी की गम्भीर स्थिति की सूचना दी गई। उन्हें और रणजीत पंडित को शीघ्र मुक्त कर दिया गया। श्रीमती कमला नेहरू भी 26 दिन का कारावास काटकर छोड़ दी गईं। वे भी कार्यसमिति की एक स्थानापन्न सदस्या थीं। उसी सन्ध्या को देश की अन्य जेलों से गांधीजी और अन्य अनेक कांग्रेसी नेता छोड़ दिए गए। कदाचित् भारत सरकार सभी नेताओं को आपस में मिल–बैठकर मौजूदा हालात पर गौर करने का मौका देना चाहती थी। जवाहरलाल नेहरू जब आनन्द भवन पहुंचे तो पिताजी के गिरे हुए स्वास्थ्य को देखकर उनको गहरा धक्का लगा। अब चेहरे के वरम के साथ–साथ उन्हें बोलने में भी कष्ट होने लगा था।

मस्तिष्क पर पूरा नियंत्रण नहीं रह गया था, फिर भी उनकी संकल्प शक्ति वैसी ही कायम थी। पुत्र और पुत्रवधू के पहुंच जाने से उनके मन को शांति मिली थी। पं॰ मोतीलाल की इस स्थिति का गांधीजी को भी समाचार मिल चुका था। रात में बंदीगृह से छूटने के अगले दिन इलाहाबाद पहुंचे। पं॰ मोतीलाल नेहरू को उनके आने की सूचना मिल चुकी थी। इसलिए वे उनकी प्रतीक्षा में जाग रहे थे। उन्हें गांधीजी के कुछ शब्द सुनकर अत्यंत शांति मिली और श्रीमती स्वरूप रानी को भी तसल्ली रही।

गांधी 28 जनवरी को कार्यसमिति के सदस्य पं॰ मोतीलाल नेहरू के दर्शन करने और विचार–विनिमय के उद्देश्य से इलाहाबाद आ गए। उनके वे कभी पुराने साथी थे। स्वराज भवन में उनकी मीटिंग होने लगी। कभी–कभी जवाहरलाल नेहरू भी बेमन से उसमें चले जाया करते थे।

पं॰ मोतीलाल ने अस्वस्थता के कारण उसमें भाग नहीं लिया। मित्रों और साथियों से मिलने के समय वे आराम से कुर्सी पर बैठ गए। वे दो–दो करके आते रहे। उनके चेहरे पर वरम के कारण कोई भी भाव शेष न था, पर आंखों में विशेष चमक थी। वे अपने सिर को थोड़ा झुकाए, हाथ जोड़कर नमस्कार करते थे। एकाध शब्द बोल कर उनका स्वागत और परिहास भी करते थे। गले की तकलीफ की वजह से वे छोटी–छोटी पर्चियों पर लिखकर अपना आशय प्रगट किया करते थे। उन्होंने गांधी जी से कहा था, 'महात्माजी! मैं शीघ्र ही चला जाने वाला हूं, स्वराज्य देखने के लिए जिन्दा नहीं रहूंगा। लेकिन मैं जानता हूं कि आपने स्वराज्य जीत लिया है और वह जल्दी ही आपके हाथ में आ जाएगा। दूसरे नगरों और प्रान्तों से आने वाले लोग वापस चले गए थे। वहां पर गांधीजी, कुछ घनिष्ठ मित्र, निकट संबंधी और तीन नामी डॉक्टर अंसारी, विधानचन्द्र राय और जीवराज मेहता रह गए थे। इन तीनों का ही उपचार चल रहा था। जब 4 फरवरी, 1931 ई॰ को उनका स्वास्थ्य कुछ ठीक दिखाई दिया, तो सबकी राय यह हुई कि एक्सरे उपचार हेतु लखनऊ ले जाया जाए, चूंकि यह सुविधा उन दिनों इलाहाबाद में नहीं थी। पं॰ मोतीलाल नेहरू प्यारे आनन्द भवन से जाना नहीं चाहते थे। उन्हें यहीं रह कर अंतिम सांसें गिनना अच्छा लगता था, पर चिकित्सक मित्रों और गांधीजी के कहने पर वे मान गए।

पं॰ मोतीलाल नेहरू का अदम्य साहस और हास्य प्रवृत्ति अंत तक बनी रही। उन्होंने अपनी पत्नी से परिहास किया, '...मैं तुम से पहले जा रहा हूं और वहां स्वर्ग में पहुंच कर तुम्हारा स्वागत करने के लिए तैयार रहूंगा। ...मैं यह नहीं चाहूंगा कि मेरी मौत के बाद कोई मेरे लिए दुआएं मांगें। मैंने इस दुनिया में अपना रास्ता खुद बनाया था और उम्मीद करता हूं कि अगली दुनिया में भी ऐसा ही होगा। फिर गांधीजी से उन्होंने कहा, 'महात्माजी! आपको अपनी नींद पर काबू है, और मुझे अपने हाजमे पर पूरा काबू है, वह कभी खराब नहीं होता...।'

पं॰ मोतीलाल नेहरू 4 फरवरी को लखनऊ पहुंच गए थे। वहां गांधीजी और अन्य लोग भी साथ गए थे। इस यात्रा में वे काफी थक गए थे। अगले दिन थकावट के लक्षण कुछ कम दिखाई दिए, पर वे चिन्ताजनक अवश्य थे। जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती स्वरूप रानी 6 फरवरी को प्रातःकाल उनकी शय्या के पास ही बैठे हुए थे। उनकी दृष्टि पं॰ मोतीलाल नेहरू के चेहरे पर थी। पिछली रात उनकी कष्ट और बेचैनी में बीती थी। अचानक जवाहरलाल नेहरू ने देखा कि उनका चेहरा शांत हो गया है और लड़ने की शक्ति का खात्मा हो गया है। उन्होंने इस स्थिति में देखकर सोचा कि उन्हें नींद आ गई है। पर उनकी मां की अनुभवी दृष्टि पहचान गई कि वे चिरनिद्रा में पहुंच गए हैं। वे एकदम चीख उठीं। उनका बदन पूफट पड़ा। गांधीजी उनकी हिम्मत बंधाने लगे। उन्हें सबसे ज्यादा आघात पहुंचा था। उन्होंने कहा था, 'युगों की चट्टानें मुझे भी घेर लें।' स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत इस महान योद्धा की मृत्यु का समाचार पाते ही लखनऊ में भारी भीड़ अपने प्यारे नेता के दर्शनों हेतु एकत्रित हो गई। उनका शव राष्ट्रीय ध्वज में लिपटा हुआ था और मोटर के ऊपर एक बड़ा ध्वज फहरा रहा था। शव को इलाहाबाद लाया गया। गाड़ी रणजीत पंडित चला रहे थे। जवाहरलाल नेहरू और पुराना सेवक ही पार्थिव शरीर के नजदीक बैठे हुए थे। इसके पीछे की गाड़ी में श्रीमती स्वरूप रानी और गांधी जी थे और तीसरी में अन्य लोग। मीलों तक भारी भीड़ उनके दर्शनार्थ और श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए इकट्ठी हुई। कुछ अंतिम विधियां आनन्द भवन में की गई और फिर गंगा यात्रा प्रारंभ हो गई। जाड़े के मौसम में भी

भारी भीड़ उनके साथ चल रही थी। संध्या के आवरण से गंगा का तट ढंका जा रहा था। महान् नेता के पार्थिव शरीर को अग्नि की ऊँची–ऊँची लपटों ने भस्म कर दिया था।

गांधीजी ने वहां पर छोटा–सा हृदयस्पर्शी भाषण दिया और फिर सब लोग वहां से प्रस्थित हो गए। श्रीमती स्वरूप रानी और जवाहरलाल नेहरू को हजारों सहानुभूतिपूर्ण संदेश मिले। श्रीमती स्वरूप रानी को वायसराय लार्ड और लेडी इर्विन ने एक सौजन्यपूर्ण संदेश भेजा। नेहरू परिवार के दुःख एवं शोक की तीव्रता में इस सद्भावना और सहानुभूति ने कमी ला दी। गांधीजी के सान्निध्य की वजह से उस संकट काल में खास बल मिला।

नेहरू स्वतंत्रता के लिए संघर्ष एवं ब्रिटिश सरकार की नीति को देखते हुए अब क्रांतिकारी परिवर्तन की तरफ बढ़ गए थे। इस बारे में वे काफी समय से सोच रहे थे और अंततः इस परिणाम पर पहुँचे थे कि कांग्रेस स्वयं स्वतंत्रता के लक्ष्य से दृढ़ता से प्रतिबद्ध हो। वह अब यह सदैव तर्क मानने को तैयार नहीं थे कि 'डोमिनियन स्टेटस' ;औपनिवेशिक स्थितिद्ध और स्वतंत्रता में कोई ठोस अंतर नहीं था चूँकि पहली स्थिति में भी अलग होने का अधिकार था सिद्धांततः यह सच था, लेकिन वस्तुतः 'डोमिनियन स्टेटस का तात्पर्य था ब्रिटेन से सदा संबंध रखना और उसका हर क्षेत्र में आधिपत्य चलने देना। लेकिन स्वतंत्रता का अर्थ ब्रिटेन से दुश्मनी नहीं था। यद्यपि साम्राज्य में मैत्री नहीं हो सकती थी, एक बार भारत साम्राज्यवादी चंगुल से छूट जाने पर उसके साथ समान भाव से सहयोग कर सकता था। स्वतंत्रता के राजनैतिक और आर्थिक अर्थ तो थे ही, ऐसी समझौता न करने वाली नीति के मनोवैज्ञानिक नतीजे जवाहरलाल की दृष्टि में ज्यादा महत्वपूर्ण थे।

आदर्श के नाते 'डोमिनियन स्टेटस' को मानना अपने आप में भारत के मानसिक पतन का लक्षण था, चूँकि उसके पीछे यह भावना थी कि भारत में ब्रिटिश सत्ता सदा बनी रहे। लेकिन एक बार कांग्रेस स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य मानती है तो असहयोग आन्दोलन के पश्चात जो पराजित मनोवृत्ति और थकान आ गई थी उसे वह पूर्ण रूप से फेंक देगी, स्वराज्यों की

सौम्यतावादी बातों को झाड़कर दूर कर देगी, उसमें नई ताक़त आयेगी और वह जन–जन को अपने साथ ऊपर खींच सकेगी। इसलिए, जवाहरलाल एक पूरे और समग्र युद्ध के लिए उत्सुक थे, जिसमें ज़रा भी न झुका जाये न कुछ दिया जाये। इस बात को उनके नये क्रांतिकारी विचारों ने और राजनैतिक सक्रिय विचारों के प्रति उनके उत्साह को मार्ग से विचलित नहीं बल्कि और मज़बूत बनाया। पूँजीवादी शोषण रोकने तथा भारत की ग़रीबी को कम करने के लिए भी साम्राज़्यवादी शासन समाप्त होना आवश्यक था। डोमिनियम स्टेटस के मृगजाल ने भारत में ब्रिटिशों के प्रति प्रतिरोध को कमज़ोर बनाया, और क्रांतिकारी शक्तियों के बदले सुधारवादी ताक़तों को ही साधारण तथा मज़बूत बनाया। ब्रिटिशों की भारत में सच्ची शक्ति इस बात में थी कि भारतीयों को यथास्थिति का राज के आगे, विचारों के मूढ़ाग्रह, पुरातन रूढ़ियों और परंपराओं के आगे सदैव झुके हुए रखना। तभी गाँधी से उन्होंने शिकायत की, यह मेरी बुद्धि से परे है कि एक राष्ट्रीय संगठन का उद्देश्य और आदर्श 'डोमिनियन स्टेटस' कैसे हो सकता है। इस कल्पना से ही मुझे घुटन महसूस होती है और लगता है कि कोई मेरा गला घोंट रहा है। इसमें गाँधीजी ही, सचमुच में सबसे बड़ी बाधा थे। मद्रास कांग्रेस के अधिवेशन में वे उपस्थित नहीं थे जब जवाहरलाल ने कांग्रेस से स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित करा लिया था। लेकिन गाँधी के अनुयायी वहाँ बड़ी संख्या में थे, जिन्होंने प्रस्ताव के कुछ अंश हटवा दिये जिसमें स्पष्ट किया गया था कि स्वतंत्रता का तात्पर्य है सुरक्षा, अर्थ और आर्थिक तथा विदेशी नीति पर पूरा नियंत्रण, तथा माँग की कि इसे शीघ्र कार्यान्वित किया जाये। खास तौर पर ब्रिटिश सेनाएँ जो इस देश की भूमि पर अधिकार किये हुए हैं, वे पूरी तरह से वापस हटा ली जायें। पार्टी ने सिर्फ इतना ही मंजूर किया कि समस्त राष्ट्रीय स्वतंत्रता को पूर्ण रूप से माना जाये, और उसे भी कांग्रेस के संविधान में शामिल नहीं किया गया।

वह अपने पुराने शब्द 'स्वराज्य' की ही घोषणा करते रहे, और इस प्रकार से जो स्वतंत्रता और ब्रिटेन से पूर्ण विच्छेद में विश्वास नहीं करते थे, और ब्रिटिश सेना के वापस ले जाने की जिन्हें इच्छा नहीं थी, वह सब पार्टी के सदस्य बने रहे। जवाहरलाल का प्रस्ताव, जैसे उन्होंने स्वयं देखा, गंभीरता से नहीं लिया गया और केवल उन्हें खुश रखने के लिए मान लिया

गया। लेकिन गाँधी ने अपनी नापसंदी छिपाई नहीं और उनकी नजर में यह एक प्रकार से बहादुरी दिखाने का नाटक था। उन्होंने जवाहरलाल को निजी तौर पर चेतावनी भी दी कि वे काफी तेज़ चल रहे हैं। तब जवाहरलाल ने नाराज़गी से जवाब दिया कि उन्हें काफी लोगों का समर्थन प्राप्त है, और गाँधी का नेतृत्व अब लड़खड़ाता हुआ और प्रभावहीन हो रहा है, और उन दोनों के आदर्श काफी पृथक हैं, गाँधी ने कहा कि सारा पत्र–व्यवहार मैं प्रकाशित करने को तैयार हूँ। दूसरे शब्दों में, वे स्पष्टतः खुले तौर से संबंध समाप्त करने को राज़ी थे। दोनों के संबंध तब तक इतने ज्यादा नहीं बढ़े थे कि इस बूढ़े का जवाहर के बगैर काम नहीं चल सकता था। लेकिन जवाहरलाल पीछे हटे। गाँधी के विचारों की दृढ़ता भावनात्मक निर्भरता से असंगत नहीं थी, और गाँधी के शब्दों में, उन्हें उत्सुकता थी कि वे ;जवाहरलालद्ध इस तरह के 'मूर्च्छा में रहें'।

सो गाँधी से और पुरातन नेतृत्व से पूर्ण रूप से पृथक न होकर जवाहरलाल ने स्वतंत्रता को अन्तिम उद्देश्य मानकर अभियान चलाया। यह एक प्रकार का सीमाबद्ध विद्रोह था। यह प्रश्न पुनः सर्व–पक्ष सम्मेलन और उसने जो समिति बनाई थी, उसकी कार्यवाही में भी, सामने आया। मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में यह समिति संविधान बनाने के लिए बनाई गई थी। जवाहरलाल बार–बार औपनिवेशिक श्रेणी मानने के विरुद्ध बोलते रहे और अपने पिता के साथ सार्वजनिक वाद–विवाद में उन्हें उलझना पड़ा। फिर भी वे जानते थे कि यह फैसला अब बदलने की कोई आशा नहीं है, और वे फिर कांग्रेस की स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता के प्रश्न को जीवित बनाये रखते रहे। यह तथ्य था कि नेहरू रिपोर्ट के वे एक सहभागी थे, लेकिन इसका यह मतलब नहीं था कि उनकी अपनी पसंद उन्होंने छोड़ दी थी। इसीलिए उन्होंने 'इंडिपेंडेंस फ़ार इंडिया लीग' की स्थापना की। पहले तो वह कांग्रेस की भीतर ही एक प्रभाव डालने वाला गुट था। यह जानकर कि गाँधी और अन्य प्रमुख कांग्रेस नेता स्वतंत्रता और उससे जुड़ी सब बातों को पसंद नहीं करते थे, जवाहरलाल ने साधारण सचिव पद से त्यागपत्र दे दिया। लेकिन कार्यकारिणी समिति ने उसे मंजूर नहीं किया। ऊपरी तौर पर कारण यह बताया गया कि मद्रास कांग्रेस के प्रस्ताव से स्वतंत्रता के लिए प्रचार को वैधता दी थी, लेकिन सही बात यह

थी कि कांग्रेस का रवैया जवाहरलाल के प्रयत्नों को एकदम महत्व नहीं देता था।

उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता की माँग का मूल्य इतना ही था कि औपनिवेशिक श्रेणी की सौदेबाज़ी करने में वह सहायक था। यदि किसी प्रकार का खतरा होता 'इंडिपेंडेंट फ़ार इंडिया लीग' से कांग्रेस की दिशा बदलने में तो इसमें कोई शक नहीं था कि शीघ्रता से उसका विरोध कर दिया जाता। चूँकि लीग राजनैतिक स्वतंत्रता के आदर्श को ही जीवित बनाये नहीं रखती थी, लेकिन गणतंत्रवाद और समाजवाद के आनुवांशिक आदर्शों को भी अपनाये हुए थी। ब्रिटिश संबंध टूटने का अर्थ था भारत में ब्रिटिशों द्वारा जो स्वार्थ समर्पित थे उनपर भी आक्रमण करना। असल में संघर्ष का आधार आर्थिक था। भावी भारत का गणतंत्र शासन जन–जन के शोषण पर नहीं लेकिन सामाजिक समानता पर ही आधारित रहेगा। इंडिपेंडेंस फ़ार इंडिया लीग' का लक्ष्य था स्वतंत्रता प्राप्त करना और भारतीय समाज का पूँजीवादी और सामंती आधार बदलकर पुनर्निर्माण करना। कुछ थोड़े व्यक्तियों के पास दूसरों के शोषण से बड़ी धनराशि जमा करने के जगह पर राज्य को बड़े सहकारिता के आधार पर संगठित किया जाये, जो कि सबके हित का हो, और इसी से हम 'एक बड़ी मदद पर आधारित विश्व राष्ट्रमण्डल तक पहुँचे। इसलिए स्वतंत्रता एक सामान्य आदर्श था, जिसे जवाहरलाल, कांग्रेस से परे देखते थे। लीग अपनी मूल पार्टी के अंदर एक सक्रिय तत्त्व बना रहे और साथ ही सारे राष्ट्र में एक सामान्य उत्प्रेरक का काम करे।

कांग्रेस राजनैतिक अभियान और संविधान का आलेख बनाने में अगुआ हो लेकिन आर्थिक और सामाजिक बदलाव शोषित जनता की रजामंदी से ही हो सकेगा। इसके लिए एक क्रांतिकारी वातावरण देश में तैयार करना होगा और जनता को वृहत पैमाने पर संगठित करना होगा। लेकिन इसके लिए आर्थिक कार्यक्रम जरूरी हैं। गाँधी जनसाधारण को जिस प्रकार से राजनैतिक संघर्ष में ले आये थे वैसे और कोई नहीं ला सकता था, और इसी प्रकार से जवाहरलाल के मत से गाँधी का नेतृत्व ऐसा था, जो अनिवार्य था। लेकिन जनता अब इस संघर्ष में तभी रह सकती थी जब

Digitized by eGaṇgotri and Sarayu Trust.

'स्वराज्य' को किसी प्रकार का आर्थिक अर्थ प्रदान किया जाये—जो गाँधी ने कभी नहीं किया था। सिद्धांततः गाँधी इस पर आपत्ति नहीं करते थे, लेकिन सोचते थे कि यह प्रयत्न अभी अपरिपक्व अवस्था में है। फिर भी जवाहरलाल आगे बढ़े और उन्होंने एक सुनिश्चित कार्यक्रम बनाया। यद्यपि उनके मन में समाजवाद के बड़े स्वप्न की संरचना थी लेकिन वे काफी विनम्र शुरुआत करना चाहते थे।

उत्तर प्रदेश में, विशेष रूप से जमींदारी नष्ट होने का कोई विकल्प नहीं दिखाई दे रहा था। लेकिन यह तो करना ही चाहिए था, आंशिक मुआवजा देकर और छोटी जोत के किसानों को मालिकाना देकर जिन्हें जमीन से पृथक्कता का अधिकार नहीं दिया जाये। भूमि का राष्ट्रीयकरण नहीं लेकिन समाजीकरण होना चाहिए। और राज्य ज्यादा—से—ज्यादा आदर्श 'फार्म' खेती वाले 'मॉडल फ़ार्म' बनाये। किसानों पर बकाया कर्ज़, आंशिक)ण—पूर्ति के बाद, रद्द या निरस्त कर दिये जायें। राज्य शनैः—शनैः प्रमुख उद्योगों पर अपना अधिकार करे और निम्नतम जीवन—निश्चित करे, और प्रत्यक्ष कर श्रेणीबद्ध रूप से लागू करे, जायदाद पर और कृषि से प्राप्त आय पर कर लगाये। जवाहरलाल को यह मालूम था कि ऐसा कार्यक्रम, कभी—न—कभी वर्ग—संघर्ष के प्रश्न अवश्य उठायेगा, मज़दूर और पूँजीपतियों के, तथा जमींदारों और किसानों के बीच। जहाँ संघर्ष थे, उन्हें न पहचानना या उनका सामना न करना समझदारी की बात नहीं थी। ऐसे संघर्षों से लड़ना होगा और उन पर विजय पानी होगी। यदि संघर्ष आवश्यक ही हो जाये तो जवाहरलाल यह मानने की खातिर तैयार थे कि हिंसा अपने आप में आपत्तिजनक नहीं है, और अंतिम सोपान, संघर्ष का समाधान, कम्युनिज़्म भी हो सकता है। यदि भारत को यह विश्वास हो जाये कि वह हिंसा से आजाद होगा तो, वह बगैर किसी शक के अन्य देशों के जैसा हिंसा अंगीकार करने का अधिकारी होगा। वैसे वे अहिंसक असहकारिता के प्रखर पक्षधर थे, इसीलिए कि भारत की परिस्थितियों में जनव्यापी हिंसा अव्यावहारिक थी, और व्यक्तिगत क्रांतिकारी प्रयासों का नतीजा उलटा निकलता था और उनसे राष्ट्रीय आदर्श को धक्का पहुँचता था। संगठन के कार्य के लिए वे भारत के युवा और युवतियों से आशा करते थे। उनके लौटने के कुछ ही महीनों में, प्रेस में उन्होंने लिखा और

उन सभी लोगों का आह्वान किया जो स्वतंत्रता चाहते थे, जो राजनीति में धर्म के बढ़ते प्रभाव से घृणा करते थे, और जो वर्ग, जाति और संपत्ति के भेदभाव को मिटाना चाहते थे, वे सब आपस में और उनसे मिलें।

लेकिन क्रांतिकारी टुकड़ियाँ संपादक को पत्र लिखने से बिल्कुल हवा में से पैदा होकर सामने नहीं आ जातीं और जवाहरलाल की अपील का अर्थ उनकी आकांक्षाओं के संकेतों के नाते समर्थक था।

पूरे वर्ष भर के युवा संगठनों और सम्मेलनों को काफी महत्व देते रहे, और युवा संगठन कार्य के लिए अन्य समस्त कार्य वे छोड़ देने को तैयार थे। लेकिन कोई अखिल भारतीय दस्ता जो 'ज़ोरदार समाजवाद' के लिए समर्पित हो और जो संघर्ष को देश के अलग–अलग भागों तक ले जाये कभी अस्तित्व में नहीं आ सका। अत्यंत शीघ्र दुखी होकर जवाहरलाल ने पहचान लिया कि 'इंडिपेंडेंस फ़ार इंडिया लीग', उसके निर्माता की आशाएँ पूरी नहीं कर सकी। उसमें थोड़े–से राजनीतिज्ञ थे, जो या तो गाँधी या मोतीलाल से असंतुष्ट थे, और वे जवाहरलाल की बढ़ती हुई लोकप्रियता से अपने स्वार्थ की खातिर लाभ उठाना चाहते थे। सही में कुछ लोग तो सभा में इसलिए आये थे कि उसका विरोध करें। नतीजा यह हुआ कि 'इंडिपेंडेंस फ़ार इंडिया लीग' कभी भी क्रांति का ऐसा पराकाष्ठा बिंदु नहीं बन सकी, जो अपने संगठन में सूचीबद्ध हो और अपनी आदर्श विचारधारा में स्पष्ट हो। अपितु एक साल भर, वह किसी तरह लँगड़ाती–घिसटती साँसें गिनती रही, और 1929 के प्रारंभ में वह बेमानी हो गई, जब कांग्रेस ने ही, कुछ परिस्थितियों में, स्वतंत्रता के उद्‌देश्य के प्रति प्रतिबद्धता मान ली।

क्रान्ति हेतु लोगों को तैयार करना

समस्त देश को जागरूक करने के और दीर्घ समय की क्रांति हेतु तैयार करने के साधन उस समय चाहे जवाहरलाल निर्मित नहीं कर पाये हों, पर 1927 में सिर्फ ब्रिटिश संसद के सदस्यों के कमीशन की जब घोषणा की गई, जो संवैधानिक सुधारों की एक और किश्त देने के लिए भारत योग्य और तैयार है या नहीं, इसे जाँचने के लिए सुझाया गया था, उसके अपमान के उत्तर में सारे देश में मोर्चे, जुलूस और प्रतिवाद सभाएँ

आयोजित करने में वे ज्यादा सफल हो सके। जवाहरलाल के लिए कमीशन के सदस्यों में एक भारतीय को नामित न कर पाना साम्राज्यवादी राज की एक गौण घटना थी। जिस चीज़ का बहिष्कार किया जाने वाला था वह सिर्फ साइमन कमीशन नहीं लेकिन उसके पीछे की विचारधारा थी कि भारत सदैव के लिए ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग बना रहेगा और ब्रिटिश पार्लियामेंट को यह अधिकार था कि वह जो चाहे सो भारत को दे या न दे। लेकिन साइमन कमीशन द्वारा यह अपमान एक ऐसा मौका था जिससे संयुक्त कार्यवाही के लिए, और अलग–अलग पार्टियों के सदस्यों को एक ध्येय में गूँथने के लिए उपयोग में लाया जा सकता था।

प्रत्याघात का यह अवसर जवाहर के लिए मानो एक रोगमुक्त होने का मौका था और वे कांग्रेस के प्रमुख सचिव के नाते, साइमन के बहिष्कार के लिए सारे देश को संगठित करने में जुट गये। राष्ट्रीय हड़ताल एक भारी सफलता साबित हुई। जवाहरलाल जितनी आशा करते थे उससे भी बड़ी और इसलिए पूरे साल जहाँ–जहाँ कमीशन गया, मोर्चे और धरने का अंत पुलिस के लाठी चार्ज और गोली–बारी से हुआ।

लाहौर में पंजाब के प्रमुख कांग्रेस नेता, लाजपतराय को बुरी तरह लाठी से पीटा गया। जवाहरलाल और उनके साथी अब कमीशन के यू.पी. आने का रास्ता देख रहे थे। प्रादेशिक शासन ने पहले तय किया कि नरम रुख अख्तियार करें उन जुलूसों को ले जाने दें, जहाँ संगठन पूर्वानुमति प्राप्त कर लें और पुलिस जो मार्ग निश्चित करे उसी पर वे जुलूस जायें। नवंबर में जुलूस ले जाने दिये गये। जवाहरलाल लखनऊ आये और विरोध की गति एकदम बढ़ गयी। लाजपत राय की मृत्यु की ख़बर ने सारे देश में आग लगा दी थी, और जवाहरलाल ने लखनऊ के युवकों से कहा कि वे इस चुनौती का सामना करें। जब बहिष्कार कमेटी ने जुलूस की इजाजत माँगी तो उसे इस शर्त पर वह दी गई कि उसका रास्ता परिवर्तित किया गया, जिससे यूरोपियनों की दुकानों के केन्द्रों से वह न गुज़रे, चूँकि गवर्नर उस दिन वहाँ गार्डन पार्टी में जाने वाले थे। जुलूस के आयोजकों ने जवाब दिया कि अब जुलूस का रास्ता बदलना असंभव था क्योंकि आदेश देर से पहुँचा था और जब जुलूस निकला तो उस पर घुड़सवार पुलिस ने लाठी

चार्ज किया। जवाहरलाल भरसक उस समय तक किसी बड़े मुकाबले की आशा नहीं कर रहे थे, सो वे लखनऊ से चले। पर जब सुना कि लाठी–चार्ज हो रहा है तो वे 29 को वापस आ गये। पुलिस ने यह समझकर कि 28 को कमीशन के बहिष्कार को उकसाना जवाहरलाल की अनुमति से मिला है, सारे जुलूसों पर पाबंदी लगा दी। जवाहरलाल और गोविंदवल्लभ पंत द्वारा एक सार्वजनिक सभा में जाने वाले बारह व्यक्तियों के एक जूलूस को उन्होंने रोका, और पूछा कि जुलूस की आज्ञा उन्होंने प्राप्त की है या नहीं ? जवाहरलाल ने उत्तर दिया कि पुलिस के कल के व्यवहार को देखकर उनके साथ उन्हें अब कुछ नहीं लेना–देना है। इस पर पुलिस ने उनपर लाठी चार्ज किया। जवाहरलाल को खुद को दो चोटें लगीं। इसके पश्चात् भी वे लोग डटे रहे। वहाँ और भीड़ जमा हो गई, अधिकारियों को मजबूर होकर जवाहरलाल और उनके साथियों को जिस मार्ग से वे लोग जाना चाहते थे उसमें सभा में जाने के लिए आज्ञा देनी पड़ी। उलटे पुलिस उनके आगे–आगे घोड़ों पर हरावल दस्ते की तरह चली। दूसरे दिन सवेरे कमीशन लखनऊ आया। एक बड़ा जुलूस जवाहरलाल के नेतृत्व में स्टेशन तक पहुँचा, और कमीशन के उस रास्ते के निकट तक पहुँचा, जो कि उन्हें जिस मार्ग की आज्ञा दी थी उससे पृथक था। यह स्थान एक खुले मैदान के पास थी और पुलिस ने मिलिटरी घुड़सवार फ़ौज की टुकड़ी से हमला बोल दिया, लाठी और बल्लम का प्रयोग किया, दो तीन फर्लांग तक तीस हज़ार से ऊपर लोगों के जुलूस में सम्मिलित सैकड़ों को पीटा और कुचल दिया गया, फिर भी इतना बड़ा जनसमूह शांत डटा रहा, न वह पीछे हटा, न उसने जवाबी हमला किया। अंततः कमीशन के निकल जाने पर, पुलिस ही पीछे हट गई। जवाहरलाल की पीठ–कंधों, पैरों पर आधा दर्जन लाठी की चोट आई। उनको चारों तरफ से विद्यार्थियों ने ढाल के जैसा ढक लिया, सो ज्यादा चोटें न लगीं। तब एक युवक, जो दिखने में विद्यार्थी था लेकिन बाद में पता लगा पुलिस का एजेंट था, आगे आया और जवाहरलाल को दो पिस्तौलें सौंपने पर बल देने लगा जिसे जवाहरलाल ने नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। यदि यह घटना बताती है कि स्थिति को और भड़काकर बिगाड़ने और जवाहरलाल को गंभीर रूप से इस अपराध में लपेटने का वह प्रयत्न था। इससे जवाहरलाल का आरोप पुष्ट होता है कि

पुलिस, पिछले दो दिनों तक की गिरती प्रतिष्ठा से क्रुद्ध होकर और उन सब पर, खास तौर से जवाहरलाल से, बदला लेने पर आमादा थी।

जवाहरलाल पर लाठी चार्ज और चोटों के समाचार पूरे भारत में क्रोध की लहर लगा गये। ब्रिटिश शासन के विरोध में बढ़ते हुए राष्ट्रीय प्रतिरोध का प्रभाव पड़ा ही, उनसे जवाहरलाल का राष्ट्रीय महत्व और साबित हो गया। वे अब सिर्फ उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञ नहीं थे। उनकी लोकप्रियता समस्त भारत में आग की लपट के जैसी फैली, और अब वे आवश्यक रूप से प्रतिष्ठित हो गये। गाँधी ने इस बात को पहचाना और उसका स्वागत किया। बापू का सप्रेम आशीर्वाद। तुमने बड़ी बहादुरी से सब किया। तुम्हें और भी बहादुरी के काम करने हैं। तुम्हें परमेश्वर दीर्घायु प्रदान करे और भारत को गुलामी के जुए से मुक्त करने में तुम्हें अपना चुना हुआ साधन बनाये।

शनैः-शनैः बढ़ती लोकप्रियता एवं सरकार द्वारा कार्रवाई

जवाहरलाल नेहरू धीरे–धीरे लोगों के बीच लोकप्रिय हो रहे थे। इन की बढ़ती लोकप्रियता से अन्ततः उन्होंने तय किया कि कलकत्ता में कुछ दिनों पश्चात जो राष्ट्रीय कांग्रेस की वार्षिक सभा होने वाली थी उसके फैसलों की वह प्रतीक्षा करे। कलकत्ता में मोतीलाल को अपेक्षा थी की कांग्रेस नेहरू रिपोर्ट स्वीकार करेगी और पूर्ण स्वतंत्रता के अपने अंतिम लक्ष्य को क़ायम रखते हुए 'औपनिवेशिक श्रेणी' स्वीकार कर लेगी। जवाहरलाल बड़े गहरे असमंजस में थे। नेहरू रिपोर्ट के पीछे का मनोविज्ञान उनके लिए दूसरा था। अब इसी बात पर यदि कांग्रेस के दो हिस्से हुए तो गाँधी और उनके ;जवाहरलाल केद्ध पिता विरोधी दल में हो जाते। लेकिन उनके सार्वजनिक जीवन में जैसे अनेक बार हुआ, विरोध के मुकाबले वात्सल्य जीत गया। उन्होंने 'औपनिवेशिक श्रेणी' का डटकर विरोध किया। किन्तु उन्होंने स्वतंत्रता के अर्थ को थोड़ा सौम्य बनाया, यह कहकर कि ब्रिटिशों के साथ सब संबंधों का नहीं लेकिन सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही विच्छेद होगा, और उन्होंने मद्रास कांग्रेस के स्वतंत्रता के प्रस्ताव को किसी प्रकार भी न लाते हुए नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया। इसमें दो बातें प्रतीत होती हैं: एक सामान्य समझौते की चाह भी थी, और साथ ही

मौका पड़ने पर दोनों मार्गों का सामना करने की मानसिक तैयारी भी थी। उसी प्रकार गाँधी इस विच्छेद के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने सिफारिश की कि यदि सरकार नेहरू रिपोर्ट को स्वीकृत कर दो सालों के अंदर उस पर यदि उमल न करे तो कांग्रेस संपूर्ण स्वतंत्रता की बात पर फिर आ जाये। ऐसे लचीले रुख में आदर्शों के मामले में काफी दूर तक समझौते की बात भी नहीं थी, ख़ास तौर पर तब जब सब ही मन–मन में मानते थे कि सरकार क्या नेहरू रिपोर्ट मानने वाली है, इसलिए यह सिर्फ सुनने में अच्छी लगने वाली बात थी। जवाहरलाल को और आगे अपनी ओर कर लेने के लिए, चर्चा में सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार करने की अवधि को एक वर्ष की ही कर दिया गया। सो जवाहरलाल और उनके मित्र, प्रस्ताव को मान्यता दे सके। लेकिन उस कागजी रियायत के प्रति भी अपनी अस्वीकृति व्यक्त करने हेतु, जब प्रस्ताव अंतिम सत्र में पास किया गया, जवाहरलाल उसमें उपस्थित नहीं रहे।

इस प्रकार से कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट और औपनिवेशिक श्रेणी की एक साल के भीतर माँग को अपना सहयोग दिया। अगर एक साल तक कुछ नहीं हुआ तो कांग्रेस फिर स्वतंत्रता–प्राप्ति के साधन के तौर पर असहकारिता का आंदोलन छेड़ेगी। ऐसे प्रस्ताव को सन्तोषजनक तरीके से सरकार माने इसकी कोई आशा नहीं थी, इसलिए खासतौर पर 1929 एक तैयारी का वर्ष होने वाला था। इसी भावना से जवाहरलाल कांग्रेस के प्रमुख सचिव का कार्यभार देखते रहे। उनके पास समय की कमी थी, फिर भी कांग्रेस के काम पर जितना संभव था अपनी जेब से ख़र्च करते। उन्होंने कार्यकारिणी समिति से यह अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वे खुद या उनके वे प्रतिनिधि जिन्हें वे चुनें, प्रादेशिक कमेटियों के कार्यालयों का निरीक्षण करें और उनकी कार्यपद्धति में सुधार की सिफ़ारिशें करें। उन कार्यालयों में जाकर उन्होंने वहाँ के हिसाब–किताब की जाँच करने वाले लेखा–परीक्षकों की भी व्यवस्था की। अधिकतर समस्त प्रादेशिक मुख्यालयों का निरीक्षण किया गया और उनमें सुधार के लिए सिफ़ारिशें की गईं। उनके हिसाब–किताब व्यवस्थित किये गये। जवाहरलाल ने कांग्रेस स्वयंसेवक दल की ओर भी प्रचुर ध्यान दिया। उनमें 'हिंदोस्तानी सेवादल', 'यूथ लीग'

और 'विद्यार्थी संगठन' आते थे। वह चाहते थे समर्पित युवक और स्त्रियाँ, जो किसान–मजदूरों को संगठित कर सकें, और आने वाले संघर्ष की तैयारी की खातिर जन–चेतना भी जगाएँ। उन्होंने एक भारतीय राष्ट्रीय सेवादल की योजना बनाई, राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तरों पर, और उसके स्वयंसेवक और पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं का उत्तर प्रदेश में संगठन बनाने के लिए चंदा एकत्रित किया। उन्होंने 'इंडिपेंडेंस फॉर इंडिया लीग' को पुनः सक्रिय बनाने का प्रयास किया। जवाहरलाल एवं उनके साथियों के जन–जागरण के और खास तौर पर किया और विद्यार्थियों के, ब्रिटिश राज को समाप्त करने के प्रयासों को उस समय की सरकार ने ज्यादा महत्त्व दिया, बजाय कम्युनिस्टों के आंदोलन चलाने के कार्यक्रम के। सरकार ने यह भी पहचान लिया कि इन दो आंदोलनों के अनेक समान संपर्क–बिंदु हैं और दोनों ही अनेक प्रकार से और सघन रूप से जुड़े हैं। राजनैतिक और कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों में यह प्रवृत्ति है कि वे हाथ मिलाते हैं, और पंडित जवाहरलाल नेहरू जो एक पक्के राष्ट्रवादी हैं और साथ ही कुछ कम्युनिस्ट सिद्धांतों से प्रामाणिक रूप से आकर्षित हैं, इन दो विचारों के मिलन बिंदु पर खड़े हैं। प्रारंभ में केवल जवाहरलाल को पकड़ने का विचार था। लेकिन फिर सरकार ने यह सोचा कि दूसरे मोर्चे की तरफ मुड़े और पहले कम्युनिस्टों से निबटे। मेरठ में कम्युनिस्ट नेताओं पर मुक़दमे का नाटक किया गया। इसलिए यह जगह चुनी थी कि जूरी के चक्कर से सरकार बच सकती थी। सज़ा देने के मौक़े पर यह जूरी कभी–कभी रुकावट पैदा कर दे तो ? वैसे कांग्रेस ब्रिटिश कोर्टों में अपना चाव करने में विश्वास नहीं करती थी, पर इस समय उसने एक बचाव–समिति बनाई, जिसके एक सदस्य थे जवाहरलाल और इस समिति ने मुक़दमे में, वकीलों को राजनैतिक अपराधियों की तरफ से बचाव के लिए नियुक्त किया। प्रथम बार, एक विशेष मामले के जैसा इस बचाव के लिए कांग्रेस ने 1,500/- रु. मंजूर किये और जवाहरलाल विदेशों से आर्थिक तथा अन्य मदद जुटाने में लगे। जनता में महीनों तक यही व्यापक मान्यता थी, और यही मोतीलाल और जवाहरलाल दोनों का भी विश्वास था कि जवाहरलाल अपने आप बंदी बना लिए जायेंगे। प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में और कम्युनिस्टों को सर्वसामान्य राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक करने के लिए ही असल में

सरकार ने जवाहरलाल को जाल में डालकर पकड़ने वाली अनिच्छा दिखाई। कम्युनिस्ट विचारधारा से आकर्षित होने पर भी जवाहरलाल कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रमों से संलग्न नहीं थे। सरकार निर्दोष लोगों को भी उन षड्यंत्रों में फँसाने में हिचकिचाती या दया नहीं दिखाती थी, पर जिन निर्दोष लोगों को पकड़ा गया था, उनमें से अनेक लोगों के नामों से यह स्वाभाविक है। जैसे जवाहरलाल ने मेरठ जेल में प्रथम बार जाने पर कहा था, इन अभियुक्तों में से कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बारे में कितने कम लोग जानते हैं। उनसे तो अधिक मुझे ही मालूम हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में गाँधी तथा मोतीलाल ने जवाहरलाल को चुनकर उठाया और कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर बैठा दिया। 1929 में दस कांग्रेस कमेटियों ने गाँधी को वोट दिये, पाँच ने वल्लभभाई पटेल को और जवाहरलाल नेहरू को सिर्फ़ तीन ने। सर्वसामान्य भावना यह थी कि वे अभी अध्यक्ष पद की खातिर परिपक्व नहीं हैं।

जवाहरलाल स्त्यं अनिच्छुक थे। पर गाँधी ने उन्हें मनवाकर हामी भरवा ली, और फिर घोषणा की कि मुकुट जवाहरलाल के सिर पर रखा जाये। वृद्ध का अपना ज़माना बीत चुका था, और यह सही ही था कि युवकों में से कोई एक अपने साथियों का संघर्ष में सेनापतित्व करे। गाँधी ने, बड़े विश्वास से कहा कि कि उनके प्रतिस्पर्द्धा की झूठी प्रशंसा नहीं कर रहे हैं, और उनके युवजनों के साथ संबंध ऐसे थे कि जवाहरलाल का इस आसन को ग्रहण करना ऐसा ही था जैसे मानो वे स्वयं अध्यक्ष हों। फिर जवाहरलाल ने विनती की कि उनके नाम पर अनुरोध न करें और मोतीलाल ने, जो कि चाहते थे कि उनके पुत्र चुने जायें, गाँधी को बताया कि जवाहरलाल को अपनी इच्छा के खिलाफ देश पर थोपना, जवाहरलाल और देश दोनों के पक्ष में नहीं होगा। परंतु गाँधी ने ठान लिया था और 29 सितंबर, 1929 को ए.आई.सी.सी ने अनमने भाव से लाहौर में दिसंबर में होने वाले अगले अधिवेशन का अध्यक्ष चुना। अन्य नेताओं के दृष्टिकोण से, स्वतंत्रता आंदोलन में ऐसे लचीले संस्थापक का अध्यक्ष पद पर होना बड़ा फायदेमंद था। उनके सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रारंभ करने के इरादे की सच्चाई को उसके विचार ज्यादा तौर देते थेद्ध यद्यपि वे आश्वस्त थे

कि जरूरत पड़ने पर वह, गाँधी के आग्रह से झुक भी सकेगा। दूसरी तरफ जवाहरलाल के साम्राज्यवाद–विरोधी लीग के साथी यह अपेक्षा करते थे कि वह अपनी स्थिति का फायदा उठाकर कांग्रेस को विभाजित करेंगे और देश को एक पूरे क्रांतिकारी कार्यक्रम के साथ ले जायेंगे। सिर्फ जवाहरलाल अपनी स्थिति जानते थे कि एक ओर उनकी गाँधी निष्ठा और कांग्रेस के प्रति आस्था और दूसरी तरफ उनके वैचारिक झुकावों के बीच में वे दुविधाग्रस्त हो जायेंगे।

वह परीक्षा की घड़ी आने में समय नहीं लगेगा। जवाहरलाल सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए तत्पर हो रहे थे और वे वायसराय के साथ बातचीत के प्रस्ताव के पूरी तरह अस्वीकार को मनवा नहीं सके। फिर भी वे हार गये, और फिर, उनके मित्रों को काफी आश्चर्य हुआ कि वे गाँधी के साथ चलने को राजी भी हो गये। यह कहा गया कि कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य और साधारण सचिव के नाते वे सदस्यों के बहुमत की इच्छाओं को मानने के लिए बाध्य थे। लेकिन यह करने के पश्चात उन्होंने सदस्यता और सचिव पद दोनों से त्यागपत्र दिया और अब वे गंभीरता से सोचने लगे कि अध्यक्ष पद भी छोड़ दें। फिर भी, गाँधी, मोतीलाल, अंसारी, और शेष लोगों ने जवाहरलाल को मना लिया कि वह अपना विचार रोक लें, इसी वजह पर कि कांग्रेस जो शर्तें प्रस्तावित कर रही है वे ब्रिटिश कभी नहीं स्वीकृत करेंगे, और कार्यकारिणी समिति ने कांग्रेस के प्रस्ताव की पुष्टि की, और गाँधी के प्रस्ताव को सुधारा, जवाहरलाल को खुश करने की खातिर स्पष्ट तौर से जवाहरलाल को राज़ी करने के लिए कि इस प्रस्ताव की स्वीकृति कांग्रेस के अग्रिम अधिवेशन तक ही मान्य होगी। असल में इसमें, सरकार और कांग्रेस में कोई समान मुद्दा नहीं। और सबका ध्यान अब लाहौर की ओर मुड़ गया।

जवाहरलाल पहले झुककर अंततः जीत गये, अपने मन की मनवा सके। लेकिन अब जवाहरलाल के भारत में राष्ट्रीय अनुयायियों को कोई शिकायत नहीं थी, उन्हें फिर भी अपने विदेशी क्रांतिकारी मित्रों से लड़ना बाकी था। जब नेहरू जी को पूरा विश्वास हो गया था कि बार–बार केन्द्रीय असेंबली में सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक पर बहसों में और मेरठ में

चलने वाले मुक़दमे में साम्राज्यवाद विरोधी लीग के वर्णन से, कि अब सरकार लीग को कुचलने पर आमादा है, जवाहरलाल ने 1929 के ग्रीष्म में जनता को यह साबित करने के लिए भरसक प्रयत्न किया कि लीग कम्युनिस्ट संगठन नहीं है, यद्यपि उसमें कई कम्युनिस्ट थे, परंतु वह एक ऐसा संगठन है जो विश्व में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का समर्थन करने वाले जो आन्दोलन हैं उनके मध्य एक संपर्क बनाने का इरादा रखता है। एक व्यापक और ज्यादा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि धीरे–धीरे कांग्रेस को अनुप्रमाणित कर रही थी, तो वह लीग के साथ उसके संबंध का ही प्रत्यक्ष नतीजा था। जवाहरलाल का यह आत्मविश्वास वर्ष के अंत तक हिल गया जब उन्होंने सुना कि कम्युनिस्टों ने लीग की केन्द्रीय समितियों पर अधिकार कर लिया है और ग़ैर–कम्युनिस्टों का गला घोंट कर उन्हें शांत करा दिया है। इसका स्पष्ट आशय यह था कि जवाहरलाल की अब उस लीग में जगह नहीं थी, और वह संगठन जिसकी उन्होंने कल्पना की थी, राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन और सामाजिक समता की शक्तियों का सर्वदलीय महान संयुक्त मोर्चा अब टूट गया था। तो उन्हें इस बात की चिंता नहीं हुई कि अब जो लीग के कर्ता–धर्ता थे, वे उनके व्यवहार का निषेध कर रहे थे। अब स्थिति साफ़ हो गई थी। जवाहरलाल जैसा चाहें वैसा कार्य करने को मुक्त थे, न वे अपने नरम दलीय साथियों द्वारा पीछे रोक लिये जाने वाले थे, न वे अब तक के अपने वामपक्षीय मित्रों द्वारा पृथक हटाये जाने वाले थे। उनका यह जुए का दाँव पूरा समाप्त होने पर नागपुर में उन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड युनियन कांग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्षता की।

जवाहरलाल का अध्यक्षीय भाषण अपने प्रति सच्चा, उनके जैसा ही था। भारतीय श्रमिक की दुर्दशा की ज़िम्मेदारी उन्होंने उस व्यवस्था पर डाली जो कि पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का स्वाभाविक नतीजा थी। उन्होंने आह्वान किया ताकि श्रमिक राष्ट्रीय आंदोलन में साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में सम्मिलित हों, जबकि वे स्वयं अपने पूँजीवाद–विरोधी संघर्ष में राष्ट्रीयवादियों को भरती कर रहे थे। सच्ची लड़ाई शक्ति हथियाने की थी।

विदेशी शासक और शोषण करने वाले मालिक दोनों को उखाड़

फेंकना था। समाज की समाजवादी व्यवस्था आदर्श थी जिसमें श्रमिकों के हित सम्मिलित थे और संपत्ति के स्रोतों पर व्यक्तियों का नहीं अपितु समस्त समाज का अधिकार था। उन्होंने कम्युनिस्टों के साधनों की और तरीक़ों की आलोचना की, पर कार्यकारिणी समिति की सभाओं में खामोश बैठे रहे जबकि सरकार को कांग्रेस के दान के प्रस्ताव नेहरू रिपोर्ट के निषेध के प्रस्ताव रखे और स्वीकार किये जा रहे थे और जब औपनिवेशिक दर्जे के बदले स्वतंत्रता की माँग दुहराई जा रही थी और श्रमिकों के गणतंत्र की प्रतिष्ठा और साम्राज्यवाद विरोधी लीग से संबंध रखने और सदस्यता लेने की माँग हो रही थी।

सच्चाई यह थी कि वे और कांग्रेस अब भी औपनिवेशिक दर्जे के लिए सरकार के संवाद से प्रतिबद्ध थे, और इसकी उन्हें कोई चिंता नहीं थी, जबकि लीग के प्रति उनकी आंतरिक हिचकिचाहट कहीं भी व्यक्त नहीं हुई। जवाहरलाल को अध्यक्ष के नाते केवल एक मूर्ति के जैसा प्रयोग में लाया जा रहा था इससे ज्यादा बाहर सार्वजनिक रूप उनका चाहे जो हो निजी तौर पर उन्हें इन समस्त फैसलों की स्वीकृति उनके मन में थी। उन्होंने भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया कि नरम दल के लोग पृथक हो जायें और एक स्वतंत्र अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन स्थापित हो। जबकि नागपुर में जवाहरलाल ने जिन नीतियों से वे सब सरकारी तौर पर प्रतिबद्ध थे उनके निषेध की तरफ ध्यान नहीं दिया, जबकि लाहौर में वर्ष के अंत में वे पूर्णतः बंधनहीन हो गये। अपने नाटकीय तरीके से, कांग्रेस जुलूस में एक सफ़ेद फ़ौजी घोड़े की सवारी कर वे पूरी तरह से, जैसे गाँधी ने भविष्यवाणी की थी, विद्रोह के तरुण गैलेहाड की भूमिका में काफी जँचे। अब कांग्रेस स्वतंत्रता और सविनय अवज्ञा से प्रतिबद्ध थी।

जवाहरलाल का भाषण इस प्रतिरोध और विप्लव स्वर से मेल खाता था। उन्होंने इस दिसंबर के बारे में अपना अध्यक्षीय भाषण लिखना शुरु किया, लेकिन वह भी वे इसी पूर्ण ज्ञान से लिख रहे थे कि वायसराय के साथ बातचीत के सफल होने के कोई आसार नहीं हैं। भारतीय समस्या को जवाहरलाल ने उसके अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में रखा। यह इतिहास का एक संक्रांति–काल था, जब नवयुग के जन्म की प्रसव–पीड़ा से विश्व पीड़ित

था। एशिया में यूरोप की प्रभुसत्ता के दिन लद चुके थे और भारत में भी वह तुरंत ही समाप्त होने वाला था। और भविष्य अमेरिका और एशिया के हाथों में आने वाला था। भारत को कोई सन्देश दुनिया को देना था, तो उसे भी अन्य राष्ट्रों से बहुत कुछ सीखना और ग्रहण करना था। फिर भारत की ओर मुड़कर, जवाहरलाल ने यह भी बताया कि यद्यपि उसका सामाजिक ढाँचा आश्चर्यजनक तरीके से स्थिर और स्थायी रहा था, फिर भी विशेष रूप से एक प्रमुख मामले में दोषपूर्ण था। समानता की समस्या का कोई हल उसने नहीं पाया था, और असल में वह जान–बूझकर विषमता पर अपने को आधारित किये हुए था।

भारतीय जन प्रतिभा के अनुसार और भारतीय चिंतन और संस्कति पर आधारित एक समाधान खोजकर निकालना होगा, अगर राजनैतिक और सामाजिक संरचना में कोई स्थिरता लगी हो, और अलग अलग धर्म–संप्रदायों के बीच मतभेद नष्ट करने हों। इससे जवाहरलाल ने यह निष्कर्ष निकाला कि अलग–अलग जातियों और जमातों में जो सन्देह और भय है उसे दूर करने हेतु विश्वास और उदारता जरूरी है। अपने भाषण में जवाहरलाल ने आगे कहा, ब्रिटिश सेना ने भारत को अपने लोहे के शिकंजे में बाँध रखा है, और जो भी सिर उठायेगा उन सबमें अच्छे लोगों पर भी मालिक का कोड़ा बरसने वाला है। कलकत्ता प्रस्ताव का उत्तर स्पष्ट और निश्चित था। अब सिर्फ एक मंज़िल थी–आज़ादी, ब्रिटिश दासता से पूरी तरह स्वतंत्रता। उसी से विश्व–सहकारिता और अंतर्राष्ट्रीय समता–समाज तक पहुँचा जा सकेगा। जवाहरलाल ने कहा, मुझे स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए कि मैं एक समाजवादी हूँ और गणतंत्रवादी हूँ। मैं राजाओं और महाराजाओं में विश्वास नहीं करता, न उस व्यवस्था में जिससे उद्योग के आधुनिक राजपुत्र पैदा होते हैं, जो कि लोगों के जीवन और संपदा पर पुराने राजाओं से भी ज़्यादा अधिकार और सत्ता रखते हैं, और जिनके तरीक़े उतने ही शिकारी ढंग के हैं जैसे पुराने सामंती संपत्ति संपत्तिवानों के। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि कांग्रेस, पूरा समाजवादी कार्यक्रम अपना नहीं पायेगी, लेकिन समाजवादी चिंतन धीरे–धीरे समस्त ढाँचे में समाज में और समस्त विश्व में फैल रहा था। और मतभेद सिर्फ इस बात पर था कि इस समाजवाद की प्रगति की गति और साधन कैसे हों। भारत

को भी उसी मार्ग से जाना होगा, यदि वह ग़रीबी और विषमता को समाप्त करना चाहता है, यद्यपि वह अपने तौर–तरीक़े विकसित करे और उस आदर्श को अपनी प्रतिभा के अनुकूल अपनाये। भारत की दो विशिष्ट समस्याओं, यानी अल्पसंख्यक और राज्यों के बारे में जवाहरलाल ने कोई चौंकाने वाली बात नहीं कही। वे चाहते थे अल्पसंख्यकों को भरपूर आश्वासन दिया जाये कि उनकी संस्कृति और परंपराएँ सुरक्षित रखी जायें। राजा–महाराजा एक दुष्ट व्यवस्था की उपज थे, जिसे अंततोगत्वा रखा जाना ही होगा।

लेकिन जहाँ तक किसानों और मज़दूरों का प्रश्न है, कांग्रेस से जवाहरलाल ने कहा कि वह एक वर्ग के दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व को समाप्त कर, और परिवर्तन का एक ऐसा कार्यक्रम बनाये, जिसे शीघ्र लागू किया जा सके। यह मानना कि समाज या राज्य व्यवस्था का प्रमुख पिता की तरह है और वह विश्वस्त न्यासी है या 'ट्रस्टी' है, यह दोनों सिद्धांत अब एक प्रकार से अर्थहीन साबित हो चुके हैं। हर खेत या कारख़ाने में प्रत्येक कामगार को न्यूनतम निश्चित वेतन और काम के मानवीय दृष्टि से बँधे हुए घंटे होने चाहिए और दीर्घ अवधि के कार्यक्रम में कांग्रेस के कामगारों को उद्योगों पर सहकारिता के आधार पर स्वामित्व प्राप्त करने का और किसानों को खेती की संपत्ति का प्रयत्न करना चाहिए। हालाँकि तात्कालिक समस्या थी, सत्ता हथियाने की, और राष्ट्रीय संकल्प को मजबूत करने वाले अधिकारों पर जनमत संगठित करने की।

न तो कांग्रेस के पास वे साधन थे, न प्रशिक्षण की व्यवस्था थी कि संगठित हिंसा बन्द करा सकें, और व्यक्तिगत और छुट–पुट सहसा–उद्रेकी हिंसा सिर्फ निराशा की स्वीकृति थी। असहयोग की मूल भावना तो रखनी ही थी, लेकिन जवाहरलाल स्कूलों और कचहरियों के बहिष्कार की घोषणा प्रारंभ में ही काफी समझदारी की बात नहीं समझते थे। ऐसा कार्यक्रम होना चाहिए था कि राजनैतिक तथा आर्थिक बहिष्कार, ब्रिटिश सरकार के समस्त संपर्क–बिंदुओं को कम करते जाना निहित होता। इससे शक्ति मुक्त होती और सच्चे संघर्ष की तरफ सीधा ध्यान दिया जाता, जो कर न चुकाने, और जहाँ संभव हो, सामान्य हड़तालों का रूप लेता जाता। यह

अब एक खुला षड्यंत्र था, जिसमें सभी सम्मिलित होते, विदेशी शासन से देश को मुक्त करने में। यह अध्यक्षीय भाषण उस समय जवाहरलाल की शक्ति और कमजोरी दोनों दिखाता है। उनकी अधीरता और स्वतंत्रता के लिए उनकी पूर्ण उत्सुकता इसमें स्पष्ट है। उन्हें राजनैतिक समझौते के लिए कोई चाह नहीं थी। वे भारत से ब्रिटिशों को हटाना चाहते थे और उसके पश्चात भारत को ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वतंत्र करना। सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रचार में, जो वे प्रारंभ करने जा रहे थे, उन्होंने गाँधी का नेतृत्व स्वीकार किया था लेकिन यहाँ उन्होंने स्पष्ट किया था कि अहिंसा को उन्होंने कोई अन्तिम नैतिक मंज़िल नहीं तय की थी, बल्कि वह सिर्फ एक उपकरण या साधन था। यह भी उन्होंने कहा कि भविष्य में वे कभी हिंसा के साधनों का उपयोग नहीं करेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने हिम्मत के साथ घोषित किया कि वे एक समाजवादी थे और गणतंत्रवादी थे। लेकिन इस साहस के साथ एक क्षमा–भाव भी जुड़ा था। जो समाजवाद लाना चाहते थे वह खासतौर पर एक सौम्य और भीरू किस्म का था, और उन्होंने भारत के अपने तरीक़ों की बात की और समाजवाद को भारतीय परंपराओं के अनुसार ढालने की भी।

समस्याएँ बनावटी हैं, फिर भी, उन्होंने कहा कि एक अन्तरिम समाधान खोज लिया जा सकेगा जो कि खासतौर से भारतीय होगा। यह विचारों की अस्पष्टता शायद बहुत सुनिश्चित पसन्द या नापसन्द के प्रति अनिच्छा की वजह से थी, उनमें एक जन्मजात प्रवृत्ति थी कि वे भारतीय संस्कारों को पूर्ण रूप से छोड़ देना नहीं चाहते थे, जबकि उनका मन उनसे दूर हटना चाहता था। और दूसरी बात यह थी कि इन सभी मामलों में उन्हें कोई जल्दी नहीं जान पड़ती थी। सभी को मिलकर स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मार्ग बनाना था और इसका स्पष्ट साधन था कांग्रेस। उन्होंने इसी के साथ–साथ यह भी अपना विश्वास व्यक्त किया कि कांग्रेस, जिसमें प्रमुखतः मध्यमवर्गीय लोग थे, उनके साथ पूर्ण रूप से राजी होगी या कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम अपनायेगी, ऐसी उन्हें आशा नहीं थी। उनकी कांग्रेस के प्रति निष्ठा पूर्ण रूप से थी, और उसका अर्थ यह था कि यद्यपि वे अपने सिद्धांत को नहीं छोड़ सकते थे, इसके लिए राज़ी थे कि उन सिद्धांतों के लिए कुछ दिनों के लिए थोड़ी राह देखी जाये। जवाहरलाल के लिए क्रांति

से ज्यादा प्रमुख अनुशासन था, और वे राजनैतिक स्वतंत्रता को आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन से ज्यादा महत्व देते थे। ऐसे आदमी से कोई भय नहीं था जिसे गाँधी ने एक पक्के समाजवादी के जैसा वर्जित किया था, लेकिन देश के लिए वह उतना ही करेंगे जो अपना देश पचा सके, वे एक व्यावहारिक राजनयिक थे और जो अपने आदर्शों को अपनी परिस्थितियों के अनुरुप उदार बना सकते थे। दूसरी तरफ कुर्सी में एक ऐसे आकर्षक और चरित्रवान व्यक्ति को रखना आवश्यक था जो कांग्रेस में विद्यार्थी और बुद्धिजीवी वर्ग के अपने अनुयायियों की विशाल संख्या को बनाये रखे। अग्रिम दस वर्षों में, कांग्रेस में आर्थिक सवालों पर चेतना जगाने का कार्य किसी एक व्यक्ति ने उतना नहीं किया जितना जवाहरलाल ने।

कार्यकारिणी समिति ने गाँधी को अधिकार दिये कि वे सविनय अवज्ञा आंदोलन जब चाहे जैसा चाहे प्रारंभ करें। यह भी आज्ञा दी कि आंदोलन प्रारंभ होने पर, कचहरियों और स्कूलों का बहिष्कार करें। अब तक गाँधी ने अपना रास्ता देख लिया था, और समुद्र तक कूच करके नमक कानून तोड़ने का निर्णय कर लिया था। जवाहरलाल को कानून तोड़ना अपने आपमें शक्ति देने वाली बात लगती थी, और अब गाँधी को उनका सहयोग बिना किसी मानसिक झिझक के था। वे भी, कुछ मित्रों के साथ, गुजरात गये और एक पड़ाव तक गाँधी के साथ गुजरात में कूच करते हुए गये, और उनपर जो प्रभाव पड़ा वह गहरा और स्थायी था। उन्होंने वर्ष बाद लिखाः

"इस इन्सान के कई चित्र मेरे मन में उभरते हैं, जिसकी आँखें सदा मुस्कान से भरी रहती थीं और फिर भी उनमें अथाह दुख के जल–संचय थे। परंतु वह चित्र जो सबसे अधिक प्रमुख और सार्थक था, वह उनके कूच के समय का था। नमक सत्याग्रह में हाथ में डंडा लिये, दांडी की ओर वे 1930 के मार्च में मार्च कर रहे हैं। वे सत्य के पथ के तीर्थयात्री थे, शांत, सौम्य स्थिरचित्त, निर्भय, जो अपनी यह यात्रा बिना परिणाम की चिंता किये, चुपचाप करते चले जायेंगे।" इस अनुभव के पश्चात जो भी विचारात्मक या स्वभावगत मतभेद रहे हों, जवाहरलाल अपने नेता से कभी भी पूर्ण विच्छेद कर लेंगे, ऐसी उम्मीद शायद असंभव थी। गाँधी ने 6 अप्रैल को, जालिया वाला बाग़ दिवस पर, नमक बनाया और जवाहरलाल ने देश का

आवाहन किया कि सविनय अवज्ञा का जनांदोलन प्रारंभ हो। इलाहाबाद ज़िले में अभियान की ज़िम्मेदारी उन्होंने खुद ली। वहाँ नमक बनाने की तो कोई आवश्यकता नहीं थी, कुछ ऐसे कानून–भंग की बात सोची गयी, जिससे पकड़े जाते। 9 को शहर में उन्होंने ग़ैरकानूनी तरीके से बनाये नमक के पैकेट बेचे, और दूसरे दिन वे और उनकी पत्नी एक विराट् जुलूस बनाकर एक विशेष प्रकार की मिट्टी से नमक एकत्र करने गये, जा कि इस काम के लिए वहाँ लायी गयी थी। इसके पश्चात् शहर के अलग-अलग भागों में नमक जमा करने का और उन्हें वाहनों में लाने का, उनमें नमक बनाने का और उसके लिए उपयुक्त गानों के साथ बेचने आ अभियान प्रारंभ किया। लेकिन इस नमक वाली बात से ज्यादा सरकार के लिए चिंता का विषय था। रायबलेरी में जगह–जगह लगान न देने का किसानों में संगठन। जवाहरलाल को चौकी में पकड़ा गया, जो कि इलाहाबाद से कुछ मील दूर पर थी, नैनी जेल में मुक़दमा चलाया गया और 11 अप्रैल को नमक बनाने में सहायता देने के आरोप में छह महीने सादा कारावास की सज़ा दी गयी। जवाहरलाल ने उस दिन, जब कारागार के दरवाज़े उनके लिए बंद किये गये, अपनी पाकेट डायरी में लिखा–'महान दिवस'। एकांत कोठरी में उन्हें रखा गया, एक बैरक में, जो कि ख़तरनाक क़ैदियों के लिए थे इस कोठरी के आस–पास करीब 15 फ़ीट ऊँची एक गोल दीवार थी।

जवाहरलाल को चौकोर दीवार से अधिक इस प्रकार की दीवार से बंदी होने की भावना ज्यादा अखरी, चूँकि इसमें चारों तरफ़ से घिरे होने की भावना तो थी ही, परंतु दिन में आकाश का काफी हिस्सा और रात को तारों का दृश्य भी कट जाता था, लेकिन जेल में यही दो जवाहरलाल के प्रमुख सुखद दृश्य थे। जवाहरलाल ने मना किया कि उन्हें कोई विशेष सुविधा दी जाये। वे अनेक बार भूखे रह जाते थे। भूख से भी ज्यादा, बोरियत थी। इस परेशानी से बचने के लिए, जवाहरलाल ने अपने जीवन को एक व्यवस्थित निश्चित दिनचर्या से बाँध लिया। वे काफी सवेरे उठ जाते, जेल की मुख्य दीवार के साथ–साथ एक मील की दौड़ लगाते और उतनी ही तेज़–तेज़ क़दमों से चलते, फिर दिन का ज्यादा समय सूत कातने बुनने और पढ़ने में बिताते। चूँकि पहले उन्हें एक चरखा भी नहीं दिया गया था, जवाहरलाल कुछ–न–कुछ शरीर–श्रम करना चाहते थे। सो उन्होंने

नेवार बुनना प्रारंभ किया और वे बाद में भी करते रहे। लेकिन एक अनुशासित कांग्रेसजन के नाते, उनकी मुख्य रुचि हाथ से कताई करने में थी। जवाहरलाल को एक समय सिर्फ छह पुस्तकों की आज्ञा मिली थी, और कुछ निश्चय था कि इनमें सन्दर्भ ग्रंथ और शब्दकोश भी आते हैं या नहीं, और अनेक खंडों के एक ग्रंथ को एक पुस्तक माना जाये या नहीं। अतः जवाहरलाल ने इन्दिरा को मानव–इतिहास की कहानी सुनाने वाले पत्रों को लिखना बंद कर दिया।

1928 में, जब इंदिरा मसूरी में थीं, और जब नेहरू मैदानों में यात्राएँ कर रहे थे, उन्होंने ये पत्र लिखने प्रारंभ किये–पृथ्वी तथा जीवों की उत्पत्ति के तथा मनुष्य के प्राक्–इतिहास के विषय में। अब वे वर्गों की संरचना तक आये थे, संगठित धर्मों के विकास तक, और आर्यों के आगमन तक, जब सार्वजनिक जीवन की अन्य व्यस्तताओं की वजह से उन्हें यह पत्र–लेखन बंद करना पड़ा। अब जेल में समय की कमी नहीं थी, लेकिन उन्हें और पुस्तकों की जरुरत थी, और वह प्रेरणा भी भरसक उन्हें मिल रही थी, मेरा मन इतिहास के निर्माण में ज्यादा लगा था, जैसा कि वह भारत में रोजाना बन रहा था, अब पुराने अतीत का विचार करने के लिए स्थान नहीं था। लेकिन वे काफ़ी पढ़ते रहते थे और काफ़ी नोट्स बनाते। जवाहरलाल का अकेलापन कभी भी बिल्कुल सन्नाटे में डूबा नहीं था। वह शुरु से ही कई सज़ायाफ़्ता वार्डरों और अर्दलियों से भंग होता रहता था। वे उनकी सेवा करने का बहाना करके उन पर निगरानी रखते थे, और दूसरे बंदियों से मिलने भी नहीं देते थे ताकि वे संदेश बाहर न भेजें।

लेकिन वास्तविकता यह थी कि कई और वार्डन और नौकर रोज़ उनके दर्शन के लिए आते थे और स्वराज्य की चर्चा चलाते। बंदी अंदर फूल ले आते, और उनका पंखा कुली, जो बंदी नहीं था, उनके लिए रोज़ कुछ आम ले आता था। वे कोई बहुत अच्छे नहीं थे। जवाहरलाल ने लिखा, पर उपहार तो दैवी होता है। यह आदमी काफी ग़रीब है। जेल के और शहर के अफ़सर भी उनसे मिलने आते रहते। उनके बंदी बनने के एक माह पश्चात सविनय अवज्ञा आंदोलन में पकड़े गये। दूसरे कांग्रेसी को उसी बैरक में रखा गया। 30 जून को मोतीलाल और सैयद महमूद के आ

जाने से जवाहरलाल के जीवन की शांत दिनचर्या बिल्कुल भंग हो गयी। अपने पिता की सेवा उनका मुख्य कार्य बन गया। जेल में रहते हुए भी पिता-पुत्र राजनैतिक बातचीत में दोनों खींच लिये गये तब तक यह सिलसिला चलता रहा। एक ब्रिटिश पत्रकार और दो अन्य उदार–पंथियों को गाँधी और मोतीलाल ने कुछ यों ही वक्तव्य दे दिये थे। दो प्रसिद्ध लिबाल, सप्रू और जयकर ने उन्हें ही उठा लिया और ऐसे समय जब देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन और सरकार का उस पर दमन चक्र चलाने का कार्य ज़ोर-शोर पर थे, समझौते का आधार बनाने हेतु उन वक्तव्यों को आधार बनाना चाहा। दोनों ने वायसराय से सामान्य गोलमोल बातों को लेकर, गाँधी से यरवदा जेल में मुलाकात की, और देखा कि वे सहकार्य करने की मनःस्थिति में हैं। वस्तुतः संवैधानिक मामले में समझौता करते जैसे दिखाई देने पर भी गाँधी ने अपना पूरा ध्यान उधर नहीं दिया था, और कहा जवाहरलाल ही अंतिम फैसला दे सकते हैं। इसलिए ये शांति-दूत नैनी जेल में नेहरू पिता-पुत्र से मिलने पहुँचे।

हालाँकि जवाहरलाल ने गाँधी के नाम एक पत्र सप्रू–जयकर को दिया था, जिसमें जवाहरलाल ने स्पष्ट किया था कि वे और उनके पिता गाँधी के संवैधानिक मामलों के दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं हुए थे, और वे स्वयं अभियान चलाना चाहते थे। सप्रू ने वायसराय से अनुरोध किया कि नेहरू पिता-पुत्र को यरवदा जेल में गाँधी के पास ले जाया जाये, ताकि वे वहाँ विचार कर सकें। जवाहरलाल की अत्यंत इच्छा नहीं थी, मोतीलाल ने फिर भी कहा कि उन्हें कोई आक्षेप नहीं है, और एक ख़ास रेलगाड़ी से उन्हें गाँधी तक ले जाया गया। लेकिन गाँधी और नेहरू पिता–पुत्र की सप्रू–जयकर से वार्ता का कोई नतीजा नहीं निकला। कुछ दिनों बाद, मोतीलाल को अस्वस्थता के कारण से छोड़ दिया गया और जवाहरलाल की अपनी छह महीने की सज़ा की अवधि समाप्त हो रही थी। लेकिन यू. पी. सरकार उन्हें ज्यादा समय तक स्वतंत्र छोड़ने के लिए राजी नहीं थी। जवाहरलाल वैसी आशा भी नहीं करते थे। 11 अक्टूबर को छूटते ही उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष के नाते कार्य शुरु कर दिया। इस तरह से, कांग्रेस चूँकि प्रतिबंधित संस्था थी, वे सज़ा के लिए अपने आपको सरकार के समक्ष रख रहे थे, और उन्होंने फिर सब प्रादेशिक समितियों को नया

आक्रमण प्रारंभ करने का आदेश दिया। उनके अपने प्रदेश में, जहाँ पूरे सालभर कृषि–उत्पादों के दाम काफी गिरते जा रहे थे, लगान न देने का अभियान स्पष्ट तौर से काफी अच्छी प्रतिक्रिया जगाता और जवाहरलाल ने घोषणा की कि ज़िले की और शहर की कांग्रेस कमेटियाँ भूमि–कर लगान और आय–कर न देने का कार्यक्रम संगठित करेंगी। हालाँकि ऊपर से देखने पर समाज के वर्गों का, यानी जमींदार, किसान और व्यवसाय करनेवालों की इसमें मदद की जाती थी। लेकिन सरकार के विरोध में राजनैतिक संघर्ष करने में मुख्य रूप से किसानों को आह्वान था कि वे जमींदारों को भूमि कर न दें। इस आंदोलन का विस्फोटक तत्व था वर्ग–संघर्ष को तेज करके गाँव–गाँव तक उसे ले जाना। दूसरे ही दिन, उन्हें पकड़ लिया गया। उन पर राजद्रोह और नमक बनाने तथा टैक्स न देने हेतु जनता को उकसाने का आरोप लगाकर, दो वर्ष का सश्रम कारावास और दंड न अदा करने पर पाँच माह की और सज़ा दी गयी। जेल से बाहर मुश्किल से दस दिन रहे थे। कार्यक्रम की रण–कुशलता दिखाने से पूर्व ही जवाहरलाल को नैनी जेल के नियमित बंदी जीवन में लौट जाना पड़ा। कंधे में दर्द होने की वजह से वे सूत कात नहीं सकते थे, न नेवार बुन सकते थे। फिर उन्होंने खूब पढ़ना प्रारंभ किया, यह एक अनबुझी प्यास थी। अब उन्होंने अपनी स्मृति और नोट–बुकों के आधार पर पुत्री के नाम पत्रों का सिलसिला जारी किया, चूँकि अब यह स्पष्ट था कि अनेक वर्षों तक जेल में रहना ही पड़ेगा–और जेल में वे सिर्फ़ लिखने का कार्य ही कर सकते थे और सन्दर्भ ग्रंथों की सहायता के इंतजार में वे बैठे रहते तो वे कभी लिख ही नहीं पाते। लेकिन उनकी जिज्ञासा के कारण उन्होंने ढेर सी विचित्र जानकारियाँ जमा कर डाली थीं। इन पत्रों के लिए अपने विचार कागज पर उतारने हेतु और उन्हें ऐसी प्रवाहमयी शैली में लिखने के लिए, जो तेरह बरस की लड़की की रुचि के होते, जवाहरलाल ने कठोर परिश्रम किया। भाषा वे अच्छी तरह से सरलता से सँभाल लेते, पर उनकी शैली अभी पक्की नहीं हुई थी, और कहीं–कहीं वह नक़ली या कृत्रिम लगती। पत्रों का विषय था, मनुष्य का इतिहास। रैले और कोदोंर्सेत की तरह जवाहरलाल भी विश्व–इतिहास लिख रहे थे, जेल में बैठकर। हर पत्र में एक विषय या एक विकास की बात होती। और यह यात्रा मोहनजोदड़ो

और यूनान से प्रारंभ होकर, लेखक के अपने समय तक की थी, जो तीन वर्ष में पूरी करनी थी। जब ये पत्र विश्व इतिहास की झलक रूप में मूल अंग्रेज़ी में छपे, तो उनमें दृष्टिकोण की समग्रता और तथ्यों पर ऐसा अधिकार दिखाई दिया, जिनसे किसी भी व्यावहारिक लेखक की भी बड़ाई होती। और यह बात कि ये चिट्ठियाँ बगैर किसी शोध–सहायता हेतु लिखी गयी थीं और जेल की एकरसता से बचने के लिए लिखी गयी थीं, कुल मिलाकर, इस कृति को एक असाधारण उपलब्धि बनाते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन के भविष्य पर भी जवाहरलाल ने विचार किया। राजनीति में भी क्रांतिकारी गति आर्थिक क्रांति और जन–विद्रोह जागरुक करने से ही लायी और टिकाई जा सकती थी। इस दृष्टिकोण से, कर न देने का अभियान सबसे प्रमुख था, और उसका ज्यादा आर्थिक कार्यक्रम की युद्ध घोषणा उसके लिए ज्यादा बल देने वाली थी, और लगान न देने के आंदोलन का लक्ष्य आर्थिक विकास ही था, न कि कुछ नेताओं को आगे ले आना। संविधान–निर्मात्री परिषद की कल्पना भी भारत का राजनैतिक भविष्य निर्णीत करने की नजर से थी। उस समय जवाहरलाल को लगा कि किसान को जगाने की आशा, ऐसी परिषद के सोच से नहीं की जा सकती थी। मई, 1929 में यू.पी. कांग्रेस के क़दम–व–क़दम राष्ट्रीय सभा ने भी माना कि भारतीय जनता की ग़रीबी और दुख, विदेशी शोषण की वजह से नहीं था, लेकिन समाज के आर्थिक ढाँचे के कारण था, जिसमें 'क्रांतिकारी बदलाव लाना जरुरी था। जवाहरलाल के ही कोशिशों से कांग्रेस समाजवादी नजरिये नहीं तो कम–से–कम एक आर्थिक आयाम प्राप्त कर रही थी परंतु, इन 'क्रांतिकारी परिवर्तनों' की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा था।

कांग्रेस एक युद्ध के बीच में, कोई सुनिश्चित आर्थिक और ग्राम–विषयक कार्यक्रम तो नहीं बना सकती थी किंतु वह कुछ शीघ्र विचार तो गठित कर ही सकती थी। जवाहरलाल ने कुछ विचार सोचे। जैसे कि उन्होंने कहा ये समाजवादी दृष्टिकोण से नहीं थे, परन्तु कांग्रेस के दृष्टिकोण से थे, जिसका कि कुछ झुकाव समाजवाद की ओर था। बड़ी जमींदारियों का राज्य अधिग्रहण कर ले, जिसमें सबको मुआवज़ा दिया जाए, केवल उन्हें छोड़कर जिन्होंने ब्रिटिशों का साथ दिया था और जो राष्ट्रीय आंदोलन के विरोधी

थे, और उनकी जगह किसानों का स्वामित्व और बड़े राज्य–फ़ार्मों का निर्माण किया जाये, जहाँ कि किसान बड़े उपयोग कर सकें और जो फ़ार्म उन्हें संयुक्त रूप से पट्टे पर दिये जायें।

एक जायदाद पर और भूमि पर कर हो, जो कृषि से आय पर 25 प्रतिशत साधारण दर पर, कुछ निम्नतम आय से ऊपर और एक सामान्य सीमा तक लगाया जाये, और उसके पश्चात् उस पर आय–कर के जैसा श्रेणियाँ हों। किसानों को जमीन पर स्वामित्व क्रय, हस्तांतरण, सुधार और आनुवांशिकता के अधिकार दिये जायें, और लगान पर भी एक अन्तिम सीमा ;सीलिंगद्ध लगायी जाये। समस्त भारत में एक क्रांतिकारी ग्राम–विषयक कार्यक्रम हेतु समय चाहे अभी न आया हो, प्रमुख कांग्रेस–जन शायद इस पर राज़ी न हों, फिर भी यू.पी. इस मामले में पहल कर सकती है। जमींदारों और पूँजीपतियों को अनावश्यक चिढ़ाने का कोई मतलब नहीं था। यह एक बड़े संग्राम के बीच और शत्रुओं की संख्या बढ़ाने जैसा था, पर जहाँ दो परिस्थितियों के बीच में चुनना हो, कांग्रेस को निर्भय होकर जनता का ही साथ देना चाहिए। चूँकि वे किसान और भूमिहीन जन या छोटे जमींदार थे–और वे ही समाज के महत्वपूर्ण अंग थे। कांग्रेस वर्ग–संघर्ष को और तीव्र नहीं कर रही थी, इसमें कांग्रेस समझदारी दिखा रही थी। लेकिन यह हमेशा स्मरणीय बात थी कि ऐसा संघर्ष पहले से मौजूद था, और उसे पूर्ण रूप से उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। अपने मनों में अंतिम लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए था, चाहे उसे विस्थापित न किया जाये, पर उसे छिपाये भी नहीं रखा जा सकता था। ये विचार, यू.पी. के 1928 के घोषणा पत्र जैसे ही थे। जवाहरलाल भलीभांति जानते थे कि वे किसी भी प्रकार से क्रांतिकारी नहीं थे, किन्तु उनकी प्राप्ति भी क्रांतिकारी संघर्ष की निरंतरता पर ही आश्रित थी ऐसा वे सोचते थेद्ध और उस समय तक जवाहरलाल सच्चाई से कहीं आगे दौड़ रहे थे।

जेल में राजनैतिक बन्दियों पर कोड़े बरसाने और दूसरे जेलों में उनके साथ कठोर व्यवहार के विरोध में, जेल के नियमों का प्रथम बार उल्लंघन कर जवाहरलाल ने निषेध में तीन दिन का उपवास आयोजित किया। नये वर्ष के दिन उनकी पत्नी को बन्दी बनाया गया। इस समाचार

से वे बहुत ज्यादा खुश हुईं। इस समय कमला नेहरू ने यह संदेश भेजा, मेरी खुशी का ठिकाना नहीं है। मैं अपने पति के पद–चिन्हों पर चल रही हूँ, इसका मुझे अभिमान है। मैं आशा करती हूँ कि जनता इस झंडे को ऊँचा उठाती रहेगी। किन्तु जवाहरलाल को मजबूरी में स्वीकारना पड़ा कि लोगों का उत्साह कम हो रहा था, और कुल मिलाकर समझौते की मनःस्थिति बन रही थी। ब्रिटिश सरकार इस स्थिति के सन्दर्भ में समझौता करने का सुझाव देने वाले आकर्षक संदेश भेजने लगी और जवाहरलाल को जब लगा कि ये मीठी–मीठी बुलाहट कांग्रेस में भी प्रत्युत्तर जगा सकती है, तो वे अत्यंत नाराज़ एवं व्याकुल हुए। ऐसे सारे वक्तव्य, उन्होंने अपने पिता से कहा, चाहे वे पूर्ण स्वतंत्रता का ही आश्वासन क्यों न देते हों, भूल जाना चाहिए और सरकार से लड़ाई चालू रखनी चाहिए।

मोतीलाल, उस समय मरणोन्मुख थे, और वे उस कार्यकारिणी समिति को कोई दिशा–दर्शन नहीं दे पा रहे थे, जिसके सदस्य अब रिहा कर दिये गये थे। गाँधी सरकार द्वारा बढ़ाये गये मित्रता के हाथ को छोड़ना नहीं चाहते थे, चूँकि उन्हें वायसराय में एक आत्मा दिखाई दे रही थी, और उनका विश्वास था कि जवाहरलाल जितना मान नहीं रहे हैं, उससे ज्यादा इस लड़ाई की थकान सर्वव्याप्त है। जवाहरलाल कह रहे थे कि लोगों में इस व्याप्त उबासी से बचने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में आंदोलन को और तेज़ करने की तैयारी की जाये। लेकिन गाँधी उसके पक्ष में नहीं थे। अपने नेता गाँधी के मनोभावों से सहमत न होने पर भी, जवाहरलाल 6 फ़रवरी को अपने पिता की मृत्यु के शोकाघात की वजह से इस बहस में अधिक भाग न ले सके और न कोई निर्णयात्मक स्थिति पर पहुँच पाये। गाँधी ने वायसराय के साथ बातचीत खुद अपने मन से चलायी, और उससे जो समझौता निकला, वह जवाहरलाल की दृष्टि में एकदम अनावश्यक परिणति थी। गाँधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन बंद करने की सहमति दी थी, इन दो शर्तों पर कि जिन्होंने हिंसा नहीं की थी उन्हें शर्त के आधार पर छोड़ देंगे और शांति से पिकेटिंग करने और कुछ शर्तों में नमक बनाने की आज्ञा भी मिलेगी। उन्होंने कांग्रेस से यह भी मनवा लिया कि गोलमेज़ में वह भाग लेगी। यह परिषद भारत को 'उसके हित में', सुरक्षा, विदेशी मामले, अल्पसंख्यकों की दशा, आर्थिक क़र्ज़ ओर ज़िम्मेदारी वहन करने के बदले

एक संघीय व्यवस्था पर विचार करने वाली थी। पूर्ण स्वराज्य की तरफ ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने की माँग से यह सब काफी दूर की बात थी, और 1930 के ग्रीष्म में सप्रू और जयकर से कांग्रेस में की हुई बातों से भी दूर थी।

जवाहरलाल की नजर से गोलमेज़ परिषद में भाग लेने से पहले सामान्य बंदी–मुक्ति और पुलिस क अत्याचारों में छानबीन, सारी जायदाद या भूमि, जिसकी कुर्की की गयी थी, वह वापस प्राप्त करना और नमक बनाने की पूरी छूट इत्यादि मामलों पर जितनी मज़बूती से सरकार से पेश आना चाहिए था, वैसी दृढ़ता गाँधी ने नहीं दिखाई। फिर भी, निराशा के बावजूद कराची कांग्रेस में जवाहरलाल ने इस समझौते को मान लेने का प्रस्ताव रखा। ऐसा अनेक बार कहा जाता रहा है कि गाँधी ने यह समझौता जवाहरलाल से इस तरह मनवाया कि बदले में, उन्होंने जवाहरलाल का ही लिखा हुआ और सुधारा हुआ एक प्रस्ताव मान लिया जिसमें कांग्रेस संगठन अपने भावी संविधान में सिर्फ मौलिक नागरिक अधिकार और वयस्क मताधिकार ही नहीं, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा और 'सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता' को भी मान्यता दे। किन्तु यह तर्क कि जवाहरलाल ने यह राजनैतिक समझौता इस आधार पर माना कि बदले में उनके समाजवादी लक्ष्यों को पहचाना गया, इसलिए सही नहीं है कि आधारभूत अधिकारों की जो सूची इस प्रस्ताव में है वह उसका समर्थन नहीं करती।

उद्योगों में, आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ था सिर्फ भरण–पोषण देने वाला वेतन और कामकाज की सही सुविधाऐं, बँधुआ मज़दूरी या बेगार जैसी दास्ता से मुक्ति, स्त्री–श्रमिकों के साथ मनवोचित सभ्य व्यवहार, श्रमिकों या मज़दूर–संघ बनाने का अधिकार, स्कूल जाने वाले बच्चों को काम देने पर निषेध, और मालिक ओर मज़दूरों के झगड़े 'पंचायत या दोनों पक्षों की बातचीत और मध्यस्थता से सुलझाने' का अधिकार। राज्य को खनिज स्रोत और मुख्य मूल उद्योगों पर नियंत्रण रखना चाहिए। 1929 में कांग्रेस ने जो 'क्रांतिकारी परिवर्तन' अनिवार्य समझे थे, उनका यह हिस्सा भी नहीं हो सकता था। कृषि के मामले में तो स्थिति और भी बुरी थी। कराची प्रस्ताव में भूमि–राजस्व और लगान को बहुत कम करने का सुझाव

था, केवल उन उपजाऊ और अनुत्पादक भूमि पर जरूरी अवधि में पूरी छूट, और एक निश्चित सीमा से ऊपर की कृषि–आय पर शनैः–शनैः कर में बढ़ोतरी और जायदाद और अनुवांशिक संपत्ति पर श्रेणीबद्ध कराधान। जमींदारी उन्मूलन का कोई वर्णन नहीं था या ग्रामीण कर्ज के कम से कम कुछ हिस्सों को रद्द करने का भी कोई प्रावधान नहीं था। दूसरी तरफ 1930 के गाँधी के ग्यारह सूत्रों में से कई उस प्रस्ताव में ले लिये गये थे, नागरिक और फ़ौजी व्यय में कमी, विदेशी कपड़े तथा सूत का बहिष्कार, शराबबंदी, नमक–कर हटाना और रुपये के विनिमय–अनुपात कीमत में कमी। जवाहरलाल यह भी जानते थे कि यह प्रस्ताव, 1928 के उपरांत तक उनके पहले के प्रयासों तक भी नहीं जा रहा था, जिससे भारत के किसान और मज़दूरों को अर्थपूर्ण लगने वाले आर्थिक कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की जा सके। यहाँ भी उन्होंने इस प्रस्ताव को समर्थन दिया क्योंकि कांग्रेस ने, चाहे कितने ही हिचकिचाते हुए क्यों न हो, समाजवाद के रास्ते पर चाहे एक क़दम आगे न बढ़ाया हो, पर एक आर्थिक नीति की जरूरत को तो अनुभव किया। इस प्रकार मौलिक अधिकारों पर प्रस्ताव, अपने आप में, राजनैतिक संधि से जो हानि हुई थी उसे पूर्ण करने वाला नहीं था और यदि जवाहरलाल ने खुलेआम उसे समर्थन दिया था, तो वह इसलिए कि ऐसा व्यवहार उनकी नीति और चरित्र दोनों के साथ मेल खाता था। जवाहरलाल ने देखा कि यह समझौता स्वयं अपनी राज्य को मान लेना था, परन्तु भारतीय राष्ट्रीयता को कोई स्थायी हानि नहीं पहुँची थी।

गाँधी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के तर्क को जोड़ा नहीं था, पर उपेक्षित जरूर किया था। वह संघर्ष वस्तुतः पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति से ही खत्म होने वाला था। सो यह शांति–सुलह नहीं थी पर तात्कालिक संधिमात्र थी। यह अस्थायी अवस्था देर–सवेर नहीं पर जल्दी ही समाप्त होने वाली ही थी। संग्राम फिर आरम्भ होने वाला था और फिर देश को उस व्यक्ति के नेतृत्व की जरूरी लगने वाली थी जिसने दलित को जीवन्त एवं सक्रिय बनाया था। तब तक, न शांति न युद्ध के वातावरण में, जवाहरलाल का कर्त्तव्य था कि लड़ाई की भावना सदैव जागृत रखें, कांग्रेस पार्टी की एकता का सम्मान करें और गाँधी के नेतृत्व को पूर्ण रूप से मानें।

स्वतन्त्र भारत में नेहरू सदैव अवसर के अनुकूल उतरते रहे। उन्होंने साहसपूर्ण ढंग से राष्ट्रीय संकट का मुकाबला किया। उन्हें शुरू से ही पेचीदा समस्याओं से उलझना पड़ा, परन्तु उन्होंने साहस को नहीं छोड़ा। एक उग्र राष्ट्रवादी होने के नाते, वे महान् समस्याओं से उलझे और पूर्ण निष्ठा से उनका समाधान किया। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ थीं—भारत से बड़ी संख्या में मुसलमानों का पाकिस्तान चला जाना तथा पाकिस्तान से ग़ैर–मुसलमानों का भारत आना तथा उनका पुनर्वास, पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण और भारत द्वारा उसे खदेड़ देना, देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय, सामाजिक तथा लोकतन्त्री आधार पर नए संविधान का प्रारूप तैयार करना, पंचवर्षीय आर्थिक योजनाओं को लागू करना ताकि अधनंगे लोगों को रोटी–कपड़ा मिल सके, हमारी उत्तरी सीमाओं पर साम्यवादी चीन का अकारण आक्रमण आदि ऐसी समस्याएँ थीं, जिनके समाधान के लिए अदम्य साहस, राजनीतिक कुशाग्रबुद्धि, प्रशासकीय निपुणता, बेदाग ईमानदारी, तथा वास्तविक समझदारी की जरूरत थी। ये सारे गुण अकेले नेहरू में थे और वे ही राष्ट्र को आर्थिक संकट तथा राजनीतिक अस्थिरता से बाहर निकाल सकते थे। ख़्वाजा अहमद अब्बास के शब्दों में, ''वह एक ऐसे भारतीय थे जिन्होंने वह सभी कुछ अपने व्यक्तित्व और चरित्र में समाविष्ट और आत्मसात् कर लिया था जो भारत की सामाजिक संस्कृति में सर्वोत्कृष्ट था और जो कुछ भी प्राचीन आज के सन्दर्भ में अनुपयोगी और अप्रासंगिक था, उसे अस्वीकार कर दिया। इतना होने पर भी इस देश के अतीत के प्रति उनका स्वस्थ, पूर्वाग्रहमुक्त आदर था।'' वह पूर्ण प्रतीक थे संगठित भारत के। वह अशोक तथा अकबर की परम्परा के ऐसे सच्चे अधिकरी थे जो संगठित भारत के स्वप्नद्रष्टास थे तथा धर्मगत और उनके भाषाओं तथा सभ्यताओं की धाराएँ जिसमें आकर विलीन हों।

एक कुशल कर्णधार के रूप में उन्होंने राष्ट्र के जहाज को बड़े कठिन समयों में सफलतापूर्वक पार लगाया। परन्तु उनका मन साम्प्रदायिकतावाद, प्रान्तीयवाद, जातिवाद तथा गुटबन्दी आदि बुराइयों को देखकर बहुत पीड़ित हुआ, क्योंकि ये बुराइयाँ भारतीय लोकतन्त्र की विशेषताओं को खत्म कर रही थीं। उन्हें अपने दल के लोगों का स्वार्थपूर्ण तंगदिली का व्यवहार, तथा उनकी शक्ति के लिए लालसा तथा धन के लोभ के कारण बहुत निराशा हुई,

क्योंकि यह भारतीय राष्ट्रवाद की धारणा को कलंकित करने वाली बातें थीं। उन्हें कई लोगों के मनों पर राष्ट्रवाद के जकड़नकारी के प्रभाव के कारण भी बहुत दुख हुआ। अतः वे राष्ट्रवाद की ऐसी धारणा के विरुद्ध थे जिससे उग्र दृष्टिकोण तथा पृथक्तावादी रुचियाँ उत्पन्न होती हों। उन्होंने राष्ट्रवाद की ऐसी परिभाषा की निन्दा की, जिससे दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा तथा जातिवाद, साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रों के बीच युद्धों को बढ़ावा मिले। इस प्रकार का उग्र राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की धारणा के विरुद्ध था। सहअस्तित्व में उनका विश्वास था। विश्व को जो कि आज ज्वालामुखी पर खड़ा है, उनकी पंचशील की देन बहुत महान् है। उन्होंने ठीक ही कहा है, ''सह–अस्तित्व का विकल्प सह–संहार है।'' इस प्रकार के विचारों ने उनके अपने राष्ट्र को ऊपर उठाने के प्रयत्नों के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं की। यह सोचना गलत होगा कि नेहरू अपने राष्ट्र के हितों की अवहेलना करके अन्तर्राष्ट्रवादी बने। परन्तु अपनी राष्ट्रवाद की नीति के कारण उन्होंने दूसरे राष्ट्रों के अपमान करने की नीति को नहीं अपनाया। 1959 में उन्होंने संविधान सभा में कहा, ''मुझे अपने देशवासियों, देश तथा उसकी विरासत पर पर्याप्त गर्व है, परन्तु यह सोचना है कि मात्र हम ही उत्कृष्टता के लिए चुने व्यक्ति हैं तथा अन्य हमारी अपेक्षा हेय हैं, एक संकीर्ण दृष्टिकोण है।'' अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह प्रमुख रूपेण राष्ट्रवादी थे और राष्ट्रवाद उनके लिए विशेष महत्त्व रखता था परन्तु उनका राष्ट्रवाद उन्हें यह अनुमति नहीं देता था कि वह अपने हितों का संवरण करते हुए, मात्र अपनी ही महत्त्वाकांक्षाओं का परितोष करें और अन्य राष्ट्रों को उसी प्रकार लज्जित करें जैसे क्रमशः इटली और जर्मनी ने किया था।

नेहरू एक महान् राष्ट्रवादी थे, जिन्होंने जान–बूझकर बलिदान के मार्ग को चुना। ''भारत के लोगों ने हमेशा यह महसूस किया कि वह उनका अपना व्यक्तित्व था और वह उनके लिए हर सम्भव तरीके से सब कुछ करना चाहता था।'' परन्तु इस प्रकार का राष्ट्रवादी संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं था जो कि अपनी प्रभुता को बढ़ावा देने की नीति का अनुसरण करके अपने राष्ट्र को ऊपर उठाता है। स्वामी विवेकानन्द, टैगोर तथा गांधी के राष्ट्रवादी की भाँति उनका राष्ट्रवाद भी अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना से आच्छादित

था।

एम.सी. छागला के शब्दों में, ''नेहरू एक ऐसे राष्ट्रवादी थे जो चाहते थे कि उनका देश पूर्ण राष्ट्रत्व प्राप्त करे। किन्तु उनके अन्तस्तल के गूढ़तम स्थिति तक यह अभिलाषा थी कि एक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी हों कि विश्व के विशाल रंगमंच पर वह एक अभिनेता के रूप में अपनी भूमिका निभा सकें।'' उनका राष्ट्रवाद केवल अपने राष्ट्र के लिए 'करो तथा मरो' की भावना तक ही सीमित नहीं था।

नेहरू के प्रयत्नों से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना दृष्टिकोण बदला और वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में रुचि रखने के लिए प्रेरित हुई। फरवरी, 1927 में उन्होंने ब्रुसेल्स में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में दलित राष्ट्रीयताओं के सम्मेलन में भाग लिया। इससे उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विशाल हुआ और उन्होंने अप्रैल 23, 1927 को गांधीजी को लिखा, ''मैं दूसरे देशों के लोगों के साथ सम्पर्क बनाने तथा उनके दृष्टिकोण और विश्व–राजनीति को समझने के लिए सभी वैध तरीकों का स्वागत करता हूँ...मैं समझता हूँ कि हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण है और जितना जल्दी हम इस संकीर्णता का त्याग करेंगे, उतना ही अच्छा होगा।''

उन्होंने कांग्रेस को यह अनुभव कराया कि भारतीय संघर्ष विश्व–संघर्ष का ही एक भाग है। अपनी रचना न्दपजल वप्दिकपं में उन्होंने स्पष्ट कहा, ''मेरा विश्वास भारतीय राष्ट्रवाद में है। मैं सच्चे राष्ट्रवाद के आधार पर ऐसा करता हूँ। साझी सुरक्षा के प्रत्यनों में, हम प्रसन्नता से विश्व की व्यवस्था के साथ सहयोग करने के लिए तैयार हैं और दूसरों के साथ मिलकर अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को छोड़ने के लिए भी तैयार हैं।'' डॉ. बी. बी. केलकर का यह कथन उचित ही है, ''किन्तु वह राष्ट्रवाद के विरोधी नहीं थे। उनका विशाल मानवीय दृष्टिकोण था। वह अनुभव करते थे कि संकीर्ण कूपमंडूक वृत्ति ने भारतीय मस्तिष्क को विश्व की घटना धारा से अलग कर दिया था। उनका अन्तर्राष्ट्रीयवाद इस बात पर बल देता था कि राष्ट्रों के मध्य विचारों तथा अनुभवों का आदान–प्रदान हो।''

स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पहले भारत के दलितों का पक्ष लेने तथा

शोषितों के साथ सहानुभूति प्रकट करने की भावना से स्पष्ट होता है कि नेहरू ने भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष को विश्व–संघर्ष का एक भाग बनाकर ही चलाया। इन ही आधारों पर विदेश–नीति का संचालन करने से नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को समझा जा सकता है। उनके साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र–संघ की सदस्यता दिलाने के प्रयत्नों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के समर्थक थे। उन्होंने हमेशा दलित जातियों का पक्ष लिया। इंडोनेशिया के लोगों को डचों से मुक्त कराने का श्रेय मुख्य रूप से नेहरू को प्राप्त है।

7

नेहरू एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद

उनके अन्तर्राष्ट्रवाद का पता उनके द्वारा अपनाई गई गुट निरपेक्षता की नीति से भी चलता है, जिसे अपनाकर उन्होंने दोनों गुटों में से किसी भी गुट में शामिल होने से इन्कार कर दिया। उनकी अमेरिका, रूस तथा चीन की यात्राओं से स्पष्ट होता है कि वे प्रत्येक राष्ट्र के साथ, चाहे उसकी विचारधारा कुछ भी हो, मैत्री बनाए रखना चाहते थे। जब कभी भी शान्ति को खतरा बना, वे मध्यस्थता करने के लिए तैयार हो गए। इसीलिए उन्हें 'शान्ति का दूत' कहा जाता है। विश्व–शान्ति में उनके विश्वास का प्रमाण भारत की कोरिया तथा हिन्द–चीन के संकट और बाद में संयुक्त अरब गणराज्य की ग़ाज़ा पट्टी में तथा कांगो में प्रभावशाली भूमिका से मिल जाता है।

अक्टूबर, 1962 में जब पंचशील के सिद्धान्तों पर हस्ताक्षर करने वाले एक देश, चीन ने भारत की उत्तरी सीमाओं पर बड़े विशाल पैमाने पर आक्रमण किया, तो शान्ति के दूत का भ्रम टूट गया। इससे एक क्षण के लिए अच्छाई तथा उच्च आदर्शों में से उनका विश्वास हिल गया। परन्तु उन्होंने शान्ति तथा लोकतन्त्रीय प्रगति के रास्ते को न छोड़ा। उन्होंने चीनी आक्रमण को लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों की चुनौती के रूप में माना। उन्होंने जोर देकर कहा कि, ''साम्राज्यवादी तथा विस्तारवादी चीन की चुनौती केवल हमारे लिए ही चुनौती नहीं, अपितु यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा व्यवहार का नंगा उल्लंघन है। अगर आज इस आक्रमण को सहन किया जाता है, तो यह

भारत के लिए ही खतरा नहीं बना रहेगा, बल्कि एशिया के दूसरे देशों के लिए भी खतरा होगा।...जो कुछ चीन ने आज किया है, वह विश्व की चेतना का अपमान है।'' उन्होंने आशा व्यक्त की, कि लोकतन्त्र, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग जैसे आदर्शों को पीड़ित मानवता अपनाए रखेगी। नेहरू ने चीनी आक्रमण को खदेड़ दिया, इसका स्पष्ट प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि विश्व ने भारत के औचित्य को न्यायपूर्ण तथा उचित मानकर इसे मान्यता प्रदान की और चीन के उद्देश्यों को भद्दा तथा लज्जाजनक कहा। उनका शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रति प्रेम और भी पक्का हो गया, जब उन्होंने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ तथा सुरक्षा परिषद की सदस्यता दिलाने के लिए निरन्तर जोर लगाया।

साधारणतः अगर कोई कट्टर राष्ट्रवादी नेता होता, तो उसने शत्रु के विश्वसंस्था में प्रवेश को रोकने के लिए एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगा दिया होता। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावनाएँ रखने वाले नेहरू ने साम्यवादी चीन का पक्ष लिया, ताकि वह विश्वशान्ति के लिए अपने उत्तरदायित्व को समझ सके।

वास्तव में नेहरू एक आदर्श स्वप्नदर्शी थे। उन्होंने 1934 में विश्व–संघ की स्थापना की सम्भावना का ज़िक्र किया था। उन्होंने कहा, ''अगर विश्व संघ की स्थापना की जाती है, तो उसका स्वागत किया जाएगा।'' वास्तव में सरकार की बागडोर सँभालने के पश्चात् नेहरूजी ने महसूस किया कि स्थायी विश्व–शान्ति केवल विश्व–सरकार की स्थापना द्वारा ही कायम रखी जा सकती है। नेहरू के भ्मतंसक ज्तपइनदम थ्वतनउ को 1949 में दिए गए सन्देश से यह स्पष्ट हो जाती है : ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी–न–किसी समय विश्व–सरकार जरूर ही कायम होगी, क्योंकि इसका एक ही विकल्प विश्व की आत्महत्या होगा।'' एक अन्य भाषण में उन्होंने कहा, ''अन्तर्राष्ट्रीयवाद की माँग है कि प्रत्येक राष्ट्र विश्व–घटनाचक्र में बुद्धिमत्तापूर्ण रुचि ले। वह औरों से अलग–थलग रहने की बात छोड़ दे। आज के परमाणु शस्त्रों तथा स्पुतनिकों के युग में मानव सभ्यता को विनाश से बचाने का मात्र यही रास्ता है कि सभी देशों का विश्व महासंघ की दिशा में मुक्त सहयोग हो। विश्वशान्ति तथा एकता के लिए राष्ट्रवाद में सन्तुलन और सुमेल होना चाहिए।'' एक यथार्थवादी होने के नाते उन्होंने इस बात को भी स्वीकार

किया कि इस प्रकार का आदर्श आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोगों के मन इसके अनुकूल नहीं ढले हैं। चाहे विश्व में तेज़ी से परिवर्तन आ रहे हैं, हमारे मन एक ही जगह खड़े हैं और इसी बात पर अड़े हुए हैं कि आज वैसा ही है जैसा कि कल था, और आने वाला कल भी कोई विशेष रूप से भिन्न नहीं होगा।

विश्व में उनकी आशा का उनकी इस टिप्पणी से पता चलता है, ''विश्व, विरोध तथा घृणा और भीतरी झगड़ों के बावजूद एक नए राष्ट्रमंडल के निर्माण के लिए निकट के सहयोग की ओर बढ़ रहा है। अतः इस एक विश्व के लिए स्वतन्त्र भारत काम करेगा।''

अन्तर्राष्ट्रीयवाद के आर्थिक आधार का भी वह अनुभव करते थे। अतः उन्होंने अपने भाषणों के आधार पर इसका औचित्य सिद्ध किया। एक बात जिसका पर्याप्त रूप से अनुभव नहीं किया जा रहा है, शायद अन्तर्राष्ट्रीयवाद का मार्मिक रूप है। इसने राष्ट्रीय सीमाओं को खंडित कर दिया है और प्रत्येक राष्ट्र को, चाहे वह कोई भी हो, उसे दूसरे से परस्परावलम्बन के सूत्र में बाँध दिया है। राष्ट्रवाद का विचार आज भी पूर्ववत् प्रबल है तथा इसके पवित्र नाम पर युद्ध होते हैं तथा लाखों लोग मौत के घाट उतारे जाते हैं। परन्तु यह एक मिथक है जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। आज विश्व का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय है, बाज़ार अन्तर्राष्ट्रीय है, आवागमन अन्तर्राष्ट्रीय है, केवल मनुष्य के विचार ही एक ऐसी रूढ़ि के सन्दर्भ में एकदम अर्थहीन हैं। कोई राष्ट्र वास्तव में स्वतन्त्र नहीं है, वह सब परस्पराश्रित हैं।

नेहरू के अनुसार सबसे पहले दोनों देशों के बीच में आपसी भय तथा घृणा ने सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय के मार्ग में बाधा उपस्थित की है। जिस मन पर भय तथा घृणा के बादल छाए रहे, वह ठीक प्रकार से सोच नहीं सकता। जिन देशों के विचार स्पष्ट नहीं है, उनमें मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कठिन है। उन्होंने एक बार लोकसभा में कहा था, ''अगर किसी देश में घृणा और भय भरा है, तो उसका मन भारी हो जाता है। वह सीधा सोच नहीं सकता. ..अमेरिका में रूस के बारे में और रूस में अमेरिका के बारे में कोई स्पष्ट चिन्तन नहीं है क्योंकि दोनों के मन परस्पर भय तथा घृणा के कारण दबे हुए

हैं...अगर वे एक–दूसरे को और अधिक समझ लें, तो घृणा तथा भ्रान्ति खत्म हो जाएगी...'' वास्तव में नेहरू ने विश्व के दो शक्तिशाली राष्ट्रों–रूस तथा अमेरिका–के बीच सम्बन्धों को सुधारने के लिए अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

दूसरे, संकीर्ण तथा उग्र राष्ट्रवाद भी अन्तर्राष्ट्रवाद के रास्ते में एक बहुत बड़ी बाधा है। 'डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया' में वह लिखते हैं, ''यद्यपि व्यक्तियों को अथवा उनके छोटे समूहों को अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का बनाया जा सकता है, उन्हें एक व्यापक उद्देश्य के लिए व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हितों का उत्सर्ग करने के लिए मनाया जा सकता है, परन्तु राष्ट्रों के विषय में ऐसा नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय हित किसी राष्ट्र में उत्साह का संचार उसी सीमा तक कर सकते हैं जहाँ तक उसके अपने हितों से उनका मेल हो। कुछ एक उग्र राष्ट्रवादी उच्चता ग्रन्थि के शिकार हैं। वे सोचते हैं कि केवल उनका ही राष्ट्र बढ़िया है और शेष सभी राष्ट्र घटिया हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मैत्री को क्षति पहुँचती है और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का पतन होता है। अगर राष्ट्रों के बीच में आपसी सम्पर्क तथा सूझ–बूझ को बढ़ावा दिया जाए तो इस प्रकार की राष्ट्रवाद की बुराई को दूर किया जा सकता है।'' अपने प्रधानमन्त्री के पद के दौरान नेहरू ने भारत तथा दूसरी जातियों के बीच में सूझ–बूझ को बढ़ावा देने का श्रेय प्राप्त किया।

चाहे नेहरू अन्तर्राष्ट्रवाद के महान् समर्थक थे, परन्तु यह कहना अत्युक्ति होगी कि नेहरू राष्ट्रवाद की अवहेलना करके अन्तर्राष्ट्रवादी थे। चीन ने जो भारत की पीठ में छुरा घोंपा उससे सिद्ध होता है कि नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सहयोग से प्रेम के आधार को तथा भारत को एक बड़ा धक्का लगा और उसे सारी दुनिया के सामने कटु अपमान सहना पड़ा। यह सच्चाई से दूर है। एक पड़ोसी देश के धोखा देने पर भी यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नेहरू राष्ट्रवाद को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रवादी थे। वे लगातार यही राग अलापते रहे कि किसी देश में अन्तर्राष्ट्रीय हित तभी जाग सकते हैं जब उनका राष्ट्रीय हितों के साथ समन्वय हो। अतः अन्तर्राष्ट्रवाद राष्ट्रवाद का विरोधी नहीं है, बल्कि संकटग्रस्त विश्व में राष्ट्रीय राज्यों की यही एक आशा है। मानवीय सभ्यता राष्ट्रों के विश्व–संघ

जैसे स्वतन्त्र समुदाय के द्वारा ही जीवित रह सकती है, जिसकी कल्पना नेहरू जैसे चिन्तकों ने की। उनके जीवनी–लेखक ने ठीक ही कहा है, ''... बहुत से पाश्चात्य लोगों के लिए वह ही एक विवेकशीलता की आवाज़ है, क्योंकि विश्व विपत्ति के पथ पर चल रहा है।...''

बहुत से लोगों के लिए वे शान्ति की सच्ची आवाज़ थे। उन्नीसवीं शताब्दी में उनका मुकाबला कैवर से किया जा सकता है, जिसमें राष्ट्रनिर्माता के रूप में गैरीबाल्डी का समावेश है, जिसमें रोमांचक राष्ट्रवादी की उग्रता है। इसमें बीसवीं शती के विल्सन को भी मिलाया जा सकता है, जो कि आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रवक्ता है।''

तरुण नेहरू के मन पर मार्क्सवादी सिद्धान्त का अमिट प्रभाव पड़ा। तीसरे दशक के शुरू में नेहरू को कई बार गिरफ्तार किया गया था। इस समय उनको मार्क्स का अध्ययन करने का पूरा अवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने समाजवादी विचारों का विकास किया, जिन्होंने वास्तव में उन्हें उस समय प्रभावित किया, जब वे कैम्ब्रिज में विद्यार्थी थे। अपनी एक रचना में उन्होंने कहा, ''...मार्क्सवाद के सिद्धान्त पर दर्शन ने मेरे मन के कई अँधेरे कोनों को प्रकाशमान कर दिया। इतिहास नए अर्थ लेकर मेरे सामने आया। इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या ने इस पर प्रकाश की धारा बहा दी।'' उनकी रचना में मार्क्सवा का प्रभाव अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उन्होंने कई आधारों पर उन्नीसवीं शताब्दी के पूँजीवादी लोकतन्त्र को चुनौती दी; वे आधार थे–द्ध1) पूँजीवाद श्रेणी–व्यवस्था तथा श्रेणी संघर्ष को बनाए रखता है; द्ध2) इसमें सम्पत्ति वाली श्रेणी का मजदूर श्रेणी पर प्रभुत्व कायम हो जाता है; द्ध3) इससे असमानता कायम होती है, क्योंकि आर्थिक सुरक्षा प्रदान किए बिना प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने का अधिकार दिया जाता है; द्ध4) इससे उग्र राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को बढ़ावा भी मिलता है।

उन्होंने यह भी महसूस किया कि पूँजीवादी साम्राज्य अपने अन्तिम चरण में हैं और यह अवश्य ही समाप्त होगा, क्योंकि वह बीसवीं शताब्दी की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं हैं। मार्क्स की भाँति उन्होंने विचार व्यक्त किया कि ''साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद का विकास नहीं किया जा सकता। अतः

यही अच्छा होगा कि उन्हें बिल्कुल ही खत्म किया जाए। इनको समाप्त करने का एकमात्र तरीका समाजवाद को लागू करना है। उनके विचारानुसार, विश्व दो प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों में बँटा है—पूँजीवाद तथा समाजवाद—तथा इन दोनों विचारों में स्थायी रूप से कोई समझौता नहीं हो सकता है।''

मार्क्सवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा इसके परम्परा—मुक्त होने के कारण वे उसकी ओर आकृष्ट हुए। परन्तु उन्हें जल्दी ही इस बात का पता चल गया कि रूस के मार्क्सवाद में काफी परम्परा देखने को मिती है। साम्यवाद के व्यावहारिक रूप से, जिसे रूस में प्रयोग में लाया जाता है, नेहरू को साम्यवाद की कुछ विशेषताओं का पता चला। उन्होंने अपनी आत्मकथा में कहा है, ''रूस में बहुत—कुछ मुझे अच्छा नहीं लगता—प्रत्येक प्रकार की आलोचना का दमन, विभिन्न नीतियों के अनुसरण करने के लिए बिना आवश्यकता हिंसा का प्रयोग।'' परन्तु रूस के साम्यवाद का पूँजीवाद के साथ मुकाबला करते हुए उन्होंने कहा कि पूँजीवाद का आधार भी हिंसा है। दोनों में से उन्होंने साम्यवादी हिंसा को अच्छा समझा, क्योंकि ''पूँजीवाद की हिंसा उस व्यवस्था में पैतृक है, परन्तु रूस की हिंसा चाहे वह बुरी है उसका उद्‌देश्य शान्ति सहयोग तथा लोगों की वास्तविक स्वतन्त्रता पर आधारित है।''

उन्होंने मार्क्सवाद को संसार के सभी रोगों का एकमात्र इलाज नहीं माना। चाहे मार्क्स को सामाजिक व्यवस्था को गहराई से देखने का श्रेय प्राप्त है, फिर भी नेहरू के अनुसार, उसने बहुत—सी गलत बातें भी कही हैं। उन्होंने महसूस किया कि तथ्यों तथा उस समय की परिस्थितियों को दृष्टि में रखे बिना मार्क्स के सिद्धान्तों को लागू करना अन्यायपूर्ण होगा। चाहे नेहरू का काफी झुकाव मार्क्स की ओर था, परन्तु वे अपने आपको कम्युनिस्ट कहलाने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, ''मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ। मेरी जड़ें अब भी थोड़ी—सी उन्नीसवीं शताब्दी में हैं और मैं उसमें से निकलने के लिए मानववादी उदार प्रथाओं से बहुत प्रभावित हुआ है।'' मार्क्सवाद सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं का सुन्दर उपसंहार करते हुए, वह डिस्कवरी ऑफ इंडिया में लिखते हैं, ''मार्क्स और लेनिन के अध्ययन का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा जिसके कारण वर्तमान घटनाक्रम तथा इतिहास को समझने के लिए मुझे एक

नई दृष्टि मिली। इसने पूर्णतः मुझे सन्तुष्ट नहीं किया तथा न ही मेरे सभी प्रश्नों का उत्तर मुझे प्राप्त हुआ। शायद, अनजाने ही, एक धुँधला, अस्पष्ट–सा दृष्टिकोण मुझे मिला, कुछ ऐसा ही जो वेदान्ती दृष्टिकोण से मिलता है। सामाजिक घटनाओं का मार्क्स का सामान्य विश्लेषण अवश्य उल्लेखनीय यथार्थिक है, तथापि कुछ ऐसी बातें भी हुईं जिनका निकटवर्ती भविष्य के प्रति मार्क्स के पूर्वानुमान से मेल नहीं बैठता।''

गुंथर को कहे गए उनके शब्दों से भी इस बात का पता चलता है। उन्होंने कहा, ''मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ क्योंकि मैं साम्यवाद क़ी इस धारणा को नहीं मानता कि साम्यवाद एक पवित्र सिद्धान्त है। मैं नहीं चाहता कि मुझे यह बताया जाए कि मैं क्या सोचूँ और क्या करूँ। मैं यह भी महसूस करता हूँ कि साम्यवादी ढंगों के साथ बहुत–सी हिंसा जुड़ी हुई है। साध्य को साधनों से अलग नहीं किया जा सकता।'' इससे यह सिद्ध होता है कि चाहे नेहरू साम्यवादी सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुए, फिर भी वे रूस के साम्यवादियों की भाँति एक साम्यवादी नहीं थे।

वास्तव में वे मार्क्सवादियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले हिंसक ढंगों के विरुद्ध थे। गांधीजी के साध्य तथा साधन की पवित्रता के सिद्धान्त का उन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। उन्हें हिंसा के बुरे परिणामों का पता था। अच्छे साधन प्रयुक्त किए बिना अच्छे उद्‌देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती। मार्क्स क़े अनुयायी साम्यवादी, समाजवाद की प्राप्ति के लिए जन–संहार के समर्थक थे। अतः नेहरू ने इन हिंसावादी मूल सुधारवादियों की नीति का अनुसरण नहीं किया।

स्वतन्त्रता–संग्राम के दौरान भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के कारण भी नेहरू का झुकाव साम्यवाद की ओर नहीं हुआ। नेहरू जैसा राष्ट्रवादी ऐसे भारतीयों का साथ देने के लिए तैयार नहीं था, जो मास्को के इशारों पर नाचते रहे हों और जिन्होंने देशभक्ति की भावना न व्यक्त की हो।

परन्तु इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि तीसरे दशक के अन्त तक नेहरू का झुकाव मार्क्सवादी समाजवाद की ओर रहा, चाहे वे देश में दूसरे साम्यवादियों की भाँति साम्यवादी नहीं थे। फ्रेंक मोरेस ने ठीक ही कहा है

कि "तीसरे दशक में जवाहरलाल लोकतन्त्रीय विचारों वाले साम्यवादी सिद्धान्तों के समर्थक थे।"

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् नेहरू पर से साम्यवाद का प्रभाव कम होने लगा था। उन्होंने सभी जगह पर पूँजीवाद का प्रभाव कम होते देखा। उन्होंने एक अन्य प्रगति देखी जिसका उनके मन पर काफी प्रभाव पड़ा। हर जगह पर पूँजीवाद की बुराइयाँ दूर हो रही थीं और वह सभ्य तथा नम्र और भावुक रूप में सामने आने लगा। उन्होंने देखा कि कुछ एक देशों में उद्योगों को धीरे–धीरे सरकारी नियन्त्रण में लाया जा रहा था। इससे पूँजीवादी देशों में भी समाजवाद का रंग दिखाई देने लगा। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी राज्य भी कल्याण कर राज्य के सिद्धान्तों को अपनाने लगे। सामाजिक सुरक्षा का प्रोग्राम लागू किया जाने लगा। सार्वजनिक आवास, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा शिक्षा के प्रोग्राम शुरू किए गए। जनता के दुःखों तथा कष्टों को दूर करने के लिए बहुत–सी योजनाओं की व्यवस्था की गई। इन सबका नेहरू के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। अतः पूँजीवाद के बारे में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। उन्होंने स्वतन्त्र भारत के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रचार करना शुरू कर दिया। अतः उन्होंने गैरसरकारी क्षेत्र को भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। यह मार्क्सवाद तथा साम्यवाद से स्पष्ट रूप में हटने वाली बात थी।

मार्क्सवाद से इस प्रकार हटने के फलस्वरूप भारत में कट्टर साम्यवादियों ने नेहरू की कड़ी आलोचना की। पहले से अपनाए गए समाजवादी दृष्टिकोण से हट जाने तथा कांग्रेस पर प्रतिक्रियावादियों के प्रभाव के बढ़ जाने का आरोप लगाया गया। परन्तु नेहरू ने इस प्रकार के साम्यवाद के प्रति संकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाना उचित न समझता। उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक आधार वाले मार्क्स के सिद्धान्त को कोरे सिद्धान्त में नहीं बदला जा रहा। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मार्क्स के कुछ आर्थिक विचार पुराने हो रहे हैं और मार्क्सवाद एक 'संकीर्ण दृष्टिकोण' बन गया है। उन्होंने महसूस किया कि मार्क्स की बहुत–सी बातें भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए तथा अविकसित देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नेहरू ने अपना झुकाव पूँजीवादी

लोकतन्त्र की ओर कर लिया और साम्यवादी रूस के प्रति घृणा शुरू कर दी, जहाँ साम्यवाद को कार्यान्वित किया जा रहा था। उन्होंने सोवियत पद्धति की सराहना की और आने वाले भारत के लिए इस पद्धति को अपनाने की आशा व्यक्त की। उन्होंने कहा, ''जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं भारत में समाजवादी अर्थव्यवस्था को लागू करने के पक्ष में हूँ और मैं समझता हूँ कि थोड़े–बहुत परिवर्तनों से सोवियत प्रणाली की सरकार भारत के लिए उपयुक्त हो सकती है।'' यदि सोवियत रूस ने अपनी ही परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवाद की परिभाषा की है तो भारत भी सोवियत समाजवादी व्यवस्था को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल ढाल सकता है। उन्होंने आयोजना की सराहना की, क्योंकि उनके विचारानुसार, ''यह पिछड़ेपन के विरुद्ध, पूँजीवाद के अवशेषों के विरुद्ध तथा जीवन के घटिया स्तरों के विरुद्ध एक महान् संघर्ष है।''

उन्होंने ठीक ही कहा कि ''वर्तमान युग में, जब कि लोगों की आशाएँ बढ़ी हैं और कल्याणकारी राज्य की भावना का उदय हुआ है, ऐसी कोई प्रणाली जीवित नहीं रह सकती जो इन बातों को पूरा नहीं करती।''

''आज की महान् समस्याओं का समाधान केवल तर्कों अथवा युद्ध से नहीं हो सकता, बल्कि उस ढंग से जिससे इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके।'' अतः उन्होंने कहा कि विधि ऐसी नहीं होनी चाहिए जो कि उग्र हो और जो किसी विशेष विचारधारा पर आश्रित हो। मध्य का मार्ग अपनाना चाहिए जो भारतीय परिस्थितियों के अुनकूल हो। इससे नेहरू के वस्तुवादी दृष्टिकोण का तथा एक विशेष प्रकार की विचारधारा से न चिपके रहने की नीति का पता चलता है।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में नेहरू नैतिक आदर्शवाद की ओर झुक गए। उन्होंने यह महसूस किया कि नैतिक तथा आध्यात्मिक झुकावों वाला मानवीय जीवन बेकार है। इससे उनके मन पर गांधीजी के प्रभाव का और उनके मार्क्सवादी साम्यवाद की ओर से हटने का पता चलता है जो कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में इन मूल्यों को कोई महत्त्व नहीं देता।

इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि नेहरू, जो तीसरे

दशक में मार्क्सवाद के प्रभाव के अधीन थे, बीसवीं सदी के चौथे तथा पाँचवें दशक में आकर इसके प्रभाव से मुक्त हो गए। उन्होंने महसूस किया कि साम्यवाद एक सामाजिक शक्ति का नेतृत्व करता है, परन्तु वे साम्यवाद के द्वारा हिंसा का प्रयोग करने के विरुद्ध थे। अन्त में उन्होंने महसूस किया कि मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त पूँजीवादी सिद्धान्त से अच्छा है, चाहे मार्क्सवादी सिद्धान्त पुराना भी हो चुका है। मलिक के शब्दों में, "वे साम्यवाद को काफ़ी हद तक स्वीकार करने के लिए तैयार थे, अगर साम्यवाद हिंसा के ढंगों का त्याग कर दे।" एक सच्चे भारतीय के रूप में उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि भारतीय समाजवाद का ढाँचा भारत में ही तय होना चाहिए, साथ ही हमें दूसरे समाजवादी देशों से भी लाभ उठाने में पीछे नहीं हटना चाहिए। भारत के समाजवाद की ओर झुकाव तथा भारतीय संविधान में दिए गए उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए जा रहे प्रयत्नों से सिद्ध होता है कि नेहरू के समाजवाद के लक्ष्य को पूरा किया जा रहा है। इस प्रकार का समाजवाद निश्चित रूप से द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का फल नहीं हैं, जिसका कि वर्णन मार्क्स ने किया है। यह जनता के दुखों तथा मुसीबतों तथा उनके अमीरों द्वारा शोषण का फल है। इसे दूर करने का एकमात्र तरीका यह है कि लोगों की मुसीबतों को कम किया जाए। अतः नेहरू का आधार मार्क्स का सिद्धान्त नहीं था। परन्तु शुरू–शुरू में नेहरू मार्क्स की विचारधारा से अवश्य ही प्रभावित हुए थे। आबिद हुसैन के शब्दों में, "उन्होंने इसे पूर्ण रूप से नहीं अपनाया, परन्तु इसका आलोचनात्मक ढंग से निरीक्षण किया और जो कुछ वैज्ञानिक था, उसे स्वीकार कर लिया और जो अंश अवैज्ञानिक था उसे त्याग दिया, जो कि वास्तव में विशुद्ध पारलौकिक तथा काल्पनिक था। समूचे तौर पर, इससे उन्हें जीवन के बारे में एक ऐतिहासिक अनुभूति तथा तर्कशील और आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ।"

वास्तव में नेहरू मार्क्सवाद के कट्टरपन्थी अनुयायी नहीं थे। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि मार्क्स द्वारा निरूपित एक तत्त्ववाद तथा द्वन्द्वात्मक से वह बड़े प्रभावित हुए। मार्क्सवाद को वह एक नम्य तथा परिवर्तन सापेक्ष मानते थे। लेनिन की भाँति वह भी मार्क्सवादी सिद्धान्त को पूर्ण तथा अकाट्य नहीं

मानते थे। उन्होंने मार्क्स की इतिहास तथा समाज सम्बन्धी व्याख्याएँ स्वीकार कीं, परन्तु नागरिक स्वतन्त्रता की उनकी प्रतिबद्धता बनी रही।

8

गांधी के प्रति नेहरू के दृष्टिकोण

राष्ट्रपति महात्मा गांधी ने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और कहा कि उनकी मृत्यु के पश्चात् नेहरू उनकी ही भाषा में बात करेंगे। नेहरू ने गांधीजी को सत्कार से भरकर 'बापू' कहा। अगर हम अपने राष्ट्रीय इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि नेहरू जब पहली बार 1916 में लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी से मिले, तो वे उनसे बिल्कुल प्रभावित न हुए। तरुण नेहरू तथा उनके समकालीन दूसरे लोगों को गांधी, जिन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में सफलता प्राप्त की, "बहुत दूर, बहुत अलग अराजनीतिक लगे।" नेहरू की गांधीजी के प्रति श्रद्धा उस समय बढ़नी शुरू हुई जब गांधीजी ने 1919 में रोलट एक्ट तथा अंग्रेजी सरकार द्वारा दूसरे दमनकारी कानूनों का विरोध करने के लिए सत्याग्रह सभा कायम की। नेहरू ने सत्याग्रह आन्दोलन की प्रशंसा की और कहा, "संकट में यही एक रास्ता तथा कार्रवाई की एक विधि थी जो सीधी, स्पष्ट तथा प्रभावशाली थी।" जब गांधीजी ने 1921 में असहयोग आन्दोलन चलाया, तो नेहरू उस आन्दोलन में सबसे आगे थे। उन परिस्थितियों में उन्होंने गांधीजी के इस तरीके को प्रभावशाली माना। यही समय था जब नेहरू का इस सिद्धान्त में विश्वास जम गया कि एक अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए अच्छे साधनों की ज़रूरत होती है। परन्तु नेहरू ने अहिंसा को ही एकमात्र साधन नहीं माना।

गांधी के मन में नेहरू के लिए इतना प्रेम बढ़ा कि उन्होंने चालीस वर्ष

की आयु में नेहरू को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रधान बनवा दिया। वास्तव में विकट स्थितियों में गांधीजी ने नेहरू को कांग्रेस के प्रधान पद तक ऊँचा उठाने का दायित्व सँभाला।

नेहरू कट्टर गांधीवादी नहीं थे—नेहरू कभी कट्टर गांधीवादी नहीं रहे। कई बार उन्होंने महात्माजी की आलोचना की और उनसे अपनी विचार–विभिन्नता प्रकट की। दोनों के बीच में निम्नलिखित विभिन्नताएँ थीं—

(1) 1922 में जब चौरा–चौरी के स्थान पर हिंसक घटनाएँ घटीं और महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया, तो नेहरू ने महात्मा गांधी के इस निर्णय की कटु आलोचना की। ए.आर. नन्दा के शब्दों में, "नेहरू जो उस समय जेल में थे, आन्दोलन के स्थगित किए जाने के समाचार से चकित, हतप्रभ रह गए। उनकी समझ में यह नहीं आया कि सुदूर गाँव में ग्रामीण किसानों की नगण्यतः अल्प संख्या द्वारा उत्तेजित हो, हिंसा करने से, स्वतन्त्रता के लिए छेड़े एक आन्दोलन को कैसे प्रतिवर्तित किया जा सकता है। यदि विशुद्ध अहिंसा तीस करोड़ भारतीयों के लिए मूलभूत आदर्श माना जाए तो क्या गांधी का आन्दोलन एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति के क्रूर, बर्बर के समक्ष तापसी आचार के समान निष्प्रयोजन नहीं रह जाएगा...?"

(2) इसी तरह देशी रियासतों में जन–आन्दोलन के बारे में कांग्रेस के रवैये के बारे में नेहरू गांधीजी से सहमत नहीं थे।

(3) राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के बारे में भी नेहरू गांधीजी से पूर्ण सहमत नहीं थे।

(4) नेहरू ने अहिंसावाद को जीवन का एकमात्र सिद्धान्त नहीं माना। उदाहरण के रूप में नेहरू यह नहीं मानते थे कि अहिंसा द्वारा युद्ध के उस पैशाचिक तन्त्र को जो हिटलर ने बनाया था, इसके द्वारा मानवता को पराधीन बनाए जाने से पूर्व नष्ट किया जा सकता है। नेहरू ने सभी समयों तथा परिस्थितियों में अहिंसा की प्रभावी वैधता कभी स्वीकार नहीं की। उन्होंने सोचा कि देश में कानून तथा व्यवस्था कायम करने के लिए राज्य

की दमनकारी शक्ति अनिवार्य है।

(5) नेहरूजी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्षता वाला तथा वैज्ञानिक था, जबकि गांधीजी धार्मिक विचारों वाले व्यक्ति थे।

(6) गांधीजी प्रौद्योगिकी तथा उद्योगीकरण पर आधारित पश्चिमी सभ्यता के कट्टर आलोचक थे, और आदर्श समाज में उसका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं समझते थे। परन्तु नेहरू पश्चिमी विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी तथा इनके द्वारा प्राप्त की गई प्रगति के महान् प्रशंसक थे। अपनी आत्मकथा में वह लिखते हैं, ''हम परिवर्तन की नदी का प्रवाह नहीं रोक सकते और उसकी धारा से अलग नहीं हो सकते। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, कहा जा सकता है कि अदन का सेव खाने वाले हम लोग, इसका स्वाद भूलकर अपनी आरम्भिक अवस्था में नहीं लौट सकते हैं।''

(7) चाहे गांधी तथा नेहरू के सामाजिक आदर्श समान हैं, फिर भी इनकी रचना तथा अभिव्यक्ति में अन्तर है। गांधीजी ने ज्यादा ज़ोर स्वतन्त्रता पर दिया, जबकि नेहरू ने समानता पर—चाहे दोनों स्वतन्त्रता तथा समानता के समर्थक थे। गांधीजी की कल्पना वाले आदर्श राज्यविहीन समाज में व्यक्ति को असीम स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। बाहर की कोई भी शक्ति उसके जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी। कोई भी शक्ति शोषण करने वाली, दमनकारी अथवा अत्याचार करने वाली नहीं होगी। अगर कोई व्यक्ति इस प्रकार की उच्च प्रथाओं को तोड़ने का यत्न करेगा, तो दलित व्यक्ति सत्याग्रह के हथियार से उसका मुकाबला करेगा और उसके अपवित्र इरादों को खत्म कर देगा। इससे अपने–आप अधिकतम समानता प्राप्त हो सकेगी।

दूसरी ओर, नेहरू ने महसूस किया कि अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से व्यक्ति को दूसरों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को खत्म करने का अवसर मिलता है। इससे सामाजिक असमानता पैदा होती है। अतः समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बराबर की स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए इसका ढंग से वितरण करना पड़ेगा ताकि प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा दिया जा सके। शोषण मुख्य रूप में आर्थिक क्षेत्र में ही होता है। अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सम्मिलित आयोजन तथा नियन्त्रण द्वारा सीमित किया जाना चाहिए। इसलिए, दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि नेहरू का आदर्श समाज

नियन्त्रण तथा आयोजन द्वारा कायम किया जाने वाला समाज है। परन्तु उनका विचार था, व्यक्ति के व्यक्तित्व को धक्का पहुँचाने वाले अनुचित प्रतिबन्धों को खत्म किया जाए और व्यक्ति को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए, जिससे स्वतन्त्रता तथा धन का न्यायोजित बँटवारा किया जा सके।

आदर्श जीवन के बारे में उनके विचार एक–दूसरे से बहुत भिन्न थे। "दोनों अपनी असीम यात्रा के लिए एक ही स्थान से चले–उसी उद्देश्य से अपने देशवासियों के लिए निःस्वार्थ प्रेम, सत्य की प्राप्ति तथा वही सामग्री, उग्र नैतिक सिद्धान्त–परन्तु दोनों ने अपनी यात्रा के लिए विभिन्न प्रकार की कार्य–पद्धति अपनाई, दोनों के लक्ष्य एक–दूसरे से भिन्न थे–किन्तु वर्तमान में उनके रास्ते समान थे, जो कि अन्त में अलग होने थे।" गांधी चाहते थे कि हम सबसे छोटा तथा सीधा रास्ता अपनाकर पूरी लगन से सत्य के लक्ष्य की ओर चल पड़ें, परन्तु नेहरू उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लम्बा तथा पेचीदा रास्ता अपनाने के पक्ष में थे, जो कि "मोड़ों, चक्रों, ऊँच–नीचों, विभिन्नता के जादू–भरे दृश्यों को आनन्द लेते हुए, दुखों तथा आपत्तियों में भी खुश रहते हुए और फिर भी विभिन्नता में एकता की खोज करते हुए, संकट में भी शान्तिपूर्वक रहने का संकेत करता हों"

गांधी के लिए धर्म तथा नैतिकता ही सारा जीवन था; नेहरू के लिए नैतिकता एक महत्त्वपूर्ण, बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मौलिक रूप में गांधी एक धार्मिक व्यक्ति थे और वे संयोग से राजनीति में आए थे। अतः वे दोनों को अलग न कर सके। उन्होंने सत्य तथा अहिंसा पर बहुत बल दिया और उन्होने कांग्रेस से देश के नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनरुद्धार की आशा की। नेहरू ने नैतिकता को महत्त्व प्रदान किया, परन्तु धर्म को कोई विशेष महत्त्व न दिया। उनके विचारानुसार धर्म तो केवल महिलाओं का धन्धा है। उनका मुख्य उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता था और नैतिक पुनरुद्धार गौण बात थी। अतः वे चाहते थे कि कांग्रेस राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाए।

दोनों में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि गांधीजी ने पश्चिम को भारतीय आँखों से देखा, परन्तु नेहरू ने भारत को पश्चिमी आँखों से देखा।

अतः गांधीजी जनता में नए जीवन का संचार करके भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखना चाहते थे। नेहरू, जिनका लालन–पालन पश्चिमी ढंग से हुआ था, भारतीय समाज का पश्चिम में हुई प्रगति के आधार पर कायाकल्प करने के पक्ष में थे। गांधीजी ने दोनों में अन्तर को स्पष्ट करते हुए सुन्दर ढंग से कहा है कि वह द्धगांधी) भारत में से पश्चिमी सभ्यता का अन्त करना चाहते थे और अंग्रेजों को देश की सेवा में मित्रों के रूप में रखना चाहते थे, जबकि जवाहरलाल उन्हें देश से निकालकर उनकी संस्कृति तथा सभ्यता को कायम रखने के पक्ष में थे। परन्तु गांधीजी के शब्दों में पूरी सच्चाई नहीं है।

नेहरू ने लार्ड माउंटबेटन को भारत का गवर्नर–जनरल बनाए रखा, यद्यपि वे उन्हें हटा सकते थे। नेहरू ग़ैर–सरकारी क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं परन्तु वे गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे, जिसमें पूँजीवादी प्रकार की 'सेवा तथा बलिदान की बात कही गई है, ताकि पूँजीपति अतिरिक्त फालतू धन, जो कि उनके पास है, के लिए न्यासी के रूप में काम कर सकें।

इन विभिन्नताओं के बावजूद यह मान लेना गलत होगा कि नेहरू गांधी के प्रतिद्वन्द्वी थे अथवा गांधीजी के साथ उनका सम्बन्ध केवल कार्यसाधकता के कारण था। संसार को गांधीजी को सन्देश पहुँचाने का काम नेहरू ने अपने जिम्मे लिया। गांधीजी की मृत्यु के समय कहे गए उनके शब्द इस बात को स्पष्ट करते हैं :

''हमारे जीवन में से प्रकाश चला गया है और हर ओर अँधेरा ही अँधेरा है...हमारे प्यारे नेता...राष्ट्रपिता...अब नहीं रहे...अब हम उनसे मन्त्रणा तथा धैर्य लेने के लिए उनके पास नहीं जा सकेंगे...। जिस प्रकाश ने अनेक वर्षों तक इस देश को प्रकाशवान किया है, वह इसे प्रकाशवान करता रहेगा और हजारों वर्षों के पश्चात् भी वह प्रकाश इस देश में दिखाई देता रहेगा और संसार भी इसे देखेगा और यह प्रकाश अगणित हृदयों को ढाढ़स देगा...''

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत के नए ढाँचे के निर्माण में दोनों नेताओं में काफी मतभेद रहा, परन्तु वास्तविक जीवन के क्षेत्र में वे लगभग एक–से ही विचारों के थे। गांधीजी एक सन्त राजनीतिक थे जो कि अनिवार्य

रूप से धार्मिक व्यक्ति थे। सत्य की खोज की लालसा ने उन्हें काम की ओर प्रेरित किया। दूसरी ओर नेहरू भी एक क्रियाशील व्यक्ति थे, जो कि ठीक व्यवहार की खोज में गांधीजी के पास आए और गांधीजी द्वारा जिसकी अभिव्यक्ति की गई थी, उस सत्य के नैतिक पक्ष के दर्शन किए। उनकी बहुत–सी बातों में एक राय थी, भले ही कई मामलों में वे एक–दूसरे से भिन्न थे। व्यावहारिक जीवन में वे एक–दूसरे के निकट थे। दोनों ने एक–दूसरे के साथ निकट सहयोग से कार्य किया। हुसैन के शब्दों में, ''उनके व्यक्तिगत स्वभावों की विभिन्नता के कारण उनके सामाजिक जीवन के आदर्शों में काफी अन्तर था, परन्तु वास्तविक समाज के ढाँचे में, जिसकी निकट भविष्य के लिए उन्होंने कल्पना की थी, उसमें दोनों के विचारों में काफी समानता दिखाई देती है और दोनों की अधिकांश विचारधारा का बहुत अधिक कठिनाई के बिना समायोजन किया जा सकता है।''

ध्यानपूर्वक विश्लेषण करने के पश्चात् पता चलता है कि गांधी तथा उनके उत्तराधिकारी नेहरू के विचारों में लक्ष्यों तथा उनकी पूर्ति के लिए अपनाए जाने वाले साधनों में बहुत समानता थी। नन्दा ने ठीक ही कहा है, ''नेहरू से अधिक कोई नहीं जानता था कि वह गांधी के कितने ;णी हैं। महात्माजी से उन्होंने नैतिकता प्रधान मनोदशा प्राप्त की, नग्न, क्षुधित भारतीयों के प्रति समवेदनशीलता प्राप्त की और पाया शान्ति और धैर्यपूर्वक उपायों के व्यवहार में विश्वास।''

द्वक) गांधीजी भी नेहरू की भाँति भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाना चाहते थे। गांधीजी अपने धार्मिक विचारों के कारण भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने कहा, ''निस्सन्देह राज्य को धर्मनिरेपेक्ष होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी बाधा के बिना अपने धर्म को मानने का अधिकार होना चाहिए...धर्म–प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, परन्तु किसी भी धर्म को राज्य का संरक्षण प्राप्त नहीं होगा, जैसा कि विदेशी शासन के समय था।'' गांधीजी का राज्य के धर्म में कोई विश्वास नहीं था। नेहरू ने, जो भारतीय संविधान की आत्मा थे, इसी बात को धर्म के अधिकार तथा संस्कृति और शिक्षा–सम्बन्धी अधिकारों वाले अनुच्छेदों द्वारा संविधान में वास्तविक रूप दिया।

द्धख) दोनों उदार लोकतन्त्रीय राज्य की स्थापना करना चाहते थे। गांधीजी का अन्तिम लक्ष्य 'अहिंसा पर आधारित एक राज्यविहीन समाज' था। परन्तु व्यावहारिक बुद्धिमत्ता रखने वाले व्यक्ति के रूप में, उनका विश्वास था कि इस प्रकार की स्थापना की बात अभी दूर की कल्पना है परन्तु आन्तरिक समय के लिए वे अहिंसा पर आधारित लोकतन्त्री राज्य को अपनाने के लिए तैयार थे। इस प्रकार का राज्य कम–से–कम शासन करेगा। इस प्रकार का राज्य दमन के स्थान पर प्रोत्साहन का प्रयोग करके सामाजिक सुधार लागू करेगा तथा सामान्य प्रशासन्न का संचालन करेगा। दूसरे, इस प्रकार का राज्य विशेष रूप से गाँवों के लिए विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण करेगा।

नेहरू का राज्य भी दमन तथा केन्द्रीकरण के सिद्धान्तों के विरुद्ध था। इसकी प्रकृति तो लोकतन्त्रीय तथा संघात्मक होगी। उन्होंने संविधान में देश की अखंडता तथा एकता को कायम रखते हुए, संघ की इकाइयों के लिए अधिक–से–अधिक अधिकारों की व्यवस्था की। दूसरे, ग्राम–पंचायतों को महत्त्व देने की नीति से, नेहरू की देश में विकेन्द्रीकरण लागू करने की इच्छा का पता चलता है। हुसैन के शब्दो में "अगर मैं इसका तार्किक परिणाम निकाल सकूँ, तो कहा जा सकता है कि राजनीतिक संगठन का उनका विचार जिसके अधीन एक गाँव का एक मत होगा और उसे पूर्ण रूप से स्थानीय स्वायत्तता प्राप्त होगी, पंचायती राज्य एक वास्तविकता बन जाएगा और हम यह कह सकने के योग्य हो जाएँगे कि नेहरू का उदार राज्य गांधीजी का कम–से–कम शासन करने वाला राज्य ही होगा।"

द्धग) यद्यपि नेहरू पूर्ण रूप से गांधीजी के प्रिय सिद्धान्त अहिंसावाद के प्रति श्रद्धालु नहीं थे, परन्तु वे इसके नैतिक पहलू को महत्त्व देते थे। उन्होंने कहा, "उसने मुझे अधिक–से–अधिक आकृष्ट किया और मेरा विश्वास बना कि भारत में अपनी पृष्ठभूमि के साथ यह हमारी ठीक नीति है। राजनीति के अध्यात्मीकरण का विचार मुझे सुन्दर दिखाई पड़ता है।" जब गांधीजी ने चोरी–चौरा में हिंसक घटनाओं के कारण सविनय अवज्ञा आन्दोलन को अचानक स्थगित कर दिया, तो नेहरू बहुत बिगड़े और कहा, "हमारे लिए तथा समूचे तौर पर राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए अहिंसावाद का

सिद्धान्त एक धर्म अथवा अपरिवर्तित धर्म या सिद्धान्त नहीं बन सकता।'' परन्तु यह अन्तःकालीन अवस्था थी। दबावों तथा तनावों के बावजूद जो कि कांग्रेस को सहन करने पड़े, नेहरू वाणी, कर्म तथा विचारों से हिंसा से दूर रहे। गांधीजी को यह पूर्ण विश्वास था कि चाहे कुछ भी हो, नेहरू उनकी विचारधारा का अनुसरण करेंगे। अतः उन्होंने कहा, ''जवाहरलाल मेरा राजनीतिक उत्तराधिकारी है। चाहे मेरे जीवित रहते उसका मेरे से मतभेद रहेगा, परन्तु मेरे चले जाने के पश्चात्, वह मेरी ही भाषा में बात करेगा।''

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रीय मंच से गांधीजी के चले जाने के बाद, नेहरू ने अहिंसावाद के महत्त्व को पूर्ण रूप से महसूस किया और संसार के राष्ट्रों से आग्रह किया कि वे इसका एक नीति के रूप में ही पालन न करें, अपितु एक मान्यता के रूप में इसे अपनाएँ। उन्होंने इसे अपनी राष्ट्रीय तथा विदेश–नीति की आधारशिला बनाया। उन्होंने इसे मानवता को विनाश से बचाने का एकमात्र साधन माना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में अपने एक भाषण में उन्होंने गांधीजी के अहिंसावाद के सिद्धान्त में अपने अटल विश्वास की उद्घोषणा की।

इस सम्माननीय संस्था के सामने अपने भाषण में उन्होंने जोर देकर कहा, ''हम नहीं समझते कि भारत अथवा विश्व की समस्याएँ आक्रमण अथवा युद्ध या हिंसा की भाषा में सोचने से हल हो सकती हैं। हम दुर्बल व्यक्ति हैं और हमेशा उन महापुरुषों की शिक्षाओं पर अमल नहीं कर सकते, जिन्होंने हमारे राष्ट्र को स्वतन्त्र कराया है, परन्तु उनकी शिक्षा हमारे मनों में गहरा घर कर गई है और जब तक हम उसे याद करते रहेंगे, मुझे विश्वास है कि हम सही रास्ते पर होंगे...मैं महासभा को यह राय देने का साहस करता हूँ।'' वास्तव में नेहरू की विदेश–नीति शान्ति तथा अहिंसा की भावना से ओत–प्रोत है और अगर गांधी कुछ वर्षों और जीवित रहते, तो उन्होंने उसका पूर्ण रूप से समर्थन किया होता। यद्यपि भारत की अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न थी और उसे दूसरे देशों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ रहा था, फिर भी नेहरू ने दोनों गुटों में से किसी गुट में शामिल होने की बात नहीं सोची। उन्होंने महसूस किया कि चाहे ऐसी नीति के रास्ते में कठिनाइयाँ थीं, फिर भी इसके परिणाम बहुत लाभकारी थे। तीनों गुटों में से एक गुट के साथ संलग्नता का

परिणाम हिंसा, युद्ध तथा मानव जाति का शीघ्र ही विनाश हो सकता था।

भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिए उन्होंने हिंसा का प्रचार नहीं किया, यद्यपि वे साम्यवादी देशों में हिंसा द्वारा प्राप्त किए गए अच्छे परिणामों से भली–भाँति परिचित थे।

द्वघ) नेहरू बड़े उद्योगों के समर्थक थे, जब कि गांधीजी बड़े उद्योगों को केवल उसी स्थिति में स्वीकार करने के पक्ष में थे कि वे गाँवों में लगाए जाएँ और राज्य का उन पर नियन्त्रण हो तथा मजदूरों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त व्यवस्था हो। गाँवों के लोगों की आय की कमी को पूरा करने के लिए गांधीजी के कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने की नीति को दूसरी पंचवर्षीय योजना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया और संविधान में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों में भी उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया।

द्वङ) गांधीजी ने आत्मनिर्भरता को व्यक्ति के आचरण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना। जवाहरलाल ने आत्मनिर्भरता को धुरी बनाया जिसके चारों ओर सामुदायिक विकास–योजना घूमती है। अगर गांधीजी जीवित होते तो उन्होंने अवश्य ही नेहरू के सामुदायिक विकास–कार्यों की सराहना की होती।

द्वच) गांधीजी ने विवादों तथा झगड़ों के समाधान के लिए बातचीत का दरवाजा सदा खुला रखने पर बल दिया। वे समझौते के लिए इच्छा बनाए रखने के पक्ष में थे। अपने शत्रुओं के प्रति भी गांधीजी का रवैया मित्रतापूर्ण था। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण शत्रु में शत्रुता की भावना खत्म हो जाती थी। जवाहरलाल इस लक्षण से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने चीन तथा पाकिस्तान की आक्रामक कार्यवाइयों के बावजूद उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न किया।

द्वछ) दोनों के राष्ट्रवाद में अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रवेश हो चुका था। उनके विचारानुसार, भारतवासी समूचे मानव–परिवार का एक अंग है। गांधीजी भारत को शेष विश्व से पृथक् नहीं रखना चाहते थे। जवाहरलाल ने गुलाम देशों की स्वतन्त्रता पर प्रसन्नता प्रकट की और भारतीय स्वतन्त्रता–संग्राम को तथा दूसरे देशों की स्वतन्त्रता के संघर्ष को एक पूरे संग्राम का ही भाग

माना।

द्धज) दोनों कठिनाइयों से जूझते, उत्पीड़ित लोगों के पक्षधर थे। दलितों का तपस्वी था, वहाँ दूसरा आभिजात्यवर्गीय था। दोनों साथ रहने वाले लोगों को प्यार करते थे और बदले में उन्हें भी उनका प्यार भरपूर मात्रा में मिला। एक का अधिकार अध्यात्म पर था तो दूसरा सांसारिक विषयों की चर्चा करता था। पर दोनों ही अपने–अपने विषयों की बात लोगों के हृदयों के द्वारा करते थे।

द्धझ) दोनों मानववादी थे। गुरु गांधी की भाँति नेहरू भी राजनीतिक समयोचित कार्यसाधकों की अपेक्षा मानवीय गुणों को अधिक महत्त्व देते थे। डॉ. केसकर के शब्दों में, ''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा की। इस दृष्टि से हमारे सार्वजनिक जीवन को उनकी देन उतनी ही महान् है जितनी गांधीजी की। वह महान् राजनीतिक नेता थे, परन्तु मानव रूप में वह इससे कहीं महान् थे।''

गुरु तथा शिष्य के बीच में समानता के अंशों पर विचार करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि ''नवीन भारत के ढाँचे की जो कल्पना गांधी तथा नेहरू ने की, आदर्श की दृष्टि से उनमें समानता दिखाई नहीं देती; परन्तु वास्तविक जीवन में जहाँ पर आदर्श को वास्तविकता द्वारा संशोधित किया जाता है, दोनों में काफी समानता है।''

राजनीति के प्रति एक नये जोश के साथ गंगा की धारा इलाहाबाद में 1924 के जनवरी में कुंभ के मेले का आयोजन था। गंगा–यमुना का संगम उस समय ऐसा रूप धारण कर चुकी थी कि उसमें यात्रियों का स्नान करना जानलेवा हो सकता था। इसलिए सरकार ने सुरक्षा के तौर पर कुछ प्रतिबंध लगा दी थी। पं॰ मदनमोहन मालवीय और प्रांतीय सरकार के बीच इस बात को लेकर एक चर्चा छिड़ गई थी। वे इस धार्मिक मामले पर प्रांतीय सरकार का हस्तोप सहन नहीं कर पा रहे थे। जवाहरलाल नेहरू को इन सभी बातों की जानकारी समाचारपत्रों द्वारा प्राप्त हो गई थी। वे कुम्भ के दिन सवेरे ही मेला देखने के उद्देश्य से उधर निकल पड़े। गंगा पहुंचने पर उन्होंने सुना कि मालवीय जी ने जिला मजिस्ट्रेट को अपने पत्र में हल्की–सी चेतावनी दे दी है और त्रिवेणी में स्नान की आज्ञा मांगी है। आज्ञा न मिलने पर वे गांध

जी के साथ सत्याग्रह के लक्ष्य से दो सौ सत्याग्रहियों को लेकर संगम की ओर बढ़ना चाहते हैं। वे उस सत्याग्रह में शामिल हो गए। इसी महीने में अचानक गांधी जी यरवदा जेल में सख्त बीमार हो गए और उन्हें पथरी के ऑपरेशन के लिए अस्पताल भेज दिया गया। इस समाचार ने सारे देश को क्षुब्ध कर दिया। सब परेशान थे तथा दम साधे समाचारों का इंतजार कर रहे थे। ऑपरेशन उनका सफल रहा। देश और नेता के ऊपर से संकट टल गया। देशवासियों की टोलियां अपने प्यारे नेता को देखने के लिए पूना पहुंचने लग गई। वे उस समय तक अस्पताल में गारद के पहरे में थे, किन्तु कुछ मित्रों को उनसे मिलने की आज्ञा दे दी गई थी। जवाहरलाल नेहरू अपने पिता के साथ गांधीजी से अस्पताल में ही मिले। इसी बीमारी ने उन्हें काफी दुर्बल कर दिया था। सरकार ने उनकी बाकी सजा माफ कर दी। वे 5 फरवरी, 1924 ई॰ को छोड़ दिए गए। वे मार्च में स्वास्थ्य लाभ हेतु बम्बई के सागर के किनारे जुहू चले गए।

पं॰ मोतीलाल नेहरू का परिवार भी जुहू के छोटे से बंगले में आ गया। गांधी जी के पास रहकर पिता–पुत्र देश की समस्याओं पर विचार–विमर्श करना चाहते थे। गांधी जी को पं॰ मोतीलाल नेहरू स्वराजी लोगों की विचारधारा से अवगत करना चाहते थे ताकि वे उनका निष्क्रिय सहयोग तो पा सकें। पर उसमें पं॰ मोतीलाल नेहरू को कोई सफलता नहीं मिली। गांधी जी के साथ उनका कोई समझौता न हो सका। उधर जवाहरलाल नेहरू भी देश की कुछ समस्याओं का समाधान गांधी जी से कराना चाहते थे और आगे के कार्यक्रम के विषय में अवगत होना चाहते थे। लेकिन गांधीजी तो वर्तमान के विषय में चिन्तित थे, भविष्य के विषय में अस्पष्ट रहे। उनका कहना था कि धैर्य के साथ हमें लोगों की सेवा का काम करते रहना चाहिए। कांग्रेस के रचनात्मक और समाज सुधार के कार्यक्रम को पूरा करना चाहिए और लड़ावूफ काम के समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसमें जवाहरलाल नेहरू की शंका का समाधान न हो सका और वे कुछ हद तक निराश होकर जूहु से लौट आए। जब से गांधीजी ने भारत के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण किया था, तब से जनता की दृष्टि में उनकी लोकप्रियता कम नहीं हुई थी अपितु बढ़ती रही थी।

मगर शिक्षित वर्ग में वह घटती—बढ़ती रहती थी। जब उसमें आगे बढ़ने का उत्साह आता तो वह उनके पीछे—पीछे चलने लगता, लेकिन जब इस उत्साह की आवश्यक प्रतिक्रिया होती, तो वह टीका—टिप्पणी करने लग जाता। इतने पर भी इस वर्ग के ज्यादा लोग गांधीजी के समर्थन में सिर झुकाया करते थे। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके समक्ष कोई दूसरा कारगर कार्यक्रम नहीं था। कुछ दिनों के राजनैतिक मतभेद के पश्चात् सन् 1924 ई॰ के मध्य में पं॰ मोतीलाल नेहरू और गांधीजी में पुनः पुराने संबंध स्थापित हो गए और बढ़ते—बढ़ते वे पहले से भी अधिक घनिष्ठ हो गए। दोनों के अन्तःकरण में एक दूसरे के लिए आदर था।

वे गांधीजी को संत अथवा महात्मा के रूप में नहीं अपितु मानव के रूप में आदर करते थे। वे स्वयं दृढ़ संकल्पी होने के कारण गांधी जी के आत्मिक बल की प्रशंसा करते थे। वे कहा करते थे कि कृश देह वाले उस छोटे से व्यक्ति के भीतर कोई वस्तु इस्पात की बनी हुई है, कोई वस्तु चट्टान जैसी है, जो प्रबल से प्रबल, शक्ति के सम्मुख भी नहीं झुकती। अपनी प्रभावहीन आकृति, अपनी छोटी धोती और अपनी नंगी देह के बावजूद उसमें एक राजसीपन था, जिसके सामने सभी लोग स्वेच्छा से नतमस्तक होते थे। वह जान बूझकर नम्र और विनीत बना रहता था, फिर भी उसमें बल और अधिकार था। इस स्थिति में वह पूरी तरह भिज्ञ था और कभी—कभी तो एक सम्राट के जैसे आदेश दिया करता था, जिसका पालन करना आवश्यक था। उसकी शांत गहरी आंखें लोगों को अपनी ओर खींच लेती थीं और शनैः शनै उनके अन्तःस्थल में प्रवेश कर जाती थीं। उनकी निर्मल वाणी लोगों के हृदय को छू जाती थी और उनमें भावुकतापूर्ण समर्थन की भावना प्रबल कर देती थी। उसके श्रोताओं की संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, उसका आकर्षण उन तक पहुंच जाता था और हर व्यक्ति के हृदय में उसके प्रति आत्मिक सम्पर्क की भावना प्रबल हो जाती थी। इस भावना का मस्तिष्क से बहुत ही कम संबंध था; चूंकि गांधीजी लोगों के मस्तिष्क को आकर्षित करने की जरूरत की बिल्कुल अवहेलना नहीं करते थे। उनकी भाषा हमेशा सरल और विषय संगत होती थी। लोगों को जो वस्तु जकड़ लेती थी वह थी उनकी अतिशय सच्चाई और उनका व्यक्तित्व। उनमें एक महत्वपूर्ण गुण यह भी था

कि वे अपने विरोधियों को जीत लेते अथवा उन्हें निःशस्त्र कर देते थे। गांधी जी द्वारा, 1924 में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया। इसमें गांधीजी ने जिन्ना, श्रीमती एनीबेसेंट, पं॰ मोतीलाल नेहरू और चिन्तामणि आदि नेताओं को भी निमंत्रित किया था। इस सम्मेलन का उद्देश्य था कि सर्वमान्य राजनैतिक मंत्र की संभावना का पता लगाया जाए एवं सरकार के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाए। इसी महीने में जवाहरलाल नेहरू की पत्नी श्रीमती कमला नेहरू ने अस्वस्थ अवस्था में एक पुत्र को जन्म दिया जो ज्यादा दिन तक जीवित न रह सका। इसके उपरांत तो श्रीमती कमला नेहरू का स्वास्थ्य और भी गिर गया। पत्नी की ओर से चिंतित रहते हुए भी जवाहरलाल नेहरू ने सार्वजनिक तथा कांग्रेस के कार्यों में कोई कमी नहीं आने दी थी। बेलगांव में 1924 ई॰ के दिसम्बर महीने में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और गांधीजी उसके अध्यक्ष थे। दीर्घ बहस के पश्चात् गांधीजी और दास–मोती गुट में समझौता हो गया। उन्होंने स्वराजियों से अपनी पटरी बैठा ली। असहयोग आंदोलन का स्वागत और स्वराज्य पार्टी को कांग्रेस का अंग माना गया। स्वराज्य पार्टी को यह छूट दे दी गई कि वह धन इकट्ठा करके उसका अलग हिसाब रखे। इस कांग्रेस अधिवेशन में उसको मान्यता दे दी गई। लेकिन जवाहरलाल नेहरू अन्य अपरिवर्तनवादियों के जैसा ही गांधी जी के सोचने–विचारने के तरीके से उलझन में थे। उन्हें गांधी जी का अध्यक्ष की हैसियत से दिया गया भाषण भी पसंद नहीं आया था। उससे उन्हें जरा भी स्पूफर्ति नहीं मिली थी। अधिवेशन की समाप्ति पर वे गांधी जी के कहने पर फिर अगले साल के लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के कार्यकारी मंत्री चुन लिए गए। वे इस प्रकार अपनी इच्छाओं के खिलफ कांग्रेस के स्थायी मंत्री बनते जा रहे थे। फिर भी उन्हें गांधी जी को समझने में कई वर्ष व्यतीत हो गए मगर अपने दृष्टिकोण को उनके अनुसार नहीं बना सके। परिणामतः विभिन्न प्रश्नों पर उनके गांधजी के साथ मतभेद बने रहे थे। स्वतंत्रता संघर्ष के उद्देश्य और आदर्श उनकी नजर में स्पष्ट नहीं थे। वे गांधीवादी रहस्यवाद की उलझन एवं अघोषित उद्देश्यों की खोज को साम्प्रदायिकता के उभरने की वजह मानते थे। वे ऐसा महसूस करते थे कि राष्ट्रीय भावना को जगाने के साथ साम्प्रदायिक भावना उमड़ पड़ती थी।

उस समय की यह स्थिति थी कि मस्जिद के समक्ष बाजा बजने पर मुसलमान झगड़े के लिए तैयार हो जाते थे और हिन्दू गो–वध का विरोध किया करते थे। फिर भी उन्हें सामाजिक तथा आर्थिक उद्देश्यों के आधार पर एकता स्थापित करने में सफलता मिली। उन्हें लोग अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति का हामी और राष्ट्रीय मुसलमान मानने लग गए थे। मौलाना आजाद के साथ मिलकर पं॰ मोतीलाल नेहरू ने 'इण्डियन नेशनल यूनियन' की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य धार्मिक स्वतन्त्रता, सहिष्णुता और राष्ट्रहित के पक्ष का प्रचार करना था। फिर भी साम्प्रदायिक नेताओं पर इसका प्रभाव नहीं पड़ा।

पुत्र के समान ही पिता को भी 'राष्ट्रीय मुसलमान' की पदवी दे दी गई इस पर भी एकता सम्मेलन ज्यादा प्रसिद्ध रहा जो सन् 1924 ई॰ में मौलाना मुहम्मद अली ने कांग्रेस के प्रधान की हैसियत से बुलाया था, और गांधी जी के इक्कीस दिन के अनशन के मौके पर दिल्ली में हुआ था। इसमें बहुत से भले और सच्चे व्यक्ति सम्मिलित हुए थे। उन्होंने समझौता करने की काफी कोशिश की। कुछ अच्छे प्रस्ताव भी पास किए लेकिन वास्तविक मसला हल हुए बिना ही रह गया। इसकी वजह थी कि किसी न किसी दल के कट्टर लोगों का समर्थन न मिल पाना। राजनैतिक कार्य के लिए जवाहरलाल नेहरू ने सार्वजनिक कोष से कोई भी पैसा लेने का प्रस्ताव त्याग दिया था। अगर वे चाहते थे, तो अच्छे वेतन पर कोई भी नौकरी करके आर्थिक समस्या का समाधान कर सकते थे। इससे ध्यान बंटने का भय और समझौते की शंका उन्हें मुश्किल में डाले हुए थी। इस उलझन से निकलने के लिए उन्होंने गांधीजी से सलाह मांगी। 15 दिसम्बर, सन् 1924 को गांधीजी पत्र लिखा, '...क्या मैं तुम्हारे लिए कुछ पैसे का प्रबंध करने की कोशिश करूं? आखिर तुम कोई ऐसा काम क्यों नहीं कर सकते, जिसमें तुम्हें मेहनताना मिले? इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने पिता के घर में रहते हुए भी तुम खुद मेहनत करके अपनी रोजी कमा सकते हो? क्या तुम किसी अखबार के संवादादाता होना चाहोगे या प्रोफेसरी करोगे?' जवाहरलाल नेहरू के मानस पटल पर इस पत्र का क्या प्रभाव पड़ा, कुछ स्पष्ट नहीं की सकता। लेकिन वे अपने काम में और भी जोर–शोर से जुट गए। उधर इस साल के अंत तक दास और पं॰ मोतीलाल नेहरू के तहत स्वराज पार्टी को हर दिशा में सफलता मिल चुकी

थी। दास उसके अध्यक्ष थे और पं॰ मोतीलाल नेहरू प्रधानमंत्री। इन दोनों को एक दूसरे के ऊपर इतना अधिक विश्वास था कि इनमें से कोई भी पहले आपसी सलाह के बिना दूसरे के नाम का प्रयोग किसी भी बयान अथवा घोषणा के लिए कर सकता था। मगर इनकी यह साझेदारी दास के इस संकल्प से कि वे बंगाल में नए संविधान का लागू होना असम्भव बना देंगे, समाप्त हो गई।

दास ने अपने लक्ष्य की पूति हेतु जिस तीव्र गति से कार्य किया, वह इनके स्वास्थ्य को ले बैठा। अस्वस्थता की स्थिति में भी ये एक बार स्ट्रेचर पर लेटकर कौंसिल भवन में जाने के लिए तैयार हो गए थे। कलकत्ता में पं॰ मोतीलाल नेहरू दास से मिलने गए तो वे काफी गम्भीर स्थिति में पहुंच चुके थे। इन्होंने अपने कारनामों का वर्णन करते हुए कहा, '...मोतीलाल बंगाल में दोहरा शासन मिट चुका है।' पं॰ मोतीलाल नेहरू ने शीघ्र उत्तर दिया, '...हां, चित्रा, दोहरा शासन मिटा चुका है। लेकिन हमें इसकी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है।' सन् 1925 ई॰ की गर्मियों में पं॰ मोतीलाल नेहरू परिवार के साथ हिमालय में डलहौजी चले गए। कुछ दिनों पश्चात् जवाहरलाल नेहरू भी पिता के पास पहुंच गए। तब पिता–पुत्र ने डलहौजी से चम्बा तक की यात्रा की। जून के महीने में वे चम्बा में थे। यात्रा की थमान काफी थी। तभी एक तार मिला, पता चला कि देशबन्धु चितरंजनदास स्वर्गलोक सिधार गए थे।

इस दुःखद समाचार को पाकर काफी देर तक पं॰ मोतीलाल नेहरू शोक के भार से झुके बैठे रहे, उनके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। यह आघात उनके लिए बहुत ही निर्दयतापूर्ण था। मैंने इतना दुःखी होते हुए इन्हें कभी नहीं देखा था। वह व्यक्ति जो उनके लिए दूसरे सब लोगों से अधिक घनिष्ठ और प्यारा साथी हो गया था, अचानक उन्हें छोड़कर चला गया और सारा बोझ उनके कंधों पर छोड़ गया। वह बोझ वैसे ही बढ़ रहा था, वह तथा देशबन्धु दोनों ही उससे तथा लोगों की कमजोरियों से ऊब रहे थे। फरीदपुर कांप्रेंफस में देशबन्धु ने जो अंतिम भाषण दिया था; वह कुछ थके हुए से व्यक्ति के भाषण था। अगले दिन सुबह में ही जवाहरलाल नेहरू पिता के साथ चम्बा से चल दिए और पहाड़ों पर चलते–चलते डलहौजी पहुंचे, वहां

से कार द्वारा रेलवे स्टेशन पर, फिर इलाहाबाद और वहां से कलकत्ता के रवाना हो गए।

इसके पश्चात् तो पं॰ मोतीलाल नेहरू को अकेले ही स्वराज पार्टी के नेतृत्व का भार उठाना पड़ गया। लार्ड बरकन हैड ने तभी एक भाषण दिया, जिसमें कांग्रेस को संबोधित करते हुए उन्होंने धमकी एवं व्यंग्य की अपनी सुपरिचित शैली का सहार लिया था। उस भाषण के विषय में गांधीजी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्ति की, '...यह भाषण भारतीयों को इस बात का नोटिस है कि वे अपने घर को व्यवस्थित कर लें।' गांधीजी ने स्वराजियों को और भी ज़्यादा छूटें देकर कांग्रेस की दरार को अंतिम रूप से भर दिया था।

चार आना सदस्यता का विकल्प 'सूत–दान' को बना दिया था और स्वराज पार्टी कांग्रेस का न सिर्पफ अविभाज्य अंग बन गई थी, अपितु उसके राजनैतिक कार्यों का पूर्ण साधन बन गई। इस तरह कांग्रेस के भीतर स्वराजियों की विजय पूर्णतया हो गई थी। वे लोग तीन वर्षों में ही कांग्रेस में अधिकार करने में समर्थ हो गए थे। वास्तव में उन्होंने गांधीजी के प्रतिरोध को झेलने में भी सफलता प्राप्त कर ली थी, लेकिन गांधीजी ने आधे मन से ही विरोध किया था। उन्होंने डॉ॰ अंसारी को नवम्बर मास में लिखे इस पत्र में स्वराज पार्टी से संबंधित विचार व्यक्त किए थे, '...स्वराजियों को मैं यह विश्वास नहीं दिला सका था कि कौंसिल प्रवेश एक भूल है और अब जब मैंने यह देखा कि मेरे सबसे अच्छे दोस्त और सहयोगी स्वराजी हो गए हैं, मैंने यह समझ लिया कि दूसरी राजनैतिक पार्टियों के विरोध में मुझे उनका साथ देना ही पड़ेगा। इन्हीं दिनों श्रीमती कमला नेहरू का स्वास्थ्य काफी गिर गया। चिकित्सकों ने उनकी देह का निरीक्षण करके क्षय रोग की पुष्टि कर दी। तभी राष्ट्रीय नेता डॉक्टर एम॰ ए॰ अंसारी से उनके स्वास्थ्य के विषय में सलाह ली गई तो उन्होंने सलाह दी कि श्रीमती कमला नेहरू को उपचार के लिए जेनेवा सेनटोनियम ले जाया जाए। जवाहरलाल नेहरू ने इसके लिए गांधीजी से विचार–विनिमय किया। वे डॉ॰ अंसारी के कथन से सहमत थे। श्रीमती कमला नेहरू उन दिनों उपचार के लिए लखनऊ के एक अस्पताल में भर्ती थीं। इसी वर्ष कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था।

जवाहलाल नेहरू काफी ज्यादा व्यस्त थें। उन्हें कांग्रेस के प्रधानमंत्री की हैसियत से इलाहाबाद, लखनऊ और कानपुर के मध्य यात्रा करनी पड़ रही थी। उन दिनों विदेश जाने हेतु पासपोर्ट मिलने में बाधा सामने आई। उन्होंने यह शर्तनामा भरने से इंकार कर दिया कि वे अपने यूरोप यात्रा में राजनीति से दूर रहेंगे।

9

नेहरू एवं विश्व की शासन प्रणालियाँ

मार्क्सवाद

जवाहरलाल नेहरू मार्क्सवाद और सोवियत रूस में उसके व्यावहारिक प्रयोग से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। उन्होंने कार्ल मार्क्स की पिछड़े वर्गों के मसीहा के रूप में प्रशंसा की। सन् 1936 में अपने एक अंग्रेजी मित्र को उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "हो सकता है कि मार्क्स इतिहास की एक भौतिकवादी अथवा आर्थिक व्याख्या पर आवश्यकता से अधिक जोर देते हों। शायद उन्होंने ऐसा इसलिए किया था कि इसकी व्यापक अवहेलना की गई है अथवा कम से कम उस पर तब तक बहुत कम ध्यान दिया गया था।ट किंतु मार्क्स ने घटनाओं के निर्माण में अन्य कारकों के प्रभाव से कभी भी इंकार नहीं किया है। उन्होंने आर्थिक कारक पर सबसे अधिक जोर दिया है। यह जोर दिया जाना अगर कुछ अधिक था तो इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। मेरे विचार से, यह तथ्य है, कि इतिहास की उनकी व्याख्या ही एकमात्र ऐसी व्याख्या है जो किसी हद तक इतिहास की व्याख्या करती है और उसे अर्थ प्रदान करती है। वह हमें वर्तमान को समझने में सहायता देती है और यह एक अत्यंत आश्चर्य की बात है कि उनकी भविष्यवाणियों में से कितनी अधिक सत्य सिद्ध हुई हैं।

इस तरह इतिहास दार्शनिक नेहरू ने मार्क्स के इतिहास की व्याख्या का मोटे तौर से समर्थन किया है और यह माना है कि इतिहास की व्याख्या

में आर्थिक और भौतिक कारकों को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे मार्क्स तथा लेनिन के हर एक विचार को मानने के लिए तैयार थे। उन्होंने रूस में होने वाली हर घटना का समर्थन किया यद्यपि वे सोवियत रूस के प्रयोगों से अत्यंत प्रभावित थे। वे भी लाभ की प्रेरणा का उन्मूलन करके सामाजिक पुनर्निर्माण करना चाहते थे। लेकिन उन्होंने अन्य राजनीतिक वादों के समान मार्क्सवाद की भी निष्पक्ष आलोचना की। वे गाँधीजी के संपर्क से भी मार्क्स की साध्य साधना की धारणा से दूर हटे। उन्हें यह मालूम था कि सोवियत रूस साम्यवादी राज्य के लाभ–हानि का एक उदाहरण है लेकिन वे रूस की सफलता और असफलता को मार्क्सवादी सिद्धांतों की आलोचना नहीं मानते थे। उन्होंने कहा था कि हमें यह याद रखना चाहिए कि सोवियत रूस ने अनेक बातों में गलती की है और अत्यधिक हिंसा, अवसरवाद और सर्वसत्ताधिकार की सहायता ली है। हमें उनसे मैत्री स्थापित करनी चाहिए किंतु उनके आक्रामक व्यवहार से दूर रहना चाहिए।

फेबियनवाद

जवाहरलाल नेहरू पूर्व तथा पश्चिम के विभिन्न देशों में सरकार के विभिन्न प्रकार के स्वरूपों का व्यक्तिगत अनुभव होने के कारण सरकार के विभिन्न प्रकारों के विषय में महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं। शुरू में वे फेबियन समाजवाद से प्रभावित थे और रूसी समाजवाद पर सिडनी वेब के ग्रंथ को सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण ग्रंथ मानते थे। लेकिन क्रमशः उन्होंने देखा कि फेबियनवादी श्रमिकों को संपत्ति नहीं सौंपना चाहते इसलिए नेहरू ने उन्हें, 'प्रगतिशील उदार बुद्धिवादी' कहा है।

सिंडिकेटवाद

सिंडिकेटवादी राज्य का उन्मूलन के समर्थक हैं। वास्तव में अराजकतावाद और सिंडिकेटवाद में काफी अंतर है। ये दोनों ही राज्य का उन्मूलन चाहते हैं किन्तु अराजकतावाद राज्य के कार्यों को स्वायत्त समितियों को सौंप देता है जबकि सिंडिकेटवाद ने भिन्न–भिन्न प्रकार व्यवसायों के संगठनों को राज्य को कार्य सौंप दिए जाने की सलाह दी है। जवाहरलाल नेहरू व्यवसायों के

संगठनों ओर स्वायत्त समितियों का महत्व मानते हैं और उनको ज्यादा से ज्यादा प्रोत्साहित करने पर जोर देते हैं किंतु वे यह नहीं मानते कि राज्य का पूरी तरह उन्मूलन किया जा सकता है।

अराजकतावाद

अराजकतावाद समाजवाद के अनुसार राज्य एक अनावश्यक बाधा है और उसका उन्मूलन किया जाना चाहिए तथा राज्य के भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य स्वायत्त संस्थाओं के द्वारा किए जाने चाहिए। जवाहरलाल नेहरू ने यह माना है कि मूल रूप से अराजकतावादी ऐसा दर्शन प्रस्तुत करते हैं जो अनेक श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपील करता है लेकिन एक यथार्थवादी विचारक होने के नाते वे यह नहीं मानते कि राज्य का उन्मूलन किया जा सकता है। 17 जुलाई, 1950 ई. को बनारस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, "मैं सामाजिक न्याय में भारी आस्था रखता हूँ परंतु मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि कोई भी राज्य अथवा समाज की संरचना जहाँ पर व्यक्तिगत स्वतंत्रताएं दबाई जाती हैं और उनको आगे बढ़ने का अवसर नहीं दिया जाता वह राज्य अथवा समाज अंत में पतन की ओर जाएगा और लंबे काल में समाप्त हो जाएगा।"

जनतंत्र

समाजवादी होने के साथ–साथ जनतंत्र के भारी समर्थक थे। संविधान परिषद् में बोलते हुए उन्होंने कहा था, "हमारा लक्ष्य एक जनतंत्र और जनतंत्र से कम कुछ भी नहीं है। आधुनिक काल के जनतंत्रों ने विश्व की प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हम एक तथाकथित जनतंत्रीय देश की जनतंत्रीय प्रणाली का अनुकरण मात्र करने नहीं जा रहे हैं। हम जनतंत्र के समर्थक हैं और इसलिए हम जनतंत्रीय संविधानों पर उन्नति कर सकते हैं, तनतंत्र पूर्ण जनतंत्र को शक्ल देना इस सदन पर निर्भर है।" जनतंत्र के लिए आवश्यक गुणों का उल्लेख करते हुए नेहरू ने बनारस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के सामने अपने भाषण में कहा था, "जनतंत्र अनुशासन, सहिष्णुता और परस्पर सम्मान मांगता है। जनतंत्र का अर्थ यह होना चाहिए कि सबको अवसर की समानता, जीवन की परिस्थितियों में आगे बढ़ने के अवसर की

समानता दी जानी चाहिए।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा था, "मेरा विश्वास है कि राज्य की समस्याओं के प्रति एक जनतंत्रीय दृष्टिकोण होना चाहिए, परंतु मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि सौ मूर्ख एक बुद्धिमान व्यक्ति से बेहतर होते हैं। जनतंत्रों में सदैव समस्याएं रही हैं किंतु फिर भी मैं जनतंत्रीय प्रक्रिया को मौका देना चाहता हूँ जिससे कि बुद्धिमान व्यक्ति को काम करने का अवसर मिले। मैं इस अवसर को लेना चाहता हूँ क्योंकि मूर्ख व्यक्ति जो कि केवल मूर्ख ही नहीं होते बल्कि दुष्ट भी होते हैं, यदि सत्ता पर अधिकार कर लें तो वे अन्य लोगों को काम करने की अनुमति नहीं देते हैं।

समाजवाद

नेहरू राजनीतिक वादों में समाजवाद के समर्थक हैं तथा स्पष्ट तौर पर स्वयं को समाजवादी कहा है। नेहरू ने सन् 1929 में लाहौर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा था, "मुझे स्पष्ट रूप से यह मान लेना चाहिए कि मैं एक समाजवादी और एक जनतंत्रवादी हूँ और राजाओं अथवा राजकुमारों अथवा उस व्यवस्था में विश्वास नहीं करता जो कि आधुनिक उद्योग को राजा उत्पन्न करती है, जिनके पास मनुष्यों की जिंदगियों और किस्मतों पर उससे कहीं अधिक ताकत है जितनी कि पुराने कुलीनवादी राजाओं के पास थी।" लखनऊ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से बोलते हुए नेहरू ने कहा था, "मेरे लिए समाजवाद केवल एक अनुकूल आर्थिक सिद्धांत मात्र नहीं है, वह एक ऐसा जीवित मत है जिसको मैं अपने समस्त मस्तिष्क और हृदय से समर्थन करता हूँ। नेहरू ने 8 जुलाई, सन् 1945 को पुनः भारत की असंख्य आर्थिक समस्याओं के सुझाव के रूप में समाजवाद का समर्थन किया था। उन्होंने सन् 1950 को बनारस में विद्यार्थियों की सभा में बोलते हुए अपने को स्पष्ट रूप से समाजवादी कहा था।

नेहरू के समाजवाद के विकास के विषय में जॉन गन्धर ने लिखा है, "समाजवाद पर उनके विचार मूर्त रूप लेते गए और क्रमशः उनके राष्ट्रवाद में समा गए। उन्होंने भारतीय समस्याओं को ब्रिटिश राष्ट्रवाद और विद्रोही राष्ट्रवादियों के मध्य संघर्ष के रूप में देखना आरंभ किया। उन्हें यह विश्वास

हो गया कि एक पूंजीवादी विकास तथा तर्कपूर्ण राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से संघर्ष किया जाना चाहिए। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का एक तर्कपूर्ण विरोधी केवल राष्ट्रवादी नहीं बल्कि एक समाजवादी भी होना चाहिए।" नेहरू की यह मान्यता थी कि भारत की समस्याओं का एकमात्र सुलझाव समाजवाद है। वह केवल भारत की समस्याओं का ही नहीं अपितु विश्व की समस्याओं का भी हल है। देश की सभी समस्याओं का उन्होंने वैज्ञानिक अध्ययन किया और घटनाओं का विश्लेषण करके साध्य साधनों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए। समाजवाद की तरफ उनका दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण था लेकिन वे समाजवाद को सिर्फ आर्थिक सिद्धांत के रूप में नहीं अपितु एक जीवन–दर्शन के रूप में, सभ्यता के एक नए आयाम के रूप में मानते थे।

इस तरह उन्होंने समाजवाद की सर्वांग व्याख्या की है जिसमें नैतिक, समाजिक और आर्थिक सभी पहलू सम्मिलित हैं। सन् 1929 में लाहौर कांग्रेस के अधिवेशन में भाषण देते हुए नेहरू ने कहा था, "हमें यह महसूस करना चाहिए कि समाजवाद का दर्शन क्रमशः समाज के संपूर्ण ढांचे में, समस्त विश्व में समा गया है" और मतभेद के एकमात्र बिंदु उसके पूर्ण साक्षात्कार की गति और विधियां हैं। इस प्रकार जवाहरलाल के अनुसार समाजवाद के विभिन्न पहलू हैं किंतु लक्ष्य एक है, यह उद्देश्य है समाजवादी राज्य की स्थापना। लेकिन इसके लिए वे गाँधीवादी सिद्धांतों का समर्थन करते हैं।

नेहरू का दृष्टिकोण समाजवाद के साथ–साथ जनतंत्र की तरफ भी विवेचनात्मक और वैज्ञानिक था। वे जनतंत्र को मूर्खों के शासन के स्थान पर बुद्धिमानों का शासन बनाना चाहते थे। जनतंत्र के नाम पर उन्होंने अनुशासनहीनता की आलोचना की। वे एक क्षण के लिए यह मानने को तैयार नहीं थे कि जनतंत्र का अर्थ यह होता है कि लोग अपनी मनमानी करें। उन्होंने कहा था, "जनतंत्रीय सिद्धांत सुविधा पर आधारित नहीं है जिनको किसी भी व्यक्ति की हक पर आधारित किया जाए। मैं जनतंत्रवादी नहीं हूँ यदि इसका अर्थ मेरे निर्णय को किसी भीड़ के प्रति समर्पित कर देना होता है तो इस जनतंत्र को भाड़ में जाने दो। मैं इस तरह की मनोवृत्ति जब कभी भी वह सिर उठाएगी उससे लड़ूंगा।" इस तरह जहाँ एक ओर नेहरू ने

जनतंत्र का समर्थन किया है वहाँ दूसरी ओर उसकी बुराइयों से भी आगाह किया है। उन्हें मूर्खता से नफरत थी और इसलिए कभी–कभी सदन में व्यर्थ की आलोचनाओं और प्रतिरोधों से वे क्षुब्ध हो उठते थे। वे जनतंत्र को बुद्धिमान व्यक्तियों का शासन बनाना चाहते थे जिसमें अनुशासन, सहिष्णुता और आपसी सम्मान हो तथा सार्वजनिक मामलों में समझाने–बुझाने और सहमति से काम लिया जाए। उनका कहना था कि जनतंत्र में सरकार के अन्य रूपों की तुलना में जनता के अधिकारों की ठीक ढंग से रक्षा होती है। उन्होंने समानता, स्वतंत्रता और न्याय के अधिकारों का सूक्ष्म विवेचन किया है और उनके महत्व पर ज़ोर दिया है। स्वतंत्रता के साथ–साथ जनतंत्र में समानता भी आवश्यक है। नेहरू ने यूरोप से लौटने पर सन् 1928 में इलाहाबाद में कहा था, "आज हम एक ऐसा समाज देखते हैं जिसमें कि मनुष्य–मनुष्य में भारी भेद है। एक ओर विशाल समृद्धि तो दूसरी ओर अत्यंत दरिद्रता दिखाई देती है। कुछ लोग कुछ न कुछ काम न करते हुए भी भोग–विलास का जीवन व्यतीत करते हैं, जबकि अन्य सुबह से शाम तक काम करके बिना किसी आराम और अवकाश के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को भी प्राप्त नहीं कर पाते। यह ठीक नहीं हो सकता...यह न्याय का निषेध है...प्रत्येक पुरुष और स्त्री को अपनी योग्यता के अनुसार सर्वोत्तम रूप से विकसित होने का अवश्य अवसर मिलना चाहिए। सम्मान और श्रेष्ठता, योग्यता और कठोर परिश्रम से आने चाहिए, जाति, जन्म अथवा धन से नहीं। हममें से प्रत्येक को दूसरों को अपने भाई मानना चाहिए, न ऊँचे न नीचे, और न पूजा के योग्य और न नफरत के लायक, बल्कि समान रूप में समान अधिकारों के साथ हमारे साथ इस देश के समस्त उत्पादनों में समान रूप से हिस्सा लेने वाले।"

नेहरू ने समानता में किसी भी तरह के भेद–भाव को स्वीकार नहीं किया। उनका मानना था कि जहाँ कहीं असमानता और भेद–भाव है वहीं शोषण और न्याय, पाप और असत्य है। उन्होंने गाँधीजी की मृत्यु पर कहा था, "हमें यह याद रखना चाहिए कि भारत उन सबके लिए एक सामान्य घर है जो कि यहाँ पर रहते हैं चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों। वे सब हमारी विरासत में बराबर का हिस्सा रखते हैं और उनके समान अधिकार और कर्त्तव्य हैं।" इसके कुछ दिन बाद इलाहाबाद में अपने भाषण में उन्होंने

कहा था, "भारत में हमें सभी मनुष्यों को उनके धर्म का विचार किए बिना समान अधिकार देने चाहिए और हमें मनुष्यों की समानता को बाकी की दुनिया में भी फैलाना है।" समाज पर जोर देने के कारण ही जवाहरलाल नेहरू प्रजातिवाद और सांप्रदायिकता के घोर विरोधी थे। उन्होंने अल्पसंख्यकों के मत का तीव्र समर्थन किया। उनका कहना था किसी भी जनतंत्र में अल्पसंख्यकों के मत की सुरक्षा अत्यंत आवश्यक है। जनतंत्र का अर्थ अल्पसंख्यकों के अधिकारों और हितों के लिए सुरक्षा के उपयुक्त कदम उठाना है।

नेहरू के शब्दों में, "अल्पसंख्यकों को पूर्ण सुरक्षा दी जानी चाहिए और जहाँ पर इसकी कमी है वहाँ हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम यह देखें कि ऐसा किया जाए। हमें अपने अल्पसंख्यक समूहों को पूर्ण सुरक्षा देनी चाहिए। आत्मसम्मान और राष्ट्रीय सम्मान दोनों के लिए ही इसकी आवश्यकता है।" अंत में इतिहास की व्याख्या पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में समानता की धारणा को स्पष्ट करते हुए नेहरू ने जो शब्द कहे हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि उनकी समानता की धारणा मानववादी दर्शन का आधार है। उनके अपने शब्दों में, "समानता का अर्थ यह नहीं है और न ही हो सकता कि प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक रूप से समान है या बनाया जा सकता है। परंतु इसका यह अर्थ होता है कि सबको समान अवसर दिए जाएं और किसी भी व्यक्ति और समूह के रास्ते में राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक बाधाएं न डाली जाएं। इसका अर्थ होता है मानवता में आस्था और यह विश्वास कि कोई भी प्रजाति अथवा समूह ऐसा नहीं है जो प्रगति नहीं कर सकता और अवसर मिलने पर स्वयं अपने तरीके से आगे नहीं बढ़ सकता। इसका अर्थ इस तथ्य का साक्षात्कार है कि किसी भी समूह का पिछड़ापन अथवा पतन आंतरिक कमियों की वजह से नहीं होता किंतु मुख्य रूप से अवसरों के अभाव और अन्य समूहों के द्वारा लंबे दमन के कारण होता है। इसका अर्थ आधुनिक दुनिया की एक समझ होना चाहिए जिसमें कि वास्तविक प्रगति और विकास होते हैं, चाहे वे राष्ट्रीय हों या अंतर्राष्ट्रीय, मिल-जुलकर काम होते हैं और इसके लिए पिछड़े समूह को आगे खींचना होगा।" अस्तु, न केवल सबको समान अवसर दिए जाने चाहिए बल्कि पिछड़े समूहों को शैक्षिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वृद्धि के

लिए विशेष अवसर दिए जाने चाहिए ताकि वे उनके समक्ष आ सकें जो उनसे आगे गए हैं। भारतवर्ष में सभी लोगों के लिए अवसर के दरवाजों को खोलने का कोई भी प्रयास विशाल शक्ति और योग्यता उत्पन्न करेगा और आश्चर्यजनक गति से देश का रूपांतर करेगा।

10

नेहरू एवं धर्मनिरपेक्षता

सबसे मुख्य बात यह है कि 'धर्मनिरपेक्षवाद' से क्या तात्पर्य हैं ? इसकी पाश्चात्य वर्णन क्या है ? हम किस आधार पर 'सर्व धर्म सम्भाव' की आध्यात्मिक और लौकिक रिवाजा का दावा कर सकते हैं ? यहाँ पर उस असीम वस्तु का ध्यान आ रहा है जो वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृति ग्रंथों में समाई हुई है। इसे बाद में रामानुजाचार्य, शंकराचार्य, बल्लभाचार्य, माधवाचार्य जैसे महान चिंतकों; ईसाई धर्म और इस्लाम के उद्‌भव; भक्ति आंदोलन और सूफी मत के उदय, नामदेव, ज्ञानदेव, तुकाराम, तुलसीदास, शेख फरीद, हजरत निजामुद्दीन औलिया, चिश्ती, नानक देव और परवर्ती गुरू जैसे मध्यकालीन संतों; सिख धर्म के उद्‌भव और सिख गुरूओं के योगदान से लेकर आधुनिक समय तक–रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, शिरडी के साईंबाबा नारायण गुरू और महात्मा गांधी ने दोहराया है। इसी प्रकार इस कालक्रम के समानांतर धर्म पर मौर्य सम्राट अशोक की राज्यनीति का प्रभाव, सम्राट अकबर की नीति, और इसी रिवाज में पंडित नेहरू द्वारा धर्मों के बारे में की गई राज्य नीति का वर्णन किया गया है। पंडित नेहरू ने भिन्न–भिन्न अवसरों पर इसे व्यक्त किया था, भारत के संविधान में इसका प्रबन्ध किया गया था और अदालतों ने इसका वर्णन किया था। ऐसी तथ्यपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध है जिसे लोग धर्मनिरपेक्षवाद और अल्पसंख्यकों के लिए पं॰ जवाहरलाल नेहरू के योगदान का मूल्यांकन करते समय निस्संदेह जाँचना चाहेंगे। इस परिप्रेक्ष्य में 1929 और 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

के अध्यक्ष पद से दिए गए पं॰ नेहरू के भाषण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। पं॰ नेहरू लाहौर अधिवेशन के विख्यात अध्यक्षीय भाषण में कहा था, "मैं हिंदुओं के नेताओं से निवेदन करना चाहूँगा कि उदारता में पहल करना उनका विशेषाधिकार होना चाहिए। उदारता केवल अच्छी सीख ही नहीं है, बल्कि ज्यादातर अच्छी राजनीति और ठोस औचित्य भी है। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि आजाद हिन्दुस्तान के हिंदू कभी लाचार भी हो सकते हैं। जहाँ तक मेरी बात है, मैं खुशी से अपने मुसलमान और सिख दोस्तों से कहना चाहूँगा कि बिना किसी हील–हुज्जत के जो कुछ वे मुझसे ले सकते हैं, और ले लें। मैं जानता हूँ कि वह समय भी आ रहा है, जब इन लेबलों और नामों का कोई मतलब नहीं रहेगा और हमारा संघर्ष आर्थिक आधार पर होगा।" अपने 1936 के अध्यक्षीय भाषण में पंडित जी ने कहा, "बहुसंख्यक लोगों से अल्पसंख्यकों का डर और शंका दूर करने के लिए, चाहे वह बेबुनियाद ही क्यों न हो, उदारता दिखानी चाहिए।" दिसम्बर, 1946 को संविधान सभा में उद्देश्यों का प्रस्ताव पेश करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया था तथा उन्होंने जो सूत्र स्वयं तैयार किए थे, उद्देश्यों का प्रस्ताव उन्हीं पर आधारित था। प्रस्ताव के खंड 5 में भारत के सब नागरिकों को, कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन धर्म, विश्वास, विचार, अभिव्यक्ति और उपासना की स्वतंत्रता की गारन्टी का वर्णन किया गया था। आकाशवाणी पर 15 अगस्त, 1947 को दिए गए भाषण में पंडित जी ने इसी गारन्टी का उल्लेख किया था। डॉ॰ अम्बेडकर द्वारा एक प्रस्ताव पेश किया था कि संविधान सभा द्वारा तैयार किया गया संविधान स्वीकृत किया जाए, इस प्रस्ताव पर उनका 8 नवम्बर, 1948 का भाषण इस विषय पर दूसरे नजरिये से योगदान करता है। 24 जनवरी, 1948 अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पंडित जी का भाषण उनकी कल्पना के पूरे संदर्भ का संकेत करता है। उस भाषण से एक संक्षिप्त उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है। उन्होंने कहा था, "भारत पहले की तरह ही अनेक धर्मों का देश होगा। सब धर्मों का समान रूप से सम्मान दिया किया जाएगा; लेकिन राष्ट्रीय दृष्टिकोण एक ही होगा। मैं उम्मीद करता हूँ कि यह राष्ट्रीयता संकीर्ण नहीं होगी और अपने तथा देश की जनता की प्रतिभा के भरोसे अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था कायम करने में अपनी भूमिका पूरी तरह अदा करेगी। हमारा अंतिम या परम लक्ष्य एक विश्व हो सकता है। उनके मन की

वास्तविकता को समझने का संकल्प भी समझना चाहिए। 7 अगस्त, 1950 को लोकसभा में दिए गए भाषण में उन्होंने कहा, ''जब पाकिस्तान के अल्पसंख्यक अपने आपको सुरक्षित नहीं महसूस करते और बहुसंख्यकों को विश्वास नहीं करते, तब तक वहाँ कुछ–न–कुछ गलत है। मैं भारत के लिए भी यही मापदंड प्रयोग करने को तैयार हूँ। जब तक भारत के अल्पसंख्यक अपने आपको सुरक्षित नहीं महसूस करते और बहुसंख्यकों का विश्वास करने को तैयार नहीं होते, तब तक यहाँ भी कुछ गलत है। हमें दोनों पक्षों का विचार करना चाहिए।'' संसद में एक सुझाव दिया गया था कि पहले के पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिम बंगाल में आबादी का बदलाव होना चाहिए। इस सुझाव का उत्तर देते हुए संसद में 9 अगस्त, 1950 को अपने भाषण में पंडित जी ने कहा, ''यदि हम अपने ही देशवासियों से कहें कि 'चूँकि तुम्हारा धर्म हमारे धर्म से अलग है। अतः हमें उन्हें देश से निकाल देना चाहिए'' तो इस प्रस्ताव पर अमल करने का अर्थ भारत की और इन उद्देश्यों की बर्बादी होगी, जिसका हमने समर्थन किया है, और अब भी कर रहे हैं। मैं फिर कहता हूँ कि हम पूरी ताकत से इस प्रस्ताव का विरोध करेंगे, घरों, बाजारों और खेतों में, हर जगह हम इसका विरोध करेंगे। हम कौंसिलों और गली–वूफचों में इसका विरोध करेंगे क्योंकि हम हिंदुस्तान को धर्मान्धता की बेदी पर बलि नहीं होने देंगे।''

फरवरी, 1959 को पंडित जी ने आज़ाद स्मारक भाषणमाला में दिए गए भाषण में, बहुत कम शब्दों में, भारत की धार्मिक परम्परा पर विचार किया और इस बात की जाँच की कि क्या आधुनिक युग में धर्म और विज्ञान के बीच किसी विभाजन की आवश्यकता है। उन्होंने कहा, ''भारत पर चार महान धर्मों का प्रभाव पड़ा है। इनमें से दो–हिंदू और बौद्ध–भारतीय चिंतन से ही उपजे हैं और दो–ईसाई धर्म तथा इस्लाम–विदेशों से आकर यहाँ स्थापित हुए हैं। आज धर्म की प्राचीन संकल्पना को विज्ञान चुनौती दे रहा है। लेकिन यदि धर्म का संबंध हठधर्मी और बाहरी आडंबर से न होकर जीवन के उदात्त तत्वों से है, तो इसका विज्ञान के साथ या अन्य धर्मों के साथ कोई विरोध नहीं करना चाहिए। इनमें मेल कराने में सहायता करना भारत के लिए सौभाग्य की बात हो सकती है। यदि ऐसा हुआ तो यह भारत की प्राचीन परंपरा के अनुवूफल होगा जो अशोक के फरमानों में अंकित है। पंडित जी ने कहा कि

सांप्रदायिकता पिछड़े हुए राष्ट्र की निशानी है, आधुनिक युग की नहीं।

जीवन के अंतिम कुछ महीनों में दिए गए भाषणों में से 29 मार्च, 1964 में एक भाषण में पंडित नेहरू ने कहा था, ''आज मैं आपसे ऐसी चीज़ के बारे में बात कर रहा हूँ, जो अन्य किसी भी चीज़ से अधिक महत्वपूर्ण है। भारत में अनेक संप्रदायों के लोग रहते हैं। जब तक हम आपस में मेल–मिलाप से, एक दूसरे के मत और आदत का सम्मान करते हुए नहीं रहेंगे, हम महान और अद्वितीय राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। हमें अपनी गौरवशाली विरासत की रक्षा करनी है। हम इसके विपरीत कुछ नहीं कर सकते।'' उन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष या प्रधानमंत्री के नाते अपने भाषणों में जो विचार व्यक्त किए, उसके अलावा उनके लेखों और पुस्तकों में, विशेषतः भारत एवं संसार के इतिहास से संबंधित पुस्तकों में काफी श्रोत हैं। इस श्रोत से पंडित जी की ऐतिहासिक संदर्भ की काफी ज्यादा विकसित अनुभूति का पता चलता है। उन्होंने भारत के राजकाज से संबंधित व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए इस अनुभूति की मदद ली। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में उद्देश्यों का प्रस्ताव पेश किया था। भारत का संविधान, अन्ततोगत्वा जिस रूप में लागू किया गया, उससे भारत के प्रधान मंत्री के नाते पंडित जी का गहरा संबंध था और वही उसके लिए उत्तरदायी थे। संविधान के भाग–III में धर्मनिरपेक्ष आदर्श को समुचित स्थान दिया गया था। मूल अधिकारों वाले भाग में, अनुच्छेद 25 में, अंतः करण की स्वतंत्रता और धर्म का पालन तथा प्रचार करने की स्वतंत्रता के अधिकार का प्रावधान है: अनुच्छेद 26 धार्मिक मामलों के प्रबंध की स्वतंत्रता के बारे में है। अनुच्छेद 27 नागरिकों को ऐसे टैक्स देने से बचाता है, जिसे प्राप्त धन किसी खास धर्म या धार्मिक संस्था को बनाए रखने या बढ़ावा देने लिए व्यय किया जाना हो। अनुच्छेद 28 में कुछ शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना की स्वतंत्रता का प्रबंध किया गया है। रोजगार के मामलों में समान अवसर और भेदभाव के विरूद्ध रक्षा का प्रावधान अनुच्छेद 16,17 और 29 में किया गया है। अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का अधिकार प्रदान करता है। अनुच्छेद 325 द्वारा अलग सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल खत्म कर दिए गए थे। व्यक्ति, राज्य, धर्म और पंडित जवाहरलाल नेहरू के बीच संबंधों का जिसका पहले उल्लेख किया गया था, उसे देश के बुनियादी

कानून अर्थात् संविधान में उचित स्थान दिया गया है। उनके लिए संस्कृति मन और आत्मा का विस्तार थी। मुझे उम्मीद है कि यह फोटो प्रदर्शनी आपको उस सुसंस्कृत व्यक्ति के जीवन के कार्यों की पूरी जानकारी प्रदान करेगी, जिसे हम ''भारत का सपूत' **कहने में** गर्व महसूस करते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरू को न तो किसी प्रकार के रूढ़िवादी धर्म में विश्वास था और न ही उसके आधारभूत सिद्धांत में । इस सम्बंध में उनके विचार वैज्ञानिक एवं तार्किक थे। वे अपने लेखन और वक्ताओं में भारतीय जनता को धर्म के नाम पर चले रहे कोरे प्रपंच और पाखण्ड से बचने का उपदेश तो देते ही थे; परन्तु साथ ही खुद धर्म के कुरीतियों अंधविश्वासों और कर्मकाण्डी आडम्बर की भी तीव्र निन्दा करते थे। धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक 'भारत का आविष्कार' में यह विचार स्पष्ट किया था, '...धर्म, जैसा कि मैंने उसे व्यवहार में तथा कई विचारशील व्यक्तियों द्वारा भी मान्यता पाते देखा—चाहे वह हिन्दुत्व हो या इसलाम, बौद्धमत हो या ईसाई धर्म, उसने मुझे आकर्षित नहीं किया। मुझे वह मिथ्यामूलक रीतियों और हठवादी विश्वासों से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध प्रतीत हुआ। मैंने देखा कि उसके पीछे जीवन की समस्याओं की ओर उन्मुख होने की एक ऐसी प्रणाली थी, जो निश्चय ही विज्ञान की प्रणाली नहीं थी। उसमें जादू और चमत्कार का एक तत्व था, बिना परीक्षण विश्वास करने और अति प्राकृत पर निर्भर रहने की एक प्रवृत्ति।''

वैसे तो धर्म का शाब्दिक अर्थ बहुत विस्तृत और सर्वग्राही है तथा मानव जीवन के लगभग सभी अंग उसके तहत जा जाते हैं। परन्तु मूलतः इसका सम्बन्ध कुछ ऐसे विषयों से माना जाता है, जो साधारण मानव की बुद्धि, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्थूल अनुभूति की परिधि से बाहर हों यथा आत्मा, परमात्मा उनकी प्रकृति और आपसी सम्बन्ध, मृत्युत्तर और पारलौकिक परिस्थितियां, सत्कर्म—दुष्कर्म और पाप—पुण्यादि की आपेक्षिक धारणाएं, आराधन तथा पूजापाठ की पद्धतियां और विश्वास, सबसे बढ़कर सृष्टि में एक पहले से निश्चित दैवी लक्ष्य की विद्यमानता सम्बन्धी आस्था इत्यादि। हम सबसे पहले आत्मा को ही लेते हैं। व्यक्तिगत आत्मा का अस्तित्व देह में हीं नहीं, बल्कि देह से अलग रूप में भी हैऔर उसकी अनश्वरता धर्म का एक मूलभूत

सिद्धान्त है, हालांकि अनात्मवादी धर्म भी हो सकता है, परन्तु जैसा कि बौद्ध धर्म के विषय में हुआ है, उसका चलन बहुत मुश्किल है।

उपर्युक्त कठन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका आत्मा सम्बन्धी मूल विचार हिन्दू रिवाजों से प्रभावित था; परन्तु उनका तर्क आत्मा को उसके सर्व स्वीकृत अर्थों में स्वीकारने में बाधक था। साथ ही, उसके पास इसके अस्तित्व से इंकार करने का भी कोई प्रामाणिक आधार नहीं था। वे इस विषय में तटस्थ रहने को महत्व देते थे, '...प्रधानतः मुझे इस दुनिया से दिलचस्पी है और इस ;लौकिकद्ध जीवन से, किसी दूसरी दुनिया या सम्भावित भावी जीवन से नहीं, आत्मा जैसी कोई वस्तु है या नहीं और मृत्यु के बाद व्यक्ति का कोई अस्तित्व रहता है, या नहीं, यह मैं नहीं जानता। और यद्यपि ये प्रश्न अपनी जगह पर महत्वपूर्ण हैं; परन्तु मुझे ये बिल्कुल उद्विग्न नहीं करते। जिस वातावरण में मैं पला–बढ़ा, उसमें आत्मा ;या आत्मन्द्ध को एक भावी जीवन को, कर्म सिद्धान्त को और पुनर्जन्म को अटल सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। मैं भी इससे प्रभावित हूं। इसलिए एक प्रकार से, मैं उन पूर्वाग्रहों के प्रति सहानुभूति रखता हूं। ... हो सकता है कि आत्मा जैसी कोई वस्तु हो, जो स्थूल शरीर के अवसान के बाद भी जीवित रहती हो। जीवन के कार्य को निर्धारित करने वाला कारणकार्य का सिद्धान्त भी पर्याप्त तर्क सम्मत जान पड़ता है, यद्यपि जब मूल कारण की कल्पना की जाती है, तो प्रकट कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार लिया जाए, तो पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी कुछ तर्क परिलक्षित होता है। ...मैं इन सिद्धान्तों या दूसरे सिद्धान्तों तथा पूर्व धारणाओं में किसी धार्मिक आस्था के अर्थ में विश्वास नहीं रखता। मेरे लिए ये सब एक अज्ञात क्षेत्र हे, जिसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अभी न होने के बराबर है, बौद्धिक अनुमान मात्र है। इसका मेरे जीवन पर कोई प्रभाव नहीं है और चाहे ये सिद्धान्त आगे चलकर सही साबित हों या गलत, मेरे लिए कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यहां यह बात दृष्टव्य है कि जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार आत्मा यदि है, तो फिर तत्सम्बन्धी हिन्दू धारणा ही सत्य होनी चाहिए। खुद उन्होंने इसे पूर्व संस्कारों का फल माना है। किन्तु यदि विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचारा जाए, तो एक बार आत्मा का अलग अस्तित्व स्वीकारने के बाद उसे किसी भी समय 'निष्क्रिय' नहीं माना जा सकता। यही वजह है कि वे यह नहीं कहते

कि आत्मा, यदि है तो, उसे किसी दूसरे कल्पित लोक में अथवा स्वर्ग या नरक में जाना चाहिए अथवा फिर किसी अशांत स्थान पर विश्राम करना चाहिए। उन्होंने परमात्मा के सम्बन्ध में भारत का अविष्कार कृति में ये विचार व्यक्त किए हैं, '...रहस्य क्या है, यह मैं नहीं जानता! मैं इसे ईश्वर नहीं कहता, क्योंकि ईश्वर के अर्थ में बहुत सी ऐसी बातें प्रविष्ट कर गई हैं, जिनमें मुझे विश्वास नहीं है। मैं अपने को एक बुद्धियुक्त आराध्यदेव या व्यक्ति रूप अज्ञात परम शक्ति की कल्पना करने में असमर्थ पाता हूं और यह तथ्य कि बहुत से लोग ऐसी कल्पना करते हैं, मेरे लिए निरन्तर आश्चर्य का कारण है। वैयक्तिक परमेश्वर सम्बन्धी धारणा मुझे बड़ी अनोखी जान पड़ती है। . ..ईश्वर का अस्तित्व यदि है, तो भी सर्वदा उसकी ओर देखते रहना अथवा उस पर निर्भर रहना वांछनीय नहीं है। पारलौकिक तत्वों पर अतिशय निर्भरता से मनुष्य में आत्मावलम्बन का अन्त हो सकता है, उसकी क्षमता और रचनात्मक योग्यता का "ास हो सकता है, और बहुधा हुआ है।''

जवाहरलाल नेहरू का दृष्टिकोण आत्मा–परमात्मा के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक है। इस प्रकार यह धर्म के विषय में उनके विचारों को निरूपित करने वाला कोई ठोस आधार नहीं है, न इस क्षेत्र में भिन्न–भिन्न धर्मों की अटकलों पर उन्हें कोई विशेष आपत्ति ही है। यदि लोगों को इन परिकल्पनाओं में कुछ सांत्वना मिलती है, तो वे उनसे सांत्वना की इस भावना को छीनने के लिए तत्पर नहीं है। उनकी यह उदारता नास्तिकों तथा धर्म विरोधियों के सामान्य आचरण से एकदम अलग–थलग है। वे इन अर्थों में धर्म विरोधी नहीं है। आराधना तथा पूजापाठ की प्रक्रियाओं के विषय में उनके विचार काफी सहानुभूतिपूर्ण हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे विभिन्न प्रकार की पूजा प्रक्रियाओं से समन्वित धार्मिक विधि को संकीर्णता का रूप देते हैं, इस पर भी किसी को उससे दूर करना उन्हें अच्छा नहीं लगता। उनका कहना है, ''...मनुष्य के लिए पत्थर पूजना मूर्खता है; लेकिन यदि किसी व्यक्ति को पत्थर पूजने से सांत्वना मिलती है और वह अपने सामान्य स्तर पर से ऊपर उठ जाता है, तो यह उसके लिए अच्छा है। यदि कोई भी चीज, जो व्यक्ति को उसके सामान्य स्तर से ऊपर उठा दे, उसके लिए अच्छी है।' जवाहरलाल नेहरू केवल तरह–तरह की पूजा प्रक्रियाओं के कारण ही धर्म के आलोचक नहीं थे और न ही किसी को इन प्रक्रियाओं से वंचित करना

उन्हें स्वीकार्य था। वे खुद प्रथागत धर्म की सत्यता में आस्था नहीं रखते थे; परन्तु इस 'सत्य' का सम्मान करने को वे सदा तत्पर थे कि विश्व में असंख्य लोग ऐसे धर्म को सत्य मानते हैं। व्यवहार में समस्त धर्मों के प्रति उनके समादार भाव का भेद इसी बुद्धिपरक उदारवादी दृष्टिकोण में है, न कि कोरी राजनीति या अवसरवादिता में जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। जवाहरलाल नेहरू के जरिए अन्य लोगों की धार्मिक प्रक्रियाओं का सम्मान कपटाचार मात्र नहीं था। वे सही अर्थों में लोगों की धार्मिक निष्ठा के प्रति श्रद्धा महसूस करते थे। यह मानव मात्र के प्रति उनकी श्रद्धा है, उसकी मानवता और उसकी धार्मिकता के प्रति। वे रूढ़ धर्म का नहीं, लोगों की धर्मनिष्ठता का सम्मान करते थे। इस नजरिये से वे किसी भी धर्म के अनुयायियों की पंक्ति में खड़े हो सकते थे, केवल दिखावे मात्र के लिए नहीं बल्कि हार्दिक श्रद्धाभाव से। वे एक साथ हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाई सब कुछ थे। यह एक ऐसे मानव का अद्भुत पर नीति सम्मत आचरण था, जो धर्म को मुख्य रूप से अज्ञान तथा अज्ञात भय का फल मानता था। निस्संदेह प्रागैतिहासिक तथ्य की दृष्टि से सच्चाई यही है कि और इसे उन्होंने बहुत समय पूर्व इन शब्दों में कहा गया था, "...धर्म, प्रारम्भ में, भय के रूप में आया, और जो बात भय के अन्तर्गत की जाती है, वह निश्चय ही बुरी है..आज भी बहुत से लोगों के निकट धर्म एक ऐसी चीज है, जिससे डरना उचित है। ये लोग अपना समय मंदिरों में भेंट चढ़ाकर यहां तक कि पशुओं की बलि देकर, कुछ कल्पित देवताओं के संतुष्टिकरण की चेष्टाओं में व्यतीत करते हैं। ...प्राचीन बर्बर मनुष्यों ने देवताओं और धर्म के संबंध में सोचना प्रारम्भ किया, क्योंकि वे बहुत–सी बातों को समझाने में असमर्थ थे और जिस बात को वे नहीं समझते थे, उससे डरते थे। उन्होंने हर वस्तु को एक देवता या देवी का रूप दे दिया। नदी, पहाड़, सूर्य, वृक्ष, पशु और कल्पित प्रेतात्माएं आदि। चूंकि वे भयग्रस्त थे, इसलिए वे सर्वदा यही सोचते थे कि उनके देवता उन्हें दण्ड देना चाहते हैं। उन लोगों की तरह उनके देवता भी कठोर और निर्दयी थे और वे लोग उन्हें प्रसन्न करने अथवा बलि देकर संतुष्ट करने की चेष्टा करते थे। वास्तव में आज के महान् सुसंस्थापित तथा सुसंगठित धर्मों में अस्पुफट धार्मिक भावना की उत्पत्ति संबंधी इस प्रागैतिहासिक तथ्य का आरोप नहीं किया जा सकता।

आज वफा धर्म केवल डर और अज्ञानता का ही फल नहीं है, बल्कि अपने–अपने समय के अनुसार कुछ महान् विचारकों की सूझ तथा सत्यान्वेषण का प्रतिफल भी है। जवाहरलाल नेहरू इस भेद से अवगत थे। इसलिए वे रूढ़िगत धर्म और उनके प्रवर्त्तकों के मध्य स्पष्ट विभेद करते थे। उनका कहना था कि इसमें कोई संदेह नहीं कि महान् धर्मों के संस्थापक विश्व के महत्तम तथा श्रेष्ठतम पुरुषों में से थे। यह कितनी अर्थपूर्ण बात है कि जवाहरलाल नेहरू धर्म से जितने उदासीन दिखाई देते थे, उतना ही वे इन धर्मों के प्रवर्त्तकों के प्रति आकृष्ट महसूस करते थे। यह मोहाकर्षण उन महामानवों की मानवता तथा व्यक्तिगत श्रेष्ठता के कारण है, न कि उनके किसी अलौकिक शक्ति के संदेशवाहक होने के नाते।

दृष्टव्य हैं उनके शब्द, "...धर्मों के कुछ प्रवर्त्तक आश्चर्यजनक व्यक्ति थे। परन्तु उनकी सारी कीर्ति मेरी दृष्टि में नगण्य होकर रह जाती है जब मैं उन्हें मनुष्य समझने की स्थिति में नहीं रहता। जिस बात से मैं प्रभावित एवं आशान्वित होता हूं, वह मानव की अपनी समझ और भावना की अभिवृद्धि है, न कि किसी दैवी संदेश को पहुंचाने के लिए एक माध्यम के रूप में उसका उपयोग...।

जवाहरलाल नेहरू ने अपने विचार बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध के विषय में व्यक्त किए है, '...बुद्ध के प्रति मैंने सदैव ही बड़ा आकर्षण अनुभव किया है। मेरे लिए इस आकर्षण का विश्लेषण करना कठिन है; लेकिन यह धार्मिक आकर्षण नहीं है, और न मुझे उन रूढ़ विश्वासों में ही कोई रुचि रही है, जो बौद्धमत के इर्द–गिर्द विकसित हुए हैं। इसी प्रकार ईसा मसीह का व्यक्तित्व भी मुझे बहुत आकर्षक लगा है। स्पष्ट है कि यदि धर्म प्रवर्तकों का जवाहरलाल नेहरू सम्मान करते थे, तो इसलिए नहीं कि उन्होंने किसी दैवी शक्ति से उत्प्रेरित होकर कुछ खास धार्मिक विचारधाराओं का सूत्रपात किया, बल्कि इस कारण कि वे अपने समय के मुख्य विचारक और युग पुरुष थे।

वे अपने समकालीनों में मानसिक और आध्यात्मिक रूप से काफी ऊंचे उठे और उन्होंने दूसरे लोगों को भी अपने साथ ऊपर उठाने का प्रयास किया। धर्म के प्रति जवाहरलाल नेहरू की खाज खण्डन प्रवृत्ति का मूल स्रोत

धर्म की प्रकृति के तीन अंगों में प्रमाणित था। वे तीन अंग थे—धर्म का तर्करहित दृष्टिकोण तथा यथार्थ से आंखें मूंदने की प्रवृत्ति, उसकी अपरिवर्तनीयता और उसके द्वारा प्रतिक्रियावाद, सुधार विरोध, संकीर्णहृदयता और सहिष्णुता का समर्थन और समाज में उसके दुरुपयोग की आसान संभावनाएं तथा इतिहास में उसकी कलुषित भूमिका।

जवाहरलाल नेहरू की स्थायी मनःस्थिति धर्म के इन तीन अंगों के वैज्ञानिक अध्ययन से रूढ़ धर्म संबंधी निरूपित हुई थी, खास तौर से अन्तिम दो अंगों से, ''...साधारण धार्मिक मनोवृत्ति इस दुनिया से अपना संबंध नहीं जोड़ती। मुझे लगता है कि वह स्पष्ट चिन्तन की विरोधिनी है; क्योंकि वह न केवल कुछ निश्चित और अपरिवर्तनीय सिद्धांतों और मतों की विवेक शून्य स्वीकृति पर आधारित है, बल्कि कोरी भावुकता, भावप्रणता और आवेश पर भी। ...वह जान बूझकर या बिना जाने यथार्थ की ओर से आंखें मूंद लेती है, इस भय से कि कहीं यथार्थ उसकी पूर्वकल्पित धारणाओं के प्रतिवूफल न हो। वह संकीर्ण है तथा अन्य धाराओं और विचारों के प्रति असहिष्णु। वह आत्मकेन्द्रित और अहंकारी है, और यह प्रायः ही विशिष्ट हित साधकों और अवसरवादियों के द्वारा अपने दुरुपयोग की खुली छुट्टी देती है। जवाहरलाल नेहरू की नजर में सुस्पष्ट चिन्तन रूढ़धर्म बौद्धिक जिज्ञासा और वैज्ञानिक अनुसंधान का बैरी है। वह मनुष्य को अज्ञानता और अन्धकार की ओर ले जाने वाला सबसे बड़ा साधन है। इसलिए ऐसा धर्म निश्चय ही छोड़ने योग्य है। धर्म पर उनकी बड़ी आपत्ति उसके सामाजिक नजरिये के कारण थी। धर्म सैद्धान्तिक रूप से चाहे कुछ कहे; पर व्यवहार में, वह सामाजिक परिवर्तन और प्रगति का समर्थक नहीं हैं। यदि होने की कोशिश भी करे, तो धर्म की आड़ लेकर आने वाले निहित हित उसकी प्रगतिशीलता का भी खात्मा करने को तत्पर रहते हैं। सच्चाई तो यह है कि सामाजिक प्रगति का सबसे बड़ा विरोधी धर्म है और यह लोगों को हमेशा पीछे की ओर खींचने वाली सबसे बड़ी शक्ति है, ''...धर्म ने सदैव ही अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बनाए रखने और परलोक में सुख—शांति की बातें बनाकर लोगों का ध्यान हटाने की चेष्टा की है। उसने जिसे 'नियासिता का सिद्धांत' कहते हैं, उसका भी खूब प्रचार किया है, यानी यह कि धनी व्यक्ति निर्धनों के लिए एक प्रकार

का न्यासधारी है, जमींदार भूमि पर अपने खेतिहर की ओर से न्यास रूप में अधिकार रखता है। कोई नहीं कि जवाहरलाल नेहरू भी कार्ल मार्क्स के साथ सस्वर होकर यह कहने को तत्पर थे कि धर्म, जनसाधारण के लिए अफीम है। मानव समाज और इतिहास में धर्म की भूमिका सिर्पफ यहीं तक सीमित नहीं है, वह इससे भी बहुत आगे तक गई है, विश्व में अगणित मानवों के लिए एक बड़ा अभिशाप प्रमाणित हुई है।

असल में उसका वर्णन रक्तरंजित और भयावह है। इसी कारण तथाकथित धार्मिकता के प्रति जवाहरलाल नेहरू के हृदय में मानवोचित घृणा की उत्पत्ति उसके उन्हीं ऐतिहासिक कुकृत्यों के कारण हुई है, जिन पर उसे, निर्लज्जतापूर्वक सबसे अधिक गर्व है। दृष्टव्य हैं नेहरूजी के शब्द, ''... इतिहास में हम अक्सर ही देखते हैं कि धर्म ने, जो हमें ऊपर उठाने और श्रेष्ठतर बनाने के दावों के साथ आया था, लोगों से पाशविक आचरण कराया है। उन्हें सुज्ञान की ज्योति उपलब्ध कराने की बजाय, उसने उन्हें बहुधा अन्धकार में रखने का प्रयास किया ; उनके हृदय को विशाल आकार देने की बजाए उसने उन्हें कितनी ही बार संकीर्ण हृदय और दूसरों के प्रति असहिष्णु बनाया है। ...धर्म के नाम पर अनेक महान् और उत्तम काम किए गए हैं। धर्म के नाम पर ही हजारों–लाखों का संहार हुआ है, और प्रत्येक सम्भाव्य अपराध किया गया है। ...धर्मनिष्ठ लोगों ने बहुधा अपने को दूसरे पर ठूंसा है, अपना मत उनसे बलात् स्वीकृत कराया है और यह विश्वास बनाए रखा है कि वे लोकसेवा का कार्य कर रहे हैं।

ईश्वर के नाम पर उन्होंने लोगों को मारा और उनकी हत्या की है, और 'अनश्वर आत्मा' के उद्धार की बातें बनाते हुए उन्होंने नश्वर शरीर को जलाकर स्वाहा करने में संकोच नहीं किया। धर्म का लेखा–जोखा बहुत ही बेकार है। ...धर्म ने अपने को सत्य पर आधारित बतलाया परन्तु उसे सत्य को, और वह भी समस्त सत्य को, पा लेने का इतना ज्यादा विश्वास था कि उसने सत्य की खोज करने का कष्ट ही नहीं किया। उसका कार्य सिर्पफ यह रह गया कि दूसरों को उस सत्य से अवगत करे, ...उसने शांति का उपदेश दिया; लेकिन ऐसी व्यवस्थाओं और संगठनों का परिपोषण किया, जो हिंसा के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकते ...।''

भारतीय धर्मों के इनमें से बहुत–सी बातें ऊपर खरी नहीं उतरती है। भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना एक जातीय रिवाज के रूप में चली आई है। यह हिन्दुओं की सामान्य विचारधारा का एक स्थायी अंग है। खुद नेहरू जी ने अपने लेखन में यह यत्र–तत्र इसका उल्लेख किया है और प्रशंसा की है। मुसलमानों के आगमन से यहां भी धर्म में बल प्रयोग का तत्व सम्मिलित हुआ। परन्तु जैसा कि नेहरूजी ने लिखा है कि यह संघर्ष भी मुख्य रूप से राजनीतिक था, अर्थात् विजेता और विजितों के बीच। धर्म ने सिर्पफ इसमें रंग भरा और कभी–कभी धार्मिक उत्पीड़न का मार्ग अपनाया गया। किन्तु धार्मिक अर्थों में, इस अपेक्षाकृत लज्जाजनक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण किसी को इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि हमारे देश भारत में धर्म का स्वभाव हमेशा ही उदारतापूर्वक और सहिष्णुतापूर्ण रहा है।

राष्ट्रीय आंदोलन की लोकतंत्रीय और गुप्त क्रांतिकारी दोनों धाराओं में समूह की धार्मिक भावनाओं का अवलम्बन लिया गया और इससे धर्मपरायण भारतीय जनता को उत्प्रेरित करने तथा उनका आवेशमय समर्थन प्राप्त करने में थोड़ी बहुत मदद मिली। परन्तु कुल मिलाकर राजनीति में धर्म के प्रयोग से फायदा की तुलना में हानि ही अधिक हुई। अधिक न कहकर केवल इतना ही कहना प्रचुर है कि भारत में भी धर्म के नाम पर काफी हिंसा, विध्वंस और रक्तपात हो चुका है कि अब इस विषय में भारत और बाकी विश्व के मध्य अन्तर की रेखा खींचना बहुत मुश्किल हो गया है। अवश्य वह महाकार हिंसा और जन धन–क्षति, जो इस देश में हुई, राजनीतिक कारणों की परिणति थी; परन्तु उसमें धार्मिक पक्षांधता का जो तत्व क्रियाशील रहा, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। साम्प्रदायिक दंगों की दुःखद स्मृति के भारत के माथे पर प्रत्येक चिरकालीन कलंक है। सन् 1947 ई॰ के विस्तृत रक्तपात से बहुत पहले ही जवाहरलाल नेहरू इन मनोवृत्तियों के सम्भाव्य नतीजों की ओर से सावधान हो चुके थे। तभी उन्होंने धर्म की विभाजन शक्ति की तीव्र निन्दा करते हुए इस संस्था का अन्त करने को दृढ़–संकल्प होने की घोषणा की थी, "...भारत एक धार्मिक देश कहा जाता है। हिन्दू, मुसलमान और सिख हर दूसरी वस्तु से ज़्यादा अपने विश्वासों पर गर्व करते हैं और एक दूसरे का सिर फोड़ कर अपनी सत्यता की साक्षी देते हैं। ...भारत और अन्य देशों

में जिस चीज को धर्म कहा जाता है या कम से कम, जो चीज संगठित धर्म का रूप रखती है, उसके दर्शन मात्र से ही मेरा मन अति घृणा से भर उठा। मैंने अक्सर ही इस चीज की निन्दा की है और इसका आमूलचूल अन्त करने की उत्कट इच्छा अनुभव की है। प्रायः हमेशा ही यह अंधविश्वास, प्रतिगामिता और मतांधता की परिपोषक और हठधर्मी मिथ्या धारणाओं और शपथ तथा निहित हितों को बनाए रखने का समर्थन प्रतीत होता है। जवाहरलाल नेहरू का तर्कवाद भारतीय धर्म की अपनी कठोर आलोचना के बावजूद उन्हें सहज ही इस मौलिक तथ्य को स्वीकारने पर आमादा करता है कि धर्म मूल से कोई कृत्रिम या लादी हुई वस्तु नहीं है। "...यह एकदम स्पष्ट है कि धर्म ने मानव प्रवृत्ति के किसी गंभीर आंतरिक अभाव की पूर्ति की है। दुनियाभर में बहुसंख्य जनता किसी–न–किसी प्रकार के धार्मिक विश्वास के बिना रह नहीं सकती। धर्म ने जहां अनेक संकीर्ण हृदय, हठधर्मी और निर्दयी प्रजापीड़क पैदा किए हैं, वहां उसने कुछ उत्तम कोटि के तेजस्वी स्त्री–पुरुष भी विश्व को दिए हैं। उसने मानवीय जीवन को कुछ निश्चित मूल्यों से समन्वित किया है; और यद्यपि इनमें से कुछ मूल्य आज की परिस्थितियों में सत्य नहीं है, बल्कि हानिकारक हैं; लेकिन कुछ दूसरे मानदण्ड ऐसे भी हैं, जो आज भी सदाचार, सद्गुण और नैतिकता का आधार हैं।

नेहरू जी को जीवन में नैतिकता और सदाचार का निश्चित मूल्य सदा ही अंगीकार रहा था। उनके विचार में, यह एक समस्या थी, जिसे हल करने में धर्म तो अक्षम है ही, आज का विज्ञान भी कुछ आशा प्रदान नहीं करता। घूम फिर कर वह, अनिवार्यतः उसी क्षेत्र में उतरने पर विवश होते थे जिसके विषय में वे बुद्धि तथा ज्ञान में अनिश्चयवादी थे। परन्तु इस बीच, अवस्था और अनुभूति की वृद्धि के साथ–साथ, उनमें एक आध्यात्मिक चेतना और मानवी जीवन के किसी उच्चतम लक्ष्य का बोध प्रस्पुफटित हुआ। दृष्टव्य है उनके विचार, "...चाहे हम परमात्मा में विश्वास करें या न करें; परन्तु किसी भी तत्व में विश्वास न करना असम्भव है। इसे हम रचनात्मक जीवनप्रद शक्ति कहें या क्रिया–शक्ति, जो पदार्थ मात्र का अन्तर्निहित गुण है और उसे स्वगति तथा परिवर्तन और विकास की क्षमता प्रदान करती है, या फिर और कोई नाम दें, कोई ऐसी वस्तु, जो इतनी ही वास्तविकता पर अगम्य है,

जितना कि मृत्यु की तुलना में, स्वयं जीवन।''

अपनी इस आध्यात्मिक चेतना को जवाहरलाल नेहरू ने और ज्यादा स्पष्ट इन शब्दों में किया है, ''...हमारी इस स्थूल दुनिया की परिधि से बाहर की भावनात्मक वस्तुओं में किसी तरह की आस्था आवश्यक जान पड़ती है, नैतिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी धारणाओं पर किसी अंश में निर्भर करना अनिवार्य प्रतीत होता है; अन्यथा हमारा कोई आधार, हमारे जीवन का कोई ध्येय या अर्थ ही शेष नहीं रहता। यहां तक पहुंचने के पश्चात् जवाहरलाल नेहरू के अविचलित तर्कवाद ने उन्हें फिर एक बार आधुनिक विज्ञान की ओर प्रदत्त किया था और वे जीवन के मूल लक्ष्य को समझने के लिए विज्ञान से यह आशा रखते थे कि वह सृष्टि की दूसरे समस्याओं के समान जीवन की इस मूलभूत दार्शनिक समस्या को भी अपनी अनुसंधान परिधि में स्थान देगा कि आखिर प्रकट में, इस सभी अनादि–अनंत प्रक्रिया का कोई तात्पर्य भी है अथवा नहीं। दृष्टव्य है उनके मत, ''...विज्ञान हमें जीवन के उद्देश्य के संबंध में, बल्कि सच पूछिए तो, किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं बतलाता। निस्संदेह अब वह अपनी सीमाओं को विस्तृत कर रहा है और सम्भव है कि वह शीघ्र ही तथा कथित अदृश्य जगत् पर भी धावा बोल दे और व्यापक अर्थों में जीवन के उद्देश्य को समझने में हमारी कुछ सहायता करे या कम से कम हमें एक झलक ही दिखा दे, जिससे मानवी अस्तित्व की समस्या पर कुछ प्रकाश पड़े। धर्म और विज्ञान का पुराना विवाद अब एक नया रूप ले रहा है। यह है आध्यात्मिक और धार्मिक अनुभूति में वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग।''

प्रयोगात्मक अर्थों में अभी तो विज्ञान इस ओर प्रकृत हुआ नहीं। और न इस विषय की व्यक्तिपरक प्रकृति के दृष्टिगत ऐसे अनुसंधान का कोई सर्वमान्य परिणाम ही सम्भाव्य दीखता है।

इस बीच जीवन के नैतिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष के प्रति, कुछ मान्यताओं के प्रति, जो रूढ़िगत धर्म से असम्बद्ध हैं, नेहरूजी क़ी आस्था खूब दृढ़ सबल हो उठी थी। यह किसी भी निष्ठावान धार्मिक पुरुष के भक्ति भाव से कम गहरी नहीं थी। वे खुद इसे एक तरह की आराधना या न्यूनतम

साधना मानते थे, जैसा कि हिन्दू योग दर्शन का विचार है। "चाहे हमें इसकी चेतना हो या न हो, लेकिन हम में से अधिकतर लोग किसी न किसी अज्ञात इष्ट देव की अदृश्य वेदी पर माथा टेकते हैं और बलि चढ़ाते हैं।

कोई आदर्श–वैयक्तिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, कोई सुदूर लक्ष्य, जो हमें निरन्तर अपनी ओर खींचता है, यद्यपि विशुद्ध बुद्धि को उसमें कोई तत्व दिखाई नहीं देता या फिर परिपूर्ण मानव और उत्तम जगत की एक अस्पष्ट सी कल्पना है। परिपूर्णता शायद साध्य न हो, लेकिन हमारे अंदर जो असुर बैठा है। कोई जीवन शक्ति, वह हमें निरन्तर आगे बढ़ने को ललकारता है और हम वंशानुवंश उसी मार्ग का अनुमान करते हैं..."

आध्यात्मिकता के प्रति जवाहरलाल नेहरू का यह सुचिंतित नजरिया जिसमें कोई रहस्यवाद का पुट नहीं है। क्या ऐसे विचारों वाले मानव को, हिन्दू रिवाज से, नास्तिक तो दूर रहा, अनिश्चयवादी भी कहा जा सकता है? कुछ आश्चर्य नहीं कि उस महान् तत्वदर्शी, गांधी जी ने आज से सालों पूर्व यह राय दी थी कि जवाहरलाल कहते हैं कि वे ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु मैं जानता हूं कि वह उन लाखों लोगों की तुलना में जो प्रतिदिन ईश्वर की पूजा करते हैं, ईश्वर के कहीं ज्यादा नजदीक हैं। कटु सत्य है, सत्कर्म, शुभचिन्तन और कल्याणकारिता ही सच्ची धार्मिकता है और वास्तविक आस्तिकता है। नेहरू जी में यह देव गुण देख कर ही गांधी जी ने उन्हें अपने विशिष्ट वात्सल्य का पात्र बनाया था। बुद्धि से जवाहरलाल नेहरू अनिश्चयवादी रहे होंगे, परन्तु भावना और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि से वे वास्तविक अर्थों में आस्तिक थे। अब प्रश्न उठता है कि नेहरू जैसे ईश्वर भक्त को किस धर्म में रखा जाए? रूढ़ धर्म सम्बन्धी विचारों के कारण वे 'हिन्दुत्व' के तहत आ सकते हैं। विश्व के सम्पूर्ण धर्मों में हिन्दुत्व ही एक ऐसा धर्म है जो विश्वास और व्यवहार दोनों दृष्टियों से विचारों की स्वतंत्रता को सच्चा प्रश्रय देता है। इसके अतिरिक्त और किसी धर्म में इस चीज को बर्दाश्त करने की क्षमता नहीं है। सत्य तो यह है कि धर्मों में सिर्पफ तथा कथित हिन्दू धर्म ही सत्य की वैज्ञानिक परिभाषा को स्वीकारता है। यही कारण है कि खुद नेहरू जी ने के कथनानुसार हिन्दू धर्म ने उन्हें मुख्य रूप से आकर्षित किया था, उसके कर्म निर्देशक या औपचारिक रूप ने नहीं,

अपितु उसके महान् दर्शन शास्त्रों, उपनिषदों और भगवदगीता में विशेष रूप से इस दृष्टि से वे पक्के हिन्दू थे। वे हिन्दू वेदान्त को पूर्णरूप से समझने का दावा तो नहीं करते थे; परन्तु वे इससे ज्यादा प्रभावित हुए थे। ऐसा उन्होंने स्वीकारा था, विशेषतः आद्य शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत से जिसके अनुसार आत्मा और परमात्मा या पुरुष और प्रकृति को एक ही माना जाता है। एक ओर उनका स्थूल यानी संबंधी विशुद्ध वैज्ञानिक नजरिया है और दूसरी ओर उनका स्थूल आधत्मिक मानवतावाद, इन दो के मध्य उन्हें सृष्टि की अद्वैतवादी वर्णन ही सबसे ज़्यादा तर्क–संगत लगी है, ...देवता जो भी हो, मनुष्य में भी देवता का कोई अंश होता है, जैसे उनमें दानव का भी कोई अंश होता है।

जवाहरलाल नेहरू की हिन्दू धर्म के प्रति विशेष रुचि का दूसरा कारण, सिद्धान्त से हटकर खुद इस धर्म की बहुपक्षीय प्रकृति था। यह न सिर्फ दूसरे विचारों के प्रति सहिष्णु थी बल्कि उन्हें सहज ही खुद अपने विचार क्षेत्र में समाविष्ट करने की अद्‌भुत क्षमता रखती थी। दृष्टव्य है नेहरू जी के शब्द, ''...हिन्दू धर्म एक विश्वास निष्ठा के रूप में नितान्त अस्पष्ट निश्चित और बहुमुखी वस्तु है। यह सब लोगों के लिए सब रखती हैं। इसकी परिभाषा करना, बल्कि सच तो यह है कि निश्चित रूप से यह कहना भी बहुत मुश्किल है कि यह वास्तव में एक धर्म ही है या कुछ और। इसके वर्तमान रूप में और अतीत में भी, इसमें कई प्रकार के विश्वास और परिपाटियां सम्मिश्रित रही हैं। उच्चतम से निम्नतम तक, बहुधा परस्पर विरोधी और एक दूसरे का खण्डन करने वाली। जीयो और जीने दो, –यही इसकी मुख्य भावना और प्रेरक शक्ति जान पड़ती है।''

वास्तव में हिन्दू धर्म ऐसा ही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण खुद जवाहरलाल नेहरू थे। नास्तिक साम्यवादी राष्ट्रों की बात अलग है। परन्तु क्या कोई कल्पना कर सकता है कि किसी दूसरे धर्म में, मुलिसम या ईसाई देश में, कोई मनुष्य बहुसंख्यक जनता के चिरसंचित धार्मिक विश्वासों की ऐसी खुली आलोचना करते हुए जैसी कि नेहरू जी करते थे, सामान्य रूप से सुरक्षित और सम्भावित ही रह सकता है, जनता का विश्वास पात्र और राष्ट्र का पथ प्रदर्शक बनना तो दर रहा? परन्तु नेहरू जी एक खुद घोषित अनिश्चयवादी तथा रूढ़िगत हिन्दू धर्म के दृढ़ संकल्प विरोधी होने पर भी हम

भारतीयों के हृदय सम्राट और राष्ट्र शिरोमणि थे।

11

भारत का बँटवारा एवं नेहरू

भारत के लिए वायसराय लार्ड वेवल ने भारत में हो रहे युद्ध प्रयत्नों के दायित्व को समझते हुए, मांग की कि लंदन में स्थिति पर पुनः विचार हो। एमरी के मतानुसार बंगाल दुर्भिक्ष में दस लाख व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बने थे और उससे शासन की प्रतिष्ठा पर धब्बा लगा था। भारत में आए अमेरिकी सैनिक खुले रूप में भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के प्रति अपनी सहानुभूति दर्शा रहे थे और भारत को सहयोग की अभी जरूरत थी। यूरोप के युद्ध के समाप्त होने के बावजूद जापान के साथ संघर्ष जारी था।

1945 ई॰ के शुरू में उधर भूलाभाई देसाई तथा लियाकत अली खां के बीच जो सहमति हुई, उससे ऐसा जान पड़ा कि कांग्रेस लीग मेल सम्भव हो जाएगा; परन्तु जिन्ना के नकारात्मक रवैये से यह समझौता रद्दी की टोकरी की शोभा बन कर रह गया। लार्ड वेवल की लंदन यात्रा के पश्चात् 1935 के भारत सरकार के कानून की सीमा के अन्दर रहते हुए संवैधानिक बदलाव के प्रस्ताव की घोषणा की गई। कार्यकारिणी परिषद् में भारतीय सदस्यों के अतिरिक्त वायसराय और सेनापति भी थे। इस संख्या में सवर्ण हिन्दुओं और मुसलमानों को समान दर्जा प्राप्त था।

इन प्रस्तावों पर 25 जून को शिमला में राजनीतिज्ञों के बीच विचार–विनियम होना था, जिसमें प्रत्येक के रूप में गांधीजी भी शामिल हुए थे। यह सम्मेलन भी निष्कर्ष शून्य रहा और 14 जुलाई को निराशाजनक अवस्था में खत्म हो गया। इसकी विफलता की जिम्मेवारी लार्ड वेवल ने

अपने ऊपर ले लिया। ब्रिटिश सरकार ने बुद्धिसंगत और स्वीकार्य कदम उठाने की योजना बनाने के लिए कैबिनेट मिशन भारत भेजा था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेदों को देखते हुए उसने अपने प्रस्ताव रखे और अंतरिम सरकार के बारे में परामर्श दिए, जिनमें परराष्ट्र मामले, सुरक्षा संचार और इन विभागों के लिए वित्त संग्रह की शक्ति रखने वाली संघीय सरकार गठित होने की बात भी थी। भारत के प्रान्तों को अनेक समूहों में रखा गया था। इन्हें अपने–अपने संविधान बनाने की स्वतन्त्रता थी। इनके काम को समूह में रखा गया था। इन्हें अपने–अपने संविधान बनाने की स्वतंत्रता थी। इनके काम करने की प्रणाली के विषय में प्रस्ताव अधिक स्पष्ट न थे।

कांग्रेसी नेता इसे करने में समर्थ होंगे। प्रस्तावों की कई धाराएं आपस में विरोधी थीं। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का आधार मानकर प्रस्तावों की स्वीकृत कर लिया था; परन्तु सरकार कांग्रेस अल्पकालीन योजना की बाट जोह रही थी; क्योंकि उसका विचार था कि किसी संविधान निर्माण की भावना कैसी हो, उसका दारोमदार अन्तरिम सरकार पर होगा। इस प्रकार देश के भावी स्वरूप को तैयार करने के लिए शीघ्र सत्ता की प्राप्ति जरूरी समझी गई। इन वार्ताओं के मध्य जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रकार का आश्वासन चाहा था कि अन्तरिम सरकार औपनिवेशिक मंत्रिमण्डल के बराबर काम करेगी, जबकि पाकिस्तान के मसीहा जिन्ना यह समझते थे कि वह पुनर्गठित कार्यकारिणी परिषद् से ज्यादा न होगी।

जिस अन्तरिम सरकार का प्रस्ताव कैबिनेट मिशन ने 16 जून को रखा था, उसे कांग्रेस कार्यसमिति ने अस्वीकार कर दिया और विवादग्रस्त धाराओं की अपनी व्याख्या करते हुए दीर्घकालीन योजना अंगीकार कर ली। कैबिनेट मिशन जून के अंत में इंग्लैण्ड लौट गया। गांधीजी की इच्छा और मौलाना अबुल कलाम आजाद के अनुरोध पर जवाहरलाल नेहरू दोबारा कांग्रेस के अध्यक्ष हो गए। असल में उस समय वे ही कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रेष्ठ व्यक्ति समझे जाते थे और गांधीजी ने उन्हें 'कांटे का ताज' पहनने हेतु तैयार कर लिया था। उधर अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने भी कार्यसमिति की नीति को भारी बहुमत से अंगीकार

कर लिया था। जवाहरलाल नेहरू ने बम्बई के भाषण में संविधान परिषद् के संबंध में अपने विचार स्पष्ट कर लिए थे। इन विचारों से मुस्लिम लीग और नरम दलों में हलचल मच गई थी। उनकी नजर में प्रस्तावित सविधान परिषद क्रांति का साधन था, जिसकी संरचना ब्रिटिश सरकार के हाथों होने वाली थी।

अन्तरिम सरकार के एक बार गठित हो जाने पर, उसकी व्यापक भूमिका उनके मस्तिष्क में थी। उनकी बातों से जिन्ना ने यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि कांग्रेस मुस्लिम लीग को नाकारा कर देना चाहती है। परिणामतः मुस्लिम लीग ने 27 जुलाई के अपने अधिवेशन में कैबिनेट मिशन की दीर्घकालीन योजना को दी गई अपनी स्वीकृति वापस ले ली और पाकिस्तान की प्राप्ति हेतु 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी। यह हिन्दू और कांग्रेस के लिए नासूर बन गई और इस बहाने हिंसा तांडव नृत्य कर उठी। इस अवस्था में कांग्रेस का चुप्पी साधना भी उचित नहीं था। स्वाधीनता के लिए दबाव न डालना कायरता होती और प्राप्ति की स्थिति में उसे न स्वीकारना और भी बड़ी कायरता। एटली ने कैबिनेट मिशन के प्रस्थान करने से पहले कहा था कि ब्रिटिश इस बात को गवारा नहीं करेंगे कि अल्पसंख्यक बहुसंख्यक की प्रगति में बाधक बनें। उनकी सरकार भी यह अनुभव करती थी कि वह बहुसंख्यकों को भी अपनी मनमानी करने और अल्पसंख्यकों पर लादने की छूट नहीं दी जा सकती। खासकर ऐसे व्यवस्थित अल्पसंख्यक वर्ग पर जो सीधी कार्रवाई का बीड़ा उठा चुकी है। शायद अन्तरिम सरकार का गठन दलों को नजदीक लाए और वास्तविक सत्ता सौंपने पर यह सम्भव हो कि सभी स्थिति का सामना मिलकर ही करें।

वायसराय लार्ड वेवल ने जिन्ना और जवाहरलाल नेहरू से फिर बात की। जवाहरलाल नेहरू ने अन्तरिम सरकार गठन का निमंत्रण तब तक के लिए अस्वीकार कर दिया, जब तक अन्तरिम सरकार की स्थिति एवं शक्ति का स्पष्ट शब्दों में वर्णन न कर दिया जाए। जिन्ना ने सीधी कार्रवाई के प्रस्ताव के बल पर उसे नकार दिया। फिर भी जवाहर लाल ने बम्बई में जिन्ना से बातचीत की, पर कोई नतीजा नहीं निकला। वायसराय अपने

जिम्मेदारी से मुक्ति पाने के लिए अन्तरिम सरकार के प्रस्ताव को जिन्ना को देने हेतु जवाहरलाल नेहरू पर जोर डाल रहे थे। पर वे उसे पहल का मौका देने को तत्पर नहीं थे, जो हर छूट और प्रत्येक मौके का फायदा उठाने की ताक में रहता था तथा कांग्रेस के प्रति उसके विरोधी रवैये के कारण उसके साथ मिलकर काम करना सम्भव न था। इसलिए उन्होंने वायसराय के निमंत्रण को स्वयं ही स्वीकृत कर लिया। वे कार्य परिषद् के उपाध्यक्ष और परराष्ट्र तथा राष्ट्रमंडलीय संबंध विभाग के मंत्री बने। मौलाना अबुल कलाम आजाद, सरदार वल्लभभाई पटेल और डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद भी उनकी टीम में थे। स्वतंत्र सदस्य के रूप में शफात अहमद खां और गैर कांग्रेसी बलदेव सिंह सिख सदस्य थे। सी॰ एच॰ भाभा स्वतंत्र व्यापारी के रूप शामिल किए गए थे। महिलाओं तथा इसाइयों के प्रतिनिधि के रूप में कुमारी अमृत कौर थीं। मुस्लिम लीग के शामिल होने की आशा से स्थान खाली रखे गए थे। जिन्ना की सीधी कार्रवाई दिवस की घोषणा से कलकत्ता में खासतौर से साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। मुस्लिम लीग के अधिवेशनों में बंगाल के मुख्य मंत्री हसन सुहरावर्दी ने बड़े उग्र भाषण किए थे।

बंगाल सरकार ने 16 अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के रूप में सार्वजनिक छुट्टी का दिन घोषित करके और सरकारी नौकरों को उसमें शमिल होने का अवसर देकर खुद को इसमें फंसवा लिया। पूरे बंगाल में मुस्लिम सम्प्रदायवाद मनमानी कर रहा था। इसकी अन्य स्थानों में भी प्रतिक्रिया हुई। अक्तूबर–नवम्बर में बिहार में भी हिंसात्मक घटनाएं घटनी आरम्भ हो गई। अन्तरिम सरकार की स्थापना होते ही मुस्लिम लीग के भड़काने पर हिंसा और यादा भडक उठी। शफात अहमद खां पर संघातिक आक्रमण किया गया। नोआखली में रक्त की नदियां बह गई। लाशों के ढेर लग गए। इससे गांधीजी का अन्तःकरण चीत्कार कर उठा गांधीजी ने नोआखली की पदयात्रा की।

जवाहरलाल नेहरू ने बिहार का दौरा किया और उन्होंने हिन्दू सम्प्रदायवाद की खूब आलोचना की, इससे हिन्दू सम्प्रदायिक संगठन और भड़क उठे। उत्तर प्रदेश भी इस हिंसात्मक-अग्नि से खुद को सुरक्षित न

रख सका था। इस तरह सभी जगह बहुमत का बोलबोला था और अल्पमत पिस रहा था। आरम्भिक दिनों में अंतरिम सरकार ने अपनी सूझबूझ एवं स्यूफर्ति का परिचय दिया। जवाहरलाल नेहरू ने इसमें शौर्य और उद्देश्य का शंख पूफंका। जनता की स्वतंत्र सरकार अनेक शताब्दियों के पश्चात् मिली सत्ता को ऐसे ही खो देना नहीं चाहती थी। जवाहरलाल नेहरू ने जनता के रहन सहन के ऊंचे स्तर का लक्ष्य जातीय स्वतंत्रता, साम्प्रदायिक सामंजस्य, अछूतोद्धार, सबको उपनिवेशवाद, सत्ता गुटों से निरपेक्षता, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ के साथ मैत्री, राष्ट्रमण्डल के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बाकी एशिया के साथ घनिष्ठता और विश्व संघ इत्यादि नीति घोषित की। उन्होंने सभी दलों से इसमें मदद के लिए अपील की। वास्तव में उन्होंने आरम्भ से ही वह दृष्टिकोण रखा, जो एक स्वतंत्र राष्ट्र के प्रधानमंत्री का होना चाहिए। मुस्लिम लीग को अंतरिम सरकार में शामिल करने हेतु वायसराय ने फिर जिन्ना से बातचीत की। इसके लिए जिन्ना ने अपनी कुछ मांगें रखीं, जो जवाहरलाल नेहरू को बता दी गई। वे काफी सोच–समझ कर सिर्पफ इस बात के लिए तैयार हुए कि मुस्लिम लीग को कार्यकारिणी परिषद् की समन्वय समिति के उपाध्यक्ष का पद मिलना चाहिए। एक मुस्लिम मंत्री केन्द्रीय धारा सभा का नेता हो सकता है। साम्प्रदायिक प्रश्नों पर यदि किसी तरह का कोई मतभेद हो, तो वे संघीय न्यायालय को भेजे जा सकते हैं और जो स्थान खाली हों, उन्हें कार्यकारिणी परिषद् भरे, वायसराय नहीं।

हालांकि जिन्ना की अधिकांश मांगें अंगीकार नहीं की गई, पर वे इस बात के लिए अवश्य तैयार थे कि मुस्लिम लीग अंतरिम सरकार में जरूर शामिल हो ताकि वे भीतर रह कर सरकार को तोड़ सकें। इस प्रकार के विरोधाभास के साथ मुस्लिम लीग ने अंतरिम सरकार में प्रविष्ट किया।

अंतरिम सरकार का पुर्नगठन 15 अक्टूबर को हुआ। इसमें कार्यकारिणी परिषद् में मुस्लिम लीग के पांच सदस्य थे। उन्होंने हिन्दुओं के साथ कभी सामंजस्य नहीं किया। जिसके विषय में जवाहरलाल नेहरू वक्त–वक्त पर वायसराय वेवल को अवगत कराते रहे।

इस स्थिति में भी लार्ड वेवल चाहते थे कि जवाहरलाल नेहरू विदेश

मंत्रालय, प्रतिरक्षा और गृहमंत्रालय मुस्लिम लीग को सौंप दे। जवाहरलाल नेहरू ने लार्ड वेवल के इस अनुरोध को नहीं माना। जब उन्होंने इसके लिए विवश करने की कोशिश की, तो जवाहरलाल नेहरू ने अपने पद से त्यागपत्र देने की धमकी दी। इस धमकी के आगे लार्ड वेवल झुग गए और मुस्लिम लीग को दूसरे विभाग लेने पड़े, जिसमें वित्त विभाग, लियाकत अली खां को गया। असल में मुस्लिम लीगी मंत्री अंतरिम सरकार में पाकिस्तान के लिए काम करने के उद्देश्य से घुसे थे। उनका उद्देश्य ऐसी प्रत्येक वस्तु का विरोध करना था, जो पाकिस्तान की मांग के खिलफ हो। यह जिन्ना की रणनीति भी और वे सभी उसके हाथ् की कठपुतली बन कर नाच रहे थे। जिन्ना ने शुरू में तो इस बात पर बल दिया कि संविधान सभा को अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया जाए और जब लार्ड वेवल ने उसका अधिवेशन बुलाया, तो उसने मुस्लिम लीग के सब सदस्यों को उसका बहिष्कार करने के लिए कहा। इस तरह खुद वेवल मूर्ख बन गए; चूंकि उन्होंने दो विरोधी तत्वों को बिना विचार किए एक साथ लाकर रख दिया था।

अखिल भारतीय कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने जिसकी अध्यक्षता आचार्य कृपलानी ने की थी, मुस्लिम लीग की चालों और उसमें लार्ड वेवल की साठ–गांठ की कठोर निन्दा की। लार्ड वेवल ने उस भावना को त्याग दिया था, जिसके तहत अंतरिम सरकार का पहले गठन हुआ था। मुस्लिम लीग के साठ–सांठ के साथ उन्होंने वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों को कार्य करने की छूट दे दी थी। यह देखकर कांग्रेस ने दो बार त्यागपत्र देने का विचार बनाया था। जिन्ना को सबसे यादा यह बात अखर रही थी कि जवाहरलाल नेहरू देश के प्रधानमंत्री होने का स्वप्न देख रहे हैं, जबकि कांग्रेस ने हमेशा इस बात के लिए अनुरोध किया था कि अंतरिम सरकार को एक औपनिवेशिक स्वराज्य वाली सरकार माना जाए और लार्ड वेवल इस बात से भिज्ञ थे।

जवाहरलाल नेहरू भावना पर जोर दे रहे थे और जिन्ना साहब कानूनी रूप का लाभ उठाना चाहते थे। प्रधानमंत्री एटली चाहते थे कि लंदन में होने वाले सम्मेलन में कांग्रेस, मुस्लिम लीग और सिख सम्प्रदाय के

प्रतिनिधि शामिल हों। जवाहरलाल नेहरू की अनिच्छा से वे परिचित थे। कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति इस सम्मेलन को किसी नवीन चाल का नाम दे रही थी। यह आश्वासन देकर एटली ने जवाहरलाल नेहरू को राज़ी कर लिया कि कैबिनेट मिशन की योजना को अथवा संविधान सभा के शुरू होने की तिथि को, जो 9 दिसम्बर तय की गई थी, परिवर्तन का कोई विचार नहीं है और कैबिनेट मिशन की योजना को कार्यान्वित करने की दिशा में ही बातचीत होगी। उधर जिन्ना को यह कह कर आश्वस्त किया कि लंदन के इस सम्मेलन में सभी प्रश्नों पर पूरी तरह विचार किया जाएगा। लंदन का यह सम्मेलन निराशा का पुलिन्दा निकला।

जवाहरलाल नेहरू को ब्रिटिश सरकार की उनके और कांग्रेस के प्रति समझदारी की कमी पर भारी आघात लगा। इस तरह जब गतिरोध स्पष्ट हो गया, तो ब्रिटिश सरकार ने 6 दिसम्बर को एक वक्तव्य दिय। ाक वह समूहों की कार्यप्रणाली के विषय में मुस्लिम लीग के विचार का समर्थन करती है। उन्होंने ऐसा उस कानूनी सलाह के आधार पर कहा था और संविधान सभा को यह अधिकार दिया गया कि वह इस तथा अन्य संघर्षों को संघीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत कर सकती है। इसका उद्देश्य कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को ही प्रसन्न करना था जब कांग्रेस ने समूह की योजना को संघीय न्यायालय के सामने ले जाना चाहा, तो तात्कालिक भारतमंत्री लार्ड पैथिक लारेंस ने यह घोषणा कर दी कि ब्रिटिश सरकार अपनी व्याख्या से नहीं· हटेगी, भले ही यह प्रश्न संघीय न्यायालय को क्यों न ह वाले कर दिया जाए। लारेंस की इस घोषणा ने मुस्लिम लीग में और प्राण पूंफक दिए। वह इस पक्षपात से पूफली न समायी। असल में ब्रिटिश सरकार चाहती थी कि यदि संविधान सभा को सफल होना है, तो मुस्लिम लीग का उसमें प्रवेश होना चाहिए और उसने यह घोषणा की कि इसका ऐसा कोई विचार नहीं था कि एक अधूरी संविधान सभा द्वारा तैयार किए गए किसी संविधान को देश पर लादा जाए, जो इसके लिए तैयार नहीं था। पर ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग को ठीक दिशा में लाने के लिए, समझाने का कोई प्रयत्न नहीं किया था।

जवाहरलाल नेहरू के लिए यह लंदन यात्रा बेमानी रही। ब्रिटिश

सरकार ने इस बात की कोई कोशिश नहीं की कि मुस्लिम लीग ठीक तरह से आचरण करे और अंतरिम सरकार संचालन में मदद प्रदान करे। इसके विपरीत ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा करके संविधान संभा की प्रतिष्ठा पर भारी आघात किया और मुस्लिम लीग को सहयोग न देने के लिए और बल मिला। बरसों से चली आ रही गलतियों को श्रृंखला के उपरांत भी ब्रिटिश सरकार को ज्यादा प्रकाश नहीं मिल पाया। प्रश्न इस दल अथवा उस दल की ओर से चलने वाली चालों का नहीं था। ऐतिहासिक प्रक्रिया तो अनवरत रूप से कार्यरत थी।

सच्चिदानन्द सिन्हा की अस्थायी अध्यक्षता में संविधान सभा की बैठकें शुरू हुई। इसमें जवाहरलाल नेहरू ने लक्ष्य प्रस्ताव पर शानदार वक्तव्य दिया। इसमें उन्होंने ऐतिहासिक संदर्भ और भविष्य के संदर्भ में संविधान सभा के मोटे-मोटे लक्ष्यों को प्रतिपादित किया था। उन्होंने अमेरिकी, प्रफांसीसी और रूसी क्रांतियों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए। उनका मन संविधान निर्माण के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं से पूरित था। उनका उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया था। वे देश में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्रांति लाना चाहते थे।

उन्होंने कहा है कि यह प्रस्ताव एक घोषणा है, एक संकल्प है, एक प्रतिज्ञा है और एक दायित्व है। ...ब्रिटिश सरकार को उन्होंने चेतावनी दी कि संविधान सभा ही भारत का विधान बनाएगी, लंदन में बैठी हुई ब्रिटिश संसद नहीं। जनवरी 1947 ई॰ तक संविधान सभा को इसलिए स्थगित कर दिया गया कि मुस्लिम लीग को उसमें शामिल होने का समय मिल सके। जिन्ना ये मांग की कि इससे पूर्व मुस्लिम लीग संविधान सभा में आए, कांग्रेस ब्रिटिश सरकार की व्याख्या स्वीकार कर ले। अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने अपनी जनवरी की बैठक में ब्रिटिश सरकार की व्याख्या को स्वीकार कर लिया, जिसके अनुसार सीमा प्रदेश, असम और सिखों को परिस्थिति के अनुसार, वे जैसा उचित समझें, फैसलां करने का अधिकार दे दिया गया था। 20 जनवरी, 1947 को संविधान सभा की बैठक पुनः शुरू हुई और उसने लक्ष्य प्रस्ताव को सर्वसम्मति से पारित कर दिया। अपने समापन भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग को आमंत्रित

किया, साथ ही यह भी घोषित कर दिया कि वे काफी इंतजार कर चुके हैं और भविष्य में किसी के आने या न आने से कोई कार्य रुकेगा नहीं।

इसी महीने के अंत में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस महासमिति के प्रस्ताव की घोर निन्दा की और लक्ष्य प्रस्ताव को यह कहकर त्याग दिया कि यह संविधान सभा की क्षमता से बाहर था। तभी उसने ब्रिटिश सरकार से कैबिनेट मिशन योजना को वापस लेने और संविधान सभा को बर्खास्त करने की मांग की। कांग्रेस ने मुस्लिम मंत्रियों का यह रंग–ढंग देखकर फरवरी 1947 ई० में यह मांग की कि उन्हें अन्तरिम सरकार से हटा दिया जाए। इस समस्या का ब्रिटिश सरकार अंत करना चाहती थी, पर उसे इसका हल नहीं सूझ रहा था। अंततोगत्वा उसने एटली के द्वारा 20 फरवरी, सन् 1947 ई० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया, '...इस बात का पक्का इरादा है कि उत्तरदायी भारतीय हाथों में सत्ता का हस्तान्तरण किसी ऐसी तारीख तक कर दिया जाए जो जून 1948 के बाद की न हो और यदि एक संविधान सभा नहीं बना सकेगी तो ब्रिटिश सरकार को यह सोचना पड़ेगा कि किन को ब्रिटिश सरकार की केन्द्रीय सरकार की सत्ता सौंपी जाए और उस खास तिथि को यह पूरी की पूरी ब्रिटिश भारत के लिए किसी तरह की केन्द्रीय सरकार को या कुछ क्षेत्र में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को अथवा किसी अन्य तरह से बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण लगे और जो भारतीय जनता के सर्वोत्तम हितों में हो। 20 फरवरी, सन् 1947 ई० को भी अंग्रेजों की भारत छोड़ने की इच्छा एक प्रमुख घटनाक्रम था और जवाहरलाल नेहरू ने इसकी इसी प्रकार से स्वीकारा। ब्रिटिश सरकार ने इस वक्तव्य से स्वयं को एक दुविधा में डाल दिया था। यदि उसने संविधान सभा को खत्म किया तो यह भारत की एक क्रांतिकारी संस्था हो जाएगी, जैसी कि प्रफांस में स्टेट्स जनरल हुई थी। इसके लिए यह भी मुश्किल था कि मुस्लिम लीग के मंत्रियों से निकल जाने के लिए कह दें। उसने भारत से हटना ही सही समझा और उसे भारत के ऊपर थोप दिया। उसने यह माना कि लार्ड वेवल ने गड़बड़ी की है और उन्हें वापस इंग्लैण्ड बुला लिया गया। लार्ड माउंटबेटन को उत्तराधिकारी बनाया कि वे फरवरी के फैसले को लागू करें। वह कुशल युवा था और उसमें निर्णय लेने की क्षमता भी थी। ब्रिटिश सरकार के हाथ में पहल थी; कोई नहीं जानता था

कि यह भारत से अपना बिछावन गोल करेगी? कहां से हटेगी और किसको केन्द्र अथवा प्रान्तों में सत्ता का हस्तान्तरण करेगी। पाकिस्तान निकट बनता दिखाई दे रहा था, यद्यपि उसे बचा जा सकता था। चर्चिल ने कहा था, 'भारत का विभाजन ही नहीं होगा, अपितु उसके टुकड़े–टुकड़े किये जाएंगे और उसे ऐसे पुतलों के हाथ में सौंपा जाएगा, जिनमें भूसा भरा होगा। लार्ड माउंटबेटन के भारत आगमन के समय अधिकारियों की साज़िश की वजह से भावनाओं में कड़ापन आ चुका था। मुसलमान बहुल प्रान्त पंजाब संघर्ष क्षेत्र का रूप धारण किए हुए था; चूंकि ज्यादातर मुस्लिम क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करने की पश्चात् भी मुस्लिम लीग के हाथों में सत्ता की बागडोर नहीं थी। खिजर हयात खां के नेतृत्व में मिली–जुली यूनिपरिट सरकार थी। कांग्रेस और सिखों का विरोध हो रहा था और तीन प्रमुख समुदाय शक्ति संघर्ष हेतु निजी सेनाओं की भर्ती में संलग्न थे। मुख्यमंत्री ने उन्हें गैरकानूनी घोषित करने में देरी की और जब जनवरी सन् 1947 ई॰ में मुस्लिम लीग ने सीधी कार्रवाई करने का प्रस्ताव किया तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया, तो वे शिथिल पड़ गए थे। सार्वजनिक सभाओं पर लगे प्रतिबंध को उन्होंने हटा दिया, मुस्लिम लीग के नेताओं को रिहा कर दिया तथा ब्रिटिश सरकार की फरवरी 1947 की घोषणा के पश्चात् पद से त्यागपत्र देना ही श्रेयस्कर समझा।

धर्मनिरपेक्षता का जो वातावरण पंजाब में मिली–जुली सरकार के कारण था, सरकार के साथ ही उसका भी अंत हो गया। वहां मुस्लिम लीग ने मंत्रिमण्डल बनाया। मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में सिखों ने विशाल सभा आयोजित की। पंजाब इस दिन दिए गए भाषणों से उबल पड़ा। विभिन्न क्षेत्रों में दंगे हुए और गवर्नर ने सत्ता अपने हाथों में संभाल ली। सबसे अधिक क्षति लाहौर में हुई। तारासिंह ने स्थिति पर कांग्रेस कार्यकारिणी की मार्च की बैठक में गम्भीरता से विचार किया गया। उसने ब्रिटिश सरकार को स्पष्ट कर दिया था कि संविधान सभा द्वारा तैयार संविधान सिर्पफ उन क्षेत्रों पर ही लागू होगा, जो इसे मंजूरी देंगे। कार्यकारिणी इस स्थिति का कारण ब्रिटिश सरकार की निर्मम नीति को मान बैठी थी। उसकी यह मान्यता कांग्रेस की नीति की जैसी ही थी। किन्तु, मुस्लिम लीग यदि अब भी विभाजन चाहती है, तो इसका अर्थ यह होता है कि पूर्वी

पंजाब और पश्चिमी बंगाल सरीखे मुस्लिम बाहुल क्षेत्रों को भी संविधान स्वीकारने और भारतीय संघ में शामिल होने से नहीं रोका जा सकता था। पंजाब और बंग से मिले हुए क्षेत्रों के अल्पसंख्यकों के लिए इस प्रकार का आश्वासन आवश्यक हो गया था। अनेक आशाओं एवं अपेक्षाओं के साथ 22 मार्च, 1947 को लार्ड माउंट बेटन भारत आए। उन्होंने आते ही राजनैतिक नेताओं और अन्य प्रमुखों से विचार–विमर्श आरम्भ कर दिए। जवाहरलाल नेहरू से वे मलाया में मिल चुकने के कारण पूर्व से ही परिचित थे। इसलिए उनके साथ माउंटबेटन के निकट के संबंध स्थापित हो गए। धीरे–धीरे ये संबंध प्रगाढ़ मैत्री का रूप धारण करते चले गए। विषम परिस्थितियों में लार्ड माउंटबेटन भारत आए थे। ब्रिटिश सरकार ने उनके कंधों पर दायित्वपूर्ण भार डाल दिया था, जिसे वे निराशाजनक स्थिति में भी यथाशीघ्र उतारना चाहते थे। इसलिए वे प्रत्येक बात में तेजी से निर्णय ले रहे थे। वे यहां की स्थिति को देखते हुए इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि विभाजन ही ठीक रहेगा और इसी से दोनों को संतुष्ट किया जा सकेगा।

गांधी जी का प्रस्ताव था कि देश का विभाजन न हो और अंतरिम सरकार मुस्लिम लीग को सौंप दी जाए। इस स्थिति में ऐसा सोचना खतरनाक कदम सिद्ध हो सकता था। अतः अंग्रेजों के इस विचार को व्यावहारिक नहीं समझा गया। लार्ड माउंटबेटन की अनुभवी नज़रें भी विभाजन को ही व्यावहारिक कदम मान चुकी थी; चूंकि मुस्लिम लीग पर एकता थोपी जाती तो इसका नतीजा ऐसा गृह युद्ध होता, जिस पर नियंत्रण नहीं हो पाता। जवाहरलाल नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेता मुस्लिम लीग को पाकिस्तान देने के लिए इस शर्त पर तैयार थे कि पाकिस्तान में भारत के उन क्षेत्रों को जो पाकिस्तान में शामिल होना चाहें, उन्हें भारतीय संघ में सम्मिलित होने की छूट मिले। पाकिस्तान का स्वरूप खण्डित होना था, यदि मुस्लिम लीग चाहे तो यह ले सकती है। एक हल्की सी उम्मीद थी कि जिन्ना इसे मंजूर न करें। लार्ड माउंटबेटन का अब अगला प्रयास राजनेताओं से इस विषय में विचार–विमर्श करना था कि विभाजन का ठोस रूप क्या हो सकता है। इसके लिए भी आपसी समझौते की आवश्यकता थी और इसके लिए उन्होंने भरसक प्रयास किया। विभाजन की योजना

पर शिमला में विचार–विमर्श किया गया और वह स्वीकृत हो गया। किन्हीं कारणावश इस योजना में संशोधन किया गया, जिसे जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। वे आत्मनिर्णय के तर्कसंगत आधार पर संवैधानिक सिद्धान्त पर अड़ गए। उनका कहना था कि पाकिस्तान भारतीय संघ के अनिच्छा से अलग होने वाले क्षेत्रों से बनेगा तथा भारतीय सरकार ब्रिटेन की उत्तराधिकारी सरकार बनेगी, जिसके पास स्वतंत्र औपनिवेशिक सरकार की प्रतिष्ठा और शक्ति होगी। कुछ मुद्दों पर भले ही कांग्रेस को बेशक नीचा देखना पड़ा हो; लेकिन विभाजन की प्रकृति और पाकिस्तान के संवैधानिक स्टेटस के विषय में जिन्ना को नीचा देखना पड़ा। पश्चिमी पाकिस्तान से पूर्वी भाग के लिए भारत से रास्ता पाने के जिन्ना के बाद के विचार को गम्भीरता से नहीं लिया गया। जनता को गलियारे के विषय में आशंका थी; लेकिन कांग्रेसी राजनेताओं को पता था कि रास्ता नहीं मिलने का। विभाजन का गांधीजी ने जमकर विरोध कर रहे थे। वे अपनी प्रार्थना सभाओं में इस आशय से संबंधित विचार व्यक्त कर रहे थे। उनका कथन था कि भले ही मुस्लिम लीग तलवार की नोंक पर पाकिस्तान की मांग करे, पर यह विभाजन नहीं होगा। जिन्ना को उधर कांग्रेस अध्यक्ष, कृपलानी की उपस्थिति पर ऐतराज़ था; लेकिन जब इसमें एक और मुस्लिम लीगी नेता को सम्मिलित कर लिया गया, तो वह तैयार हो गए। फिर भी जिन्ना अपने सहयोगियों और पाकिस्तान चाहने वाली जनता से विचार–विमर्श बगैर विभाजन योजना को औपचारिक रूप से समर्थन देने हेतु उद्यत नहीं थे। पर लार्ड मांउटबेटन की इस घोषणा पर कि जिन्ना ने मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण पर सहमति का आश्वासन दिया है, तब उन्हें भी इसके पक्ष में सिर हिलाने के अलावा और कोई चारा न था।

लार्ड माउंटबेटन इस प्रकार विभिन्न कठिनाइयों के बीच 2 जून के सम्मेलन में अनौपचारिक रूप से स्वीकृत प्रस्तावों को औपचारिक रजामंदी प्रदान कराने में सफल हो गए। 3 जून को राजनेताओं की ओर से जनता में इस समझौते की घोषणा कर दी गई।

जवाहरलाल नेहरू इस समझौते से खुश नहीं थे। उन्होंने व्यथित हृदय से इसका समर्थन किया। जिन्ना ने लार्ड माउंटबेटन की निष्पक्षता की

भरपूर सराहना की, अपने सहयोग की पेशकश की और सीमान्त प्रदेशों में मुस्लिम लीग का आंदोलन समाप्त करने का आह्वान किया। उन्होंने सभी समुदायों से हिंसा त्यागने की पुरजोर अपील की। पंजाब में सिखों का विभाजन होना था। उनकी तरफ से सरदार बलदेव सिंह ने समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। उस राजनैतिक प्रक्रिया का उस राजनैतिक प्रक्रिया का 3 जून, सन् 1947 की मांउटबेटन योजना में विवेचन था, जिसके अनुसार विभाजन की रेखा बनायी जानी थी। बंग, पंजाब और सिंध में प्रांतीय धारा सभाओं को इस विषय में फैसले पंजाब में विधान सभाएं दो पक्षों—मुस्लिम और गैर मुस्लिम प्रान्तों में विभक्त होनी थीं तथा अगर एक भी पक्ष विभाजन के होना था और यदि दोनों पक्ष मिलकर फैसला दें कि पंजाब एक रहेगा, तो विधानसभा में इस बात पर मतदान होगा कि वह किस संविधान सभा के साथ रहनाा चाहती है। सीमा प्रदेश में जनमत संग्रह होना था। अगर बंग विभाजन के पक्ष में हुआ, तो असम में सिलहट प्रांत में जहां मुसलमानों की संख्या ज्यादा थी, जनमत संग्रह होना था। यदि वहां की जनता पाकिस्तान से मिलने के पक्ष में हुई, तो उसे पूर्व बंगाल में जाना था। सन् 1948 ई॰ पूर्व सत्ता जून से पूर्व हस्तान्तरित होनी थी और इस प्रकार दोनों सरकारों को जिन्हें प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र का दर्जा मिलना था, अपनी संविधान सभाओं के माध्यम से भी यह फैसला लेना था कि वे राष्ट्र मण्डल में शामिल होंगी अथवा नहीं। उधर मुस्लिम लीग काउंसिल ने पंजाब और बंग के विभाजन का सिद्धान्त अस्वीकार करके माउंटबेटन योजना स्वीकार करने के पूर्ण अधिकार पाकिस्तान के मसीहा जिन्ना को दे दिए। 14 और 15 जून, 1947 ई॰ में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठकें हुई, जिनमें माउंटबेटन योजना 29 के बदले 153 मतों से स्वीकृत कर दी गई। 36 सदस्यों ने अपने मत का प्रयोग नहीं किया।

गांधी जी इन बैठकों में विभाजन के विरुद्ध होते हुए भी उपस्थित थे। उन्होंने इस समय न तो अपना विरोध प्रगट किया और सहमति दिखायी। कांग्रेस समाजवादियों ने इसका बहिष्कार किया। कांग्रेसी मुस्लिम और कुछ अन्य नेता भी इस विभाजन के खिलाफ थे। इस विषम परिस्थिति में काफी कष्ट और दुःख के साथ यह निर्णय लिया गया। लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल का विचार था कि बीमार अंग को काट देना ही बेहतर

है। जवाहरलाल नेहरू एवं अन्य नेताओं को ऐसा लग रहा था कि स्थिति कुछ ऐसी बन गई थी कि उन्हें आत्म निर्णय का तर्क स्वीकार करना ही पड़ा, क्योंकि इसके मूल में 'सीधी कार्रवाई' और अनेक वर्ष से चला आ रहा 'साम्प्रदायिक अविश्वास' भी तो था।

सत्ता के हस्तान्तरण का दिन 15 अगस्त, सन् 1947 का दिन तय किया गया था, अंतरिम सरकार की विभाजन समिति विभाजन और सत्ता के हस्तान्तरण के दुहरे कार्य हेतु प्रशासकीय व्यवस्थाएं करने की उत्तरदायी थी। लार्ड माउंटबेटन इसके अध्यक्ष थे। सरदार वल्लभभाई पटेल और डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद कांग्रेस के प्रतिनिधि थे। दो वरिष्ठ सरकारी अधिकारियों की एक संचालन समिति गठित की गई, जिसे सशस्त्र सेनाओं और सम्पत्ति के विभाजन जैसे विषयों पर विचार–विनिमय करने वाले विशेषज्ञ समितियों तथा उपसमितियों के कार्य का समन्वयन करना था।

सशस्त्र–सेनाओं पर संयुक्त प्रशासकीय नियंत्रण अप्रैल 1948 ई॰ तक दूसरी बार कमाण्डर–इन–चीफ बने औचिनलेक के पास रहना था, लेकिन संचालन का नियंत्रण सत्ता के हस्तान्तरण के साथ ही दोनों प्रभुत्व–सम्पन्न सरकारों के हाथ में चला जाना था। औचिनलेक समन्वय के लिए संयुक्त रक्षा परिषद् के प्रति उत्तरदायी थे। रक्षा परिषद् में वे लार्ड माउंटबेटन तथा उत्तराधिकारी सरकारों के रक्षा मंत्री थे। कमाण्डर–इन–चीफ का नाम सुप्रीम कमाण्डर रखा गया। वह भी रक्षा परिषद् का सदस्य था। सेना के विभाजन में सबसे मुश्किल को हरेक सदस्य को विकल्प जानना था।

कांग्रेस मंत्रीमण्डल जो सीमाप्रांत में कार्य कर रहा था उसे यह लगा कि उनके साथ धोखा किया गया है। कांग्रेस राजनेता को भी कुछ ऐसा ही महसूस हो रहा था कि उन्होंने सीमा प्रांत को धोखा दिया है। यह क्षेत्र भारत से बहुत दूर पड़ता था और जनमत संग्रह से विस्फोटक स्थिति होने की सम्भावना थी। यह स्थिति देख खान बंधुओं ने पठानिस्तान का प्रस्ताव रखा। पठानिस्तान एक पृथक् राज्य बनता जिसमें सीमा प्रांत और उसके साथ लगे कबायली क्षेत्र शामिल होते, किन्तु माउंटबेटन योजना के अन्तर्गत विकल्प सिर्पफ दो ही थे–भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होना। खान

बंधुओं के लाल कुर्ती दल ने जनमत संग्रह का बहिष्कार किया और उसका नतीजा यह निकला कि भारी बहुमत पाकिस्तान के पक्ष में रहा। आशा के अनुरूप, पंजाब और बंग में निर्णय विभाजन के पक्ष में तथा सिंध, बुलोचिस्तान और सिलहट प्रांत में जनमत पाकिस्तान के पक्ष में रहा। जवाहरलाल नेहरू को सीमा प्रदेश की चिन्ता हमेशा सताती रही और वे कभी भी खान बंधुओं की भावी स्थिति को विस्मृत नहीं कर सके तथा उनके प्रति सदा प्रेमभाव बना रहा।

लंदन की संसद के दोनों सदनों में भारत स्वाधीनता विधेयक पारित होना था। वह एक पखवाड़े में ही पारित हो गया। यह आस्ट्रेलिया, कनाडा, दक्षिण अफ्रफीका के कानूनों से अलग था तथा विभिन्न अफ्रफीकी लोगों को सत्ता सौंपने का मॉडल बना। संवैधानिक तौर पर भारतीय स्वाधीनता का जन्म लंदन में होना था, लेकिन किसी भी तरह की कानूनी औपचारिकताएं कार्य की स्वतंत्रता में बाधक थीं। ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश भारत में सरकार के हाथ से सत्ता का हस्तान्तरण भारत और पाकिस्तान सरकारों को तय तिथि पर किया जाना था। ब्रिटिश हाथ को रियासतों तक के सिर पर से हटना था। उन्हें भारत या पाकिस्तान के साथ मिलने या स्वाधीन रहने की पूरी आजादी थी। उन्हें भारत या पाकिस्तान के क्षेत्र की व्याख्या की जा चुकी थी। हरेक राष्ट्र का अध्यक्ष गर्वनर जनरल होना था तथा दोनों राष्ट्रों का एक ही गवर्नर जनरल रह सकता था। नए संविधान तैयार होने तक सन् 1935 का अधिनियम और उसके साथ के आर्डर–इन–काउंसिल लागू रहने थे। केवल गवर्नर जनरल और प्रान्तीय गवर्नरों के आरक्षित तथा विशेष अधिकार वापस ले लिए गए थे। ब्रिटिश भारत में 15 अगस्त को लागू समस्त कानून उस समय तक बने रहने थे, जब तक कि नई प्रभुतासम्पन्न विधान सभाएं इनमें संशोधन न कर दें। सबसे प्रमुख व्यवस्था यह थी कि संविधान सभा विधान सभाओं और इसके साथ–साथ संविधान निर्मात्री सभा का भी काम करेगी। इन सब में अत्यंत भयावह व्यवस्था थी, रियासतों को संवैधानिक दर्जा प्रदान करने की; चूंकि कुछ भारतीय रियासतें तो हर तरह से सक्षम थीं और उन्हें राजनैतिक विभाग के अधिकारियों से पूरा प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा था। कश्मीर रियासत की स्थिति जटिल थी। हैदराबाद का निजाम स्वयं को

विश्व का सबसे प्रमुख शासक मानता था। ट्रावनकोर के दीवान, सी॰ पी॰ रामास्वामी, जो पुराने कांग्रेसी और उदारदलीय थे, स्वाधीन होने की बात कर रहे थे। इसकी मुख्य वजह यह भी थी कि वे सागर के साथ पाकिस्तान से मिले होने के कारण, उससे मिलने हेतु दबाव से बचना चाहते थे। ज्यादातर विलय के पक्ष में थे और लार्ड माउंटबेटन के एक भाषण में रियासतों को स्वतंत्र होने की बात न सोचने की सलाह दी। निश्चित तिथि तक, तीन रिसायतों को छोड़कर शेष सभी ने भारत में विलय की संधि पर हस्ताक्षर कर दिए थे। संवैधानिक तौर पर, जिनके साथ में शासन था, चयन करना था; किन्तु शासकों को वे अपनी प्रजा की भावनाओं को भी नजरअंदाज नहीं कर सकते थे। भारतीय रियासतों के जन–आंदोलन ने शासकों को ब्रिटिश प्रदत्त विकल्पों और बालकनीकरण की उनकी शक्ति को सीमित कर दिया था। लार्ड माउंटबेटन भारत और पाकिस्तान के गवर्नर जनरल बनने थे और समन्वय का कार्य भी उन्हीं कंधों पर था। उन्हें कांग्रेस ने स्वतंत्र भारत का गवर्नर जनरल बनाने का प्रस्ताव रखा और यह विचार किया कि पाकिस्तान भी ऐसा ही करेगा। लेकिन वहां पर जिन्ना ने स्वयं गवर्नर जनरल का पद स्वीकार करने का निर्णय करके राजनीतिक तथा संवैधानिक जटिलता उत्पन्न कर दी। इससे ऐसा मालूम होता था कि जिन्ना प्रधानमंत्री बनकर जवाहरलाल नेहरू के समकक्ष नहीं रहना चाहते थे। लेकिन उनके कुछ ऊपर वे यह दिखला देना चाहते थे कि पाकिस्तान कांग्रेस की तुलना में ब्रिटेन की प्रभुसत्ता में कम है। इसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि जिन्ना दिल से माउंटबेटन को न चाहते हों। कालान्तर में पाकिस्तानी राजनीतिज्ञों ने लार्ड माउंटबेटन पर भारत का पक्षपाती होने का आरोप लगा ही दिया था।

धीरे–धीरे स्वतंत्रता की निश्चित तिथि नजदीक आती जा रही थी और अंतरिम सरकार में तनाव की खाई चौड़ी होती जा रही थी। लार्ड माउंटबेटन ने ऐसी स्थिति को अपनी सूझ–बूझ से सम्भाला उत्तराधिकारी सरकारों के लिए दो अस्थायी प्रशासनों में विभाजन करके उन्होंने तनाव को कम किया। पंजाब विभाजन की सम्भावनाओं के साथ ही हिंसा फैली और जब सर सिरिल रेडक्लिफ की अध्यक्षता में सीमा आयोग पंजाब और बंग में विभाजन रेखांकन हेतु तैयारी कर रहा था, तब अनिश्चितता का

वातावरण व्याप्त था। सर सिरिल रेडक्लिफ की सहायता हेतु कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा मनोनीत होई कोर्ट के दो–दो जज थे, जस्टिस एवं विवादास्पद मामलों पर सर सिरिल रेडक्लिफ का वोट अंतिम एवं निर्णायक होता था।

अंततः स्वतंत्रता प्राप्ति का वह क्षण आ ही गया। स्वतंत्रता प्राप्ति की अनुमति ने देश विभाजन के दुःख को दबा दिया। जिस प्रकार भी मिली, जिस रूप में भी मिली, खुले मन से देशवासियों ने उसका स्वागत किया। जवाहरलाल नेहरू ने 14 अगस्त, सन् 1947 ई० की अर्द्धरात्रि से कुछ पूर्व संविधान सभा में यह स्मरणीय भाव प्रवण भाषण दिया, 'बहुत वर्ष हुए हमने भाग्य देवी से एक सौदा किया था और अब अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का समय आया है—पूरी तौर पर या जितनी चाहिए उतनी ही नहीं, फिर भी काफी हद तक। जब आधी रात के घंटे बजेंगे, जबकि पूरी दुनिया सो रही होगी, उस समय भारत में हम पुराने को छोड़कर नये जीवन में पग धरते हैं, जबकि एक युग का अंत होता है। जबकि राष्ट्र की चिरदलित आत्मा उद्धार प्राप्त करती है। यह सही है कि इस गम्भीर क्षण में हम भारत और उसके लोगों और उससे भी बढ़कर मानवता के हित हेतु सेवा अर्पण करने की शपथ लें। भारत ने इतिहास के उषाकाल में अपनी अनंत खोज शुरू की। दुर्गम सदियां उसके उद्योग, उसकी विशाल सफलता और उसकी असफलताओं से भरी मिलेंगी। चाहे अच्छे दिन रहे हों, चाहे बुरे, उसने इस खोज को आंखों से ओझल नहीं होने दिया; न उन आदर्शों को ही भुलाया, जिनसे उसे शक्ति प्राप्त हुई। आज हम दुर्भाग्य की एक अवधि पूरी करते हैं और भारत ने अपने आपको फिर पहचाना है। जिस कीर्ति पर हम आज आनन्द मना रहे हैं, वह और भी बड़ी कीर्ति और आने वाली विजयों की दिशा में सिर्पफ एक पग है, और आगे के लिए अवसर देने वाली है। इस मौके को ग्रहण करने और भविष्य की चुनौती स्वीकार करने के लिए क्या हममें काफी साहस और काफी बुद्धि है?

देश की एकता के प्रश्न

सन् 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश सत्ता से भारत को मुक्ति मिल गयी थी। अब देशवासियों के समक्ष जो पहला कार्य था वह था राष्ट्रीय

एकता को बनाए रखना एवं उसकी प्रारंभिक अखंडता की रक्षा करना। साथ ही साथ एक अन्य महत्वपूर्ण कर्तव्य यह भी था कि अपने देश को वैधानिक एवं राजनीतिक तौर पर मजबूत करे। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत राजनीतिक एकता एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न की गयी।

देश की बागडोर सम्भालते ही जवाहरलाल नेहरू देशी रिसायतों का मसला के समक्ष आया। सामन्ती नरेश आसानी से अपनी स्वतन्त्रता भारत संघ को सौंपने के लिए राजी नहीं थे। उधर गांधीजी ने कई बार यह घोषणा की थी कि वे रियासतों के दुश्मन नहीं हैं और उन्होंने कांग्रेस को देशी रियासतों की जनता के आंदोलन में सीधा भाग लेने से रोका था। उनका मानना था कि वहां की जनता स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त करे।

जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य लोग गांधीजी की इस नीति से सहमत नहीं थे। गांधीजी भी यह नहीं चाहते थे कि रियासतों की जनता को सैद्धांतिक दृष्टि से अकेला छोड़ दिया जाये। उन्होंने घोषित किया कि वे कभी भी इस बात के लिए उद्यत नहीं होंगे कि रियासतों के अधिकारों को ब्रिटिश भारत की जनता के स्वाधीनता के हित में दांव पर लगा ही जाए। स्पष्टतः यह ब्रिटिश सरकार की नीति के साथ मेल नहीं खाती थी कि वे एक ऐसे संघ की स्थापना करे, जिसमें प्रान्तों के तो चुने हुए प्रतिनिधि हों; लेकिन उन्हें अनुत्तरदायी नरेशों के नामांकित सदस्यों के साथ बैठना पड़े। कांग्रेस उधर सत्ता परिवर्तन हेतु देशी रियासतों के शासकों का सहयोग भरसक पाना चाहती थी; लेकिन जब ब्रिटिश सरकार निरंकुशता का समर्थन कर रही हो, तो यही सम्भावना थी कि वे नरेश सत्ता, प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों की गलत धारणाओं के कारण भारतीय संघ से बाहर रहेंगे और अपनी जनता के विरुद्ध ब्रिटिश सेना की मदद चाहेंगे। इस बात की चर्चा थी कि इस प्रकार की सशस्त्र सहायता मांगी जाएगी और दी जाएगी। भारत में कुल 554 देशी रजवाड़े और रियासतें थीं, जिनका आकार इतना अलग था कि कोई यूरोप के राष्ट्रों के समान थी और किसी का आकार पहाड़ी पर खेतिहर की जो जोत होती है, उतना ही था। इन रियासतों के विकास के स्तरों में भी अंतर था और सभी में नागरिक स्वतंत्रताओं की कमी थी। वह एक मिला–जुला सुगठित खंड नहीं था,

बल्कि द्वीप थे, जो ब्रिटिश भारत द्वारा घिरे हुए थे। उनका ज्यादातर बहुमत अर्द्धस्वाधीन अर्थव्यवस्था की स्थापना करने योग्य भी नहीं था और बड़ी रिसायतों को भी अड़ोस–पड़ोस के क्षेत्रों की मदद की जरूरत थी।

यदि उन्हें सहयोग न मिले अथवा उनका संघर्ष हो, तो वे शत्रु के साथ हो जाते और यदि उन्होंने अपनी रक्षा हेतु किसी विदेशी शक्ति पर निर्भर किया तो ये स्वतंत्र भारत के लिए संकट होता। किसी सर्वोपरि बड़ी सत्ता के समर्थन के बगैर उनका जीवित रहना सम्भव नहीं था। इन रिसायतों का ब्रिटिश ताज के साथ या ब्रिटिश संसद के साथ कोई अलग से सम्बन्ध नहीं था और वायसराय ने सर्वोपरि सत्ता की तरफ से इन रियासतों के ऊपर प्रभावशाली प्रभुत्व स्थापित रखा था। यह सर्वोपरि सत्ता का अन्तःसत्ता के हस्तान्तरण के साथ ही होना था। इन रियासतों में सिर्पफ चालीस ऐसी थीं, जिनके साथ संधियां की गयी थीं। इसके साथ या तो वायदे थे अथवा सनदें थीं, जिनको एटिकिंसन ने एक जगह पर एकत्रित करके दीमकों के खाए जाने से बचा दिया और वे अब किसी मामले को प्रमाणित करने के लिए उसी का वर्णन किया करते। पहली बार सन् 1935 के भारत सरकार के अधिनियम में इस बात में फर्क किया गया कि ब्रिटिश संसद के इन रियासतों के साथ और शेष भारत के साथ क्या सम्बन्ध थे। रियासतों को सीधा वायसराय के अधीन रखा गया और उसे ताज के प्रतिनिधि की उपाधि प्रदान की गई तथा राजनीतिक विभाग को कार्यकारी परिषद् के क्षेत्र से हटाकर सीधे वायसराय के अन्तर्गत कर दिया गया। उन्हें संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया जा रहा था, जबकि बटलर कमेटी के अनुसार, 'यह कथन कि जब भारतीय रियासतें ब्रिटिश सत्ता के साथ सम्पर्क में आईं, उस समय वे स्वाधीन थीं, ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती थीं। इनमें से कुछ की रक्षा की गई, अन्य को बनाया गया जिससे कि ब्रिटिश सत्ता का भारत में प्रभुत्व मजबूत किया जा सके यद्यपि सर थामस मुनरो जैसे राज्यपाल भी थे, जो इसका विरोध करते थे। इनको ब्रिटिश संविधान के भीतर सुरक्षित किया जाना था और इन्हें बालकन प्रणाली का भारतीय रूप बनाना था।

सन् 1957 की प्रथम महाक्रांति में ज्यादातर भारतीय नरेशों ने अंग्रेजों

का साथ दिया, या तो उन्होंने अपनी सहानुभूति दर्शायी अथवा उनके साथ कार्रवाई में मदद की। अतः उनकी प्रतिष्ठा प्रदर्शन की बड़ी प्रशंसा की गई। जो सन् 1857 के लिए सही था, वह सन् 1947 के लिए पुराना पड़ चुका था। लेकिन इसे स्वीकारा नहीं गया और भारतीय राष्ट्रवादियों में यह भावना थी कि दिल्ली का राजनीतिक विभाग चाहता है कि भारतीय रियासतें कम से कम भारत में ब्रिटेन के पंचमार्गियों के रूप में स्थापित रहें। असल में रियासतों का एकीकरण, आशाओं के प्रतिवूफल, एक सरल और सीधा–साधा कार्य था और बिस्मार्क ने जर्मन राज्यों के एकीकरण हेतु जो किया, उससे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। भारत में यह एक अहिंसक कार्रवाई थी। रियासत प्रणाली की जड़ों में घुन लग चुका था। यह उनके शासकों ने स्वीकार कर लिया था कि वे देर तक अपनी प्रजा के उस आंदोलन के दबाव को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे, जिसे स्वाधीन भारत की राजनीतिक जागृति का समर्थन प्राप्त हो। जो अंग्रेज भारत से वापस जा रहे थे, वे सिर्पफ इसीलिए नहीं वापस जाएंगे कि उन शासकों की रक्षा करें, जो भारत संघ के प्रति विद्रोह कर रहे थे और इस तरह भारतीय जनता की सद्भावना खो दें। एक दर्जन को छोड़कर शेष रियासतें भारतीय संघ के क्षेत्राधिकार के अधीन थीं और भारतीय राजनीतिज्ञों ने अपने पक्ष को समझाने–बुझाने की भाषा में स्पष्ट कर दिया था। जो युवा और आधुनिक विचारधारा के शासक थे, उनको ब्रिटिश भारत से गए हुए दीवानों ने भी कुछ सामाजिक सलाह दिए।

लार्ड माउंटबेटन जिस समय योजना कार्यरत थी, ज्यादातर शासकों की यह भावना थी कि वे भारतीय संघ में सम्मिलित हों और लार्ड माउंटबेटन ने उन्हें सलाह दी कि वे बिना हिचकिचाहट इस पर अमल करें। कांग्रेसी नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे उन शासकों के साथ जो भारत संघ में शामिल होना चाहें, न्यायोचित ढंग से व्यवहार करेंगे। सम्मिलन हेतु जो दस्तावेज तैयार किया गया, उसका उद्देश्य यह था कि नरेश शीघ्रता से भारत संघ में शामिल हो जाएं। रक्षा, विदेश मामले और संचार व्यवस्था जिसकी सर्वोपरि सत्ता देखभाल करती थी, राजाओं द्वारा भारत सरकार के नियंत्रण में हस्तान्तरित कर दी गई।

हैदराबाद, जूनागढ़ और कश्मीर रियासतों को छोड़कर उन सभी रियासतों के शासकों ने जो भारत के नजदीक थीं अथवा भारत के क्षेत्र में थीं, भारत में 15 अगस्त तक शामिल होना स्वीकार कर लिया। सबसे अधिक ट्रावणकोर राज्य हठी था। इसके दीवान सर सी॰ पी॰ रामास्वामी अ यर ने अन्त तक अपना फैसला नहीं लिया था; चूंकि वह अपने रिसायत को स्वतन्त्र बनाए रखना चाहता था। उसका कहना था कि अगर धरती से वह भारत से मिला–जुला था, तो सागर द्वारा पाकिस्तान का पड़ोसी था। वह भारत संघ के दबाव के कारण ही अपना निर्णय कर सका था। जूनागढ़ रियासत को शामिल करने हेतु बल प्रयोग किया गया। इसका शासक मुसलमान था पर प्रजा ज्यादातर हिन्दू थी, उसका पाकिस्तान के साथ कोई लेना–देना नहीं था। फिर भी वह पाकिस्तान द्वारा पुफसला लिया गया कि वह पाकिस्तान में शामिल हो जाए।

भारत सरकार ने इस संबंध में जूनागढ़ के नवाब और पाकिस्तान से तर्क किया कि यह सम्मिलन ठीक नहीं है और यह भारत की सुरक्षा हेतु खतरा है। फिर भी कोई समझौता न हो सका और मजबूर होकर भारत की सशस्त्र सेनाओं ने, जिनके साथ जूनागढ़ और उससे बाहर गुजरात की लोकप्रिय शक्तियां थीं, जूनागढ़ में प्रवेश किया। वहां मतदान के फलस्वरूप भारत में सम्मिलित होने का फैसला लिया गया। हैदराबाद भारत की सबसे बड़ी रियासत थी और इसका शासक निज़ाम ब्रिटिश ताज का एक विश्वसनीय दोस्त माना जाता था। पहले यह छोटी–सी रियासत थी; लेकिन टीपू सुलतान को पराजित करने के बाद इसकी सीमाओं का विस्तार हो गया था। इसके विस्तार में अंग्रेजों ने उसकी मदद की थी और उसने उनके तहत रहकर काम करने का आश्वासन दिया था। भारत की स्वाधीनता के समय निजाम का गर्व कम नहीं हुआ था। उसने सर मिर्जा इस्माईल और नवाब छतारी जैसे प्रधानमंत्रियों के सुझाव का लाभ खो दिया था और एक मक्कार वूफटनीतिज्ञ तथा षड्यंत्रकारी लायक अली के पाश में फंस गया था। यह लायक अली उस मुस्लिम सामन्तवाद के हितों का प्रतिनिधित्व करता था, जिसने काफी ज्यादा मत वाले हिन्दुओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित रखा था और वह उस प्रभुत्व को स्थापित रखना चाहता था। निज़ाम के पास उस समय 50 सहस्र सैनिक थे। उनके

भारतीय और विदेशी सलाहाकारों ने उसे प्रोत्साहन दिया कि वह मुकाबला करने की सोचे। वह कासिम रिजवी से भी प्रभावित था, जो कि रज़ाकारों का युद्ध नेता बन गया था। ये दो लाख अनियमित सैनिक थे और मुस्लिम साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावाद का प्रतिनिधित्व करते थे, स्थिति अत्यंत गम्भीर थी।

सिडनी काटन ने ने चोरी छिपे शस्त्र लाकर इस तनाव को और बढ़ा दिया। हैदराबाद की स्थिति का खूब बढ़ा–चढ़ाकर बखान किया गया। निज़ाम की शक्ति इस बात में थी कि उसे पाकिस्तान और ब्रिटेन से सहायता मिलती थी। इस स्थिति को देखते हुए भारत सरकार ने धैर्य स काम लिया और यह विचार किया कि कदाचित् आन्तरिक दबावों के कारण निजाम को सद्‌बुद्धि आ जाए। लेकिन आंतरिक दबाव का कोई प्रदर्शन नहीं था, बावजूद इस बात के कि पड़ोसी राज्यों से विरोध करने वालों से शस्त्र मिल रहे थे। दमन चक्र जारी था और जैसे–जैसे कत्लेआम की धमकियां दी जा रही थीं वैसे–वैसे बंधकों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी। साम्यवादी रजाकारों की मदद कर रहे थे, यह सोचकर कि उनमें से कुछ क्रांतिकारी थे, जो सामन्तवादी उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। भारत सरकार द्वारा उस समय लिए गए निर्णय को 'पुलिस कार्रवाई' कहा गया।

जनरल राजेन्द्र सिंह के नेतृत्व में भारत सरकार ने निजाम को दबाने हेतु सैनिक भेजे। 13 सितम्बर को उन्होंने हैदराबाद राज्य में तीन ओर से प्रवेश किया। निजाम की धमकी की पोल खुल गई। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान ने हैदराबाद में भारत के तथाकथित आक्रमण के विरुद्ध एक शिकायत दर्ज की, जिसका कोई परिणाम नहीं निकला और ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली ने उस समय के ब्रिटेन के रुख के अनुसार भारत के दृष्टिकोण को युद्धप्रिय कहकर उसकी आलोचना की। चार दिनों के अंदर निज़ाम की सरकार ने आत्म समर्पण कर दिया। मैत्री का व्यवहार निजाम के साथ किया गया। सेना का नियंत्रण एक वर्ष तक रहा। कश्मीर, तीसरी रियासत थी, जिसका मसला अभी तक सिर दर्द बना हुआ है। यह रियासत तात्कालिक नरेश हरी सिंह के प्रपितामह गुलाब सिंह को ईस्ट

इंडिया कम्पनी ने बेच दी थी। यहां की प्रजा ज्यादातर मुसलमान थी। उन दिनों मुस्लिम नेशनल कांप्रफेंस के नेता शेख अब्दुल्ला थे। कालान्तर में इस कान्प्रेंफस का नाम कश्मीर राट्री कांप्रफेस पड़ गया था। हिन्दू भी इसमें सक्रिय भाग लेने लगए गए थे। प्रजा आन्दोलन में जवाहरलाल नेहरू की भी रुचि थी और वे कश्मीरियों के अन्य नेताओं की तरह शेख अब्दुल्ला के और नजदीक आ गए थे। जून 1946 ई॰ में जब मंत्रिमडल मिशन राजनैतिक नेताओं के साथ बातचीज कर रहा था, तब वे शेख अब्दुल्ला की रक्षा के लिए कश्मीर दौड़े गए थे। शेख अब्दुल्ला पर उन दिनों राहद्रोह का अभियोग चल रहा था।

जवाहरलाल नेहरू का कश्मीर राज्य में प्रवेश पर रोक लगा दी गई थी; पर उन्होंने उस प्रतिबंध की परवाह न करते हुए प्रवेश किया और वे नजरबंद कर लिए गए। तभी नई दिल्ली में मंत्रिमण्डल मिशन के साथ वार्ता करने हेतु उनकी जरूरत महसूस की गई। श्रीनगर में उन्हें ब्रिटिश रेजिडेंट के द्वारा वायसराय की हस्तक्षेप करने पर छोड़ा गया और वह भी तब, जब मौलाना अबुल कलाम आजाद ने यह आश्वासन दिया कि कांग्रेस कश्मीर के संघर्ष को अपना संघर्ष बनाएगी और यदि् जरूरत होगी, तो गांधी जी स्वयं कश्मीर जाएंगे। जवाहरललाल नेहरू का अचानक इस मामले में फंस जाना असामयिक लगा; लेकिन वे शेख अब्दुल्ला के बचाव में मदद करना चाहते थे और उन्हें यह अपेक्षा नहीं थी कि राजा हरी सिंह राज्य में उनके प्रवेश पर निषेधाज्ञा लगायेंगे। कश्मीर नरेश हरी सिंह ने भारत की स्वाधीनता से पूर्व और उसके पश्चात् विचित्र प्रकार का व्यवहार किया, जिससे कश्मीर एक स्थायी समस्या बनकर रह गया। यह उनको अधिकार था कि चाहे भारत में मिल जाते अथवा पाकिस्तान में और शासकों के इस अधिकार को जिन्ना ने स्वीकार कर लिया था, जिनकी देशी रियासतों के प्रजा आंदोलन में कोई दिलचस्पी नहीं थी; लेकिन कश्मीर के शासक हरी सिंह ने ढील–ढाल की। अपने दीवान महाजन की सलाह उन्होंने नहीं मानी। पाकिस्तान के साथ उन्होंने ज्यों का त्यों रहने वाला समझौता कर लिया तथा जिन्ना की प्रार्थना को भी नामंजूर कर दिया। 1947 के अन्त के समय रालवपिंडी की ओर से सशस्त्र घुसपैठियों ने कश्मीर राज्य में घुसपैठ प्रारंभ की और उन्होंने बढ़ना शुरू कर दिया।

घुसपैठियों जिस तरफ भी गए, उधर ही नरसंहार, लूटमारी, आगजनी तथा बलात्कार करने शुरू कर दिए। इनके अतिरिक्त भी और जो जुल्म वे ढा सकते थे, ढाये। इनका जुल्म भयभीत किए हुए था। इनका आतंक जब श्रीनगर तक पहुंच गया तो कश्मीर नरेश ने इस खतरे को समझा, सामान बांधा और जम्मू निकल आए। मुख्यतः जम्मू हिन्दू क्षेत्र की राजधानी थी। कश्मीर नरेश ने यहां पहुंचते ही भारत सरकार से मदद मांगी। उनके भारत में सम्मिलित पत्र पर हस्ताक्षर होने के बाद भारतीय सेनाएं श्रीनगर घाटी में वायुयानों द्वारा भेजी गई। भारतीय सैनिकों के हस्तक्षेप करने से शीघ्र संघर्ष का रुख बदल गया। राजा हरी सिंह और उनका राज्य बाल–बाल बच गया। भारत सरकार की तरफ से वायुयान द्वारा सेना को भेजने का निश्चय भी अन्तिम क्षणों में किया गया था। कश्मीर की रक्षा के निर्णय को गांधी जी ने अपना आर्शीवाद प्रदान किया था। जो जोखिम इस समय उठायी गई थी, वह सही निकली।

कश्मीर राष्ट्रीय कांप्रेफंस ने शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में सामान जुटाने, एक नागरिक सेना खड़ी करने और विरोध करने हेतु जनमत को जागृत करने हेतु बहुत शौर्य का कार्य किया। भारत के गवर्नर जनरल की हैसियत से लार्ड माउंटबेटन ने घोषित किया कि जब मामला सुलझ जाएगा, तो जनता की इच्छाओं को जाना जाएगा। इस घोषणा से जनमत संग्रह के विचार और तदुपरांत होने वाले वाद–विवाद का श्रीगणेश हुआ। 2 नवम्बर, 1947 ई॰ को जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली से प्रसारित किया था... कश्मीर खतरे में था और आक्रमणकारी उसके दरवाजे तक आ गए थे। वहां न कोई शासक रह गया था, न सैनिक थे, न पुलिस थी। रोशनी और बिजली भी वहां नहीं थी और वहां अनेक शरणार्थी एकत्रित हो गए थे। फिर भी श्रीनगर में कोई प्रत्यक्ष खलबली नहीं थी। दुकानें खुली हुई थीं और लोगों का गलियों में आना–जाना जारी था। यह अजीबो–गरीब घटना कैसे घटी! शेख अब्दुल्ला और नेशनल कांप्रेंफस के उनके साथियों और उनके निहत्थे मुसलमान, हिन्दू और सिख स्वयंसेवकों ने स्थिति को हाथों में लिया, व्यवस्था बनाए रखी और घबराहट नहीं पैदा होने दी।

एक ऐसे समय में जबकि अधिक लोगों की हिम्मत जवाब दी गई

होती, उन्होंने अद्‌भुत कार्य कर दिखाया। वे अपने संगठन की शक्ति के कारण ऐसा कर सके; लेकिन इससे भी बढ़कर इस कारण कि वे अपने देश की, ऐसे निर्दयी आक्रमणकारी से रक्षा करने पर तुल हुए थे जो उनके देश का विनाश कर रहा था और आतंक पैदा करके उन्हें पाकिस्तान में शरीक होने पर विवश करने का प्रयत्न कर रहा था। भविष्य में जो भी हो, कश्मीर की घाटी के लोगों ने इन पिछले कुछ दिनों में आश्चर्यजनक साहस, संगठन की योग्यता तथा एकता दिखाई। यह अत्यंत खुशी की बात होती कि सारा भारत जो कि साम्प्रदायिक झगड़ों की वजह से विषाक्त हो गया है, इससे सबक सीखे। एक बड़े नेता शेख अब्दुल्ला की प्रेरणा से घाटी के लोग मुसलिम, हिन्दू और सिख अपने देश की रक्षा हेतु जो कि समान रूप से सबका है, आक्रमणकारी के विरुद्ध मिलकर एक हुए। जनता की इस मदद और सहयोग के बिना हमारे सैनिक बहुत कम कर पाते। इस नाजुक मौके पर शेख अब्दुल्ला को शासन का प्रधान बनाने के फैसले पर कश्मीर के महाराजा बधाई के पात्र हैं। अपनी जनता को स्वतंत्रता का संरक्षक और ट्रस्टी बनाना ही बड़ी बुद्धिमत्ता का काम था, जिसका कि और शासक अनुकरण कर सकते हैं। अतः यह याद रखना चाहिए कि कश्मीर की लड़ाई एक लोकप्रिय नेता के नेता के नेतृत्व में कश्मीर के लोगों की हमलावर के विरुद्ध लड़ाई है।

हमारे सैनिक वहां इस युद्ध में मदद देने गए हैं और जैसे ही कश्मीर आक्रमणकारियों से मुक्त हो जाएगा, हमारे सैनिकों के वहां रहने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह जाएगी और कश्मीर के भाग्य का निपटारा कश्मीर के लोगों पर छोड़ दिया जाएगा। ऐसे–ऐसे दिन देखे हैं जो सिर्पफ कश्मीर के लिए अपितु सारे भारत के लिए संकट के रहे हैं। यह संकट कम हुआ है; लेकिन इसे समाप्त नहीं कह सकते और भी काफी खतरे हमारे सामने हैं। वहां कुछ भी होगा, उसके लिए हमें काफी सतर्क और खूब तैयार रहना है।

इस तैयारी की दिशा में पहला कदम तो यह हो सकता है कि हम भारत में सब तरह के साम्प्रदायिक झगड़ों को समाप्त कर दें और एक संगठित राष्ट्र की तरह अपनी स्वतंत्रता के प्रति हर एक खतरे का सामना

करने के लिए तैयार हो जाएं। बाहरी खतरे का अच्छी तरह सामना हम तभी कर सकते हैं, जबकि हमारे यहां भीतरी शांति और व्यवस्था हो और राष्ट्र संगठित हो। कश्मीर पर धावा करने वालों और आक्रमणकारियों की बात की जाती है लेकिन ये लोग सिर्पफ पूर्ण रूप से हथियारबंद और सुरक्षित हैं; अपितु कुशल नेतृत्व में हैं। ये सभी पाकिस्तान के क्षेत्र से होकर आए हैं। पाकिस्तान सरकार से यह पूछने का हमें अधिकार है कि ये लोग सीमा–प्रान्त या पश्चिमी पंजाब पार कर वहां कैसे पहुंचे और और कैसे ये पर्याप्त रूप से हथियारबंद हैं? यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भंग करना और एक पड़ोसी राष्ट्र के प्रति अमित्रता का व्यवहार करना नहीं है? क्या पाकिस्तान सरकार इतनी दुर्बल है कि उसके क्षेत्र को पार कर दूसरे देश पर आक्रमण करने वाली फौजों को वह रोग नहीं लग सकती या वह चाहती है कि ऐसा आक्रमण हो इसके अलावा दूसरी बात नहीं हो सकती। बार–बार हमने पाकिस्तान सरकार से कहा है कि वह इन आक्रमणकारियों को आने से रोके और जो आ गए हैं; उन्हें लौटा ले। इनका रोकना पाकिस्तान सरकार के लिए आसान है; चूंकि कश्मीर में पहुंचने वाली सड़कें बहुत नहीं हैं और वे पुलों को पार करके आती हैं। हम अपनी तरफ से कह सकते हैं कि जब आक्रमण का खतरा पूरी तरह दूर जो जाएगा, जो अपनी सेना का कश्मीर में उपयोग करने की हमारी कोई इच्छा नहीं है।

घोषणा की गयी है कि कश्मीर के भाग्य का अन्तिम फैसला वहां के लोगों के साथ रहेगा। हमने यह प्रतिज्ञा न सिर्पफ कश्मीर के लोगों से बल्कि सारे संसार से कर रखी है और महाराजा ने इसका समर्थन किया है। हम इससे पीछे न हटेंगे और न हट सकते। हम इसके लिए तत्पर हैं कि जब कश्मीर में शांति और व्यवस्था और कानून स्थापित हो जाएं, तो संयुक्त राष्ट्र जैसे अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण में जनमत लिया जाए। हम चाहते हैं कि जनता को न्याय और उचित तरीके से मत देने का अवसर मिले और हम उसके फैसले को स्वीकार करेंगे। इससे अधिक न्यायपूर्ण और उचित प्रस्ताव की मैं कल्पना नहीं कर सकता।

हमने कश्मीर के लोगों को इस बीच यह वचन दे रखा है कि हम उनकी आक्रमणकारियों से सुरक्षा प्रदान करेंगे और हम इस प्रतिज्ञा का

पालन करेंगे। अभी देश को स्वधीनता मिले छह महीनें भी न हुए थे कि एक वज्राघात हमारे ऊपर आन पड़ा। अहिंसा के अवतार गांधीजी की जीवन लीला समाप्त कर दी गई। 30 जनवरी, सन् 1948 की क्षुब्ध संध्या को, जब एक उन्मत्त व्यक्ति द्वारा गांधीजी की हत्या के बाद शोकातुर जवाहरलाल नेहरू ने एक स्तब्ध राष्ट्र को संबोधित किया, '... हमारे जीवन से प्रकाश जाता रहा और सब तरफ अंधेरा छा गया है। मैं नहीं जानता कि मैं आपसे क्या कहूं। हमारे प्रिय नेता, जिन्हें हम बापू कहते थे, जो राष्ट्रपिता थे, अब नहीं रहे। शायद मेरा ऐसा कहना गलत है। फिर भी हम उन्हें अब न देखेंगे, जैसा कि हम इन बहुत वर्षों से देखते आए हैं। उनके पास दौड़कर सलाह लेने या उनसे सांत्वना पाने के लिए अब हम न जा सकेंगे। यह एक भयानक आघात है, केवल मेरे लिए ही नहीं बल्कि इस देश के करोड़ों लोगों के लिए। और इस आघात की व्यथा मेरे या अन्य किसी के परामर्श से कम नहीं हो सकती।

मैंने कहा कि प्रकाश जाता रहा; लेकिन मैंने गलत कहा; क्योंकि यह प्रकाश जिसने कि इस देश को आलोकित किया, कोई साधारण प्रकाश नहीं था। इस देश को जिस प्रकाश ने इन कई वर्षों में आलोकित किया है, वह आने वाले वर्षों तक इस देश में दिखाई देगा और दुनिया देखेगी और वह अनगित हृदयों को शांति देगा। चूंकि वह प्रकाश तात्कालिक वर्तमान से कुछ अधिक का प्रतीक था और हमें ठीक माग का स्मरण दिलाते हुए तथा इस प्राचीन देश को भूलों से बचाते हुए स्वतंत्रता की ओर ले जाने वाला था। यह सब तब हुआ है, जबकि उनके सामने बहुत कुछ करने को था। हम उनके सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं सोच सकते थे कि उनकी आवश्यकता नहीं रही या यह कि उन्होंने अपना काम पूरा कर दिया। लेकिन अब, विशेष रूप से, जबकि हमारे सामने इतनी कठिनाइयां हैं, उनका हमारे बीच में न होना एक ऐसी चोट है, जिसको सहन करना बड़ा कठिन है। एक पागल आदमी ने उनके जीवन का अंत कर दिया। जिसने ऐसा किया, उसे मैं पागल ही कह सकता हूं। फिर भी, पिछले वर्षों और महीनों में देश में काफी विष फैलाया गया है और उस विष के लोगों के मन पर अपना असर डाला है। हमें इस विष का सामना करना है, पागलपन या बुराई से नहीं, बल्कि उसी ढंग से, जिस ढंग से कि हमारे प्रिय नेता ने हमें सिखाया है।

अब पहली बार याद रखने की यह है कि हम में से किसी को क्रोध के आवेश में कदाचित कोई अनुचित कार्य नहीं करना है। हमें सशक्त और दृढ़ निश्चयी लोगों की तरह आचरण करना है, सभी संकटों का जो हमें घेरे हए हैं, दृढ़ता से सामना करते हुए और अपने महान् शिक्षक और महान नेता की उन आज्ञाओं का, जो उन्होंने दी है, निष्ठा से पालन करते हुए और सदा यह याद रखते हुए आचरण करना है कि यदि, जैसा मुझे विश्वास है, इनकी आत्मा हमें देख रही है, तो किसी भी बात से उनकी आत्मा इतनी ज़्यादा अप्रसन्न नहीं हो सकती, जितनी कि यह देख कर कि हमने कोई निकृष्ट आचरण किया है या कोई हिंसा का काम किया है।

हमें इस प्रकार का कोई काम नहीं करनी चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम कमजोरी दिखलावें, अपितु यह कि हमें मजबूती से और मिल–जुलकर अपने आगे की सब–कठिनाइयों का सामना करना चाहिए। हमें एक साथ मिलकर रहना चाहिए और इस महान् विपत्ति के सामने अपने छोटी–छोटी तकलीफों और कठिनाइयों और आपस में झगड़ों का अंत कर देना चाहिए। यह महान् दुर्घटना हमारे लिए इस बात की द्योतक है कि हम जीवन की सभी बड़ी बातों को याद रखें और उन सभी छोटी बातों को, जिनका हम जरूरत से अधिक ध्यान करते हैं, भूल जायें। अपनी मृत्यु द्वारा उन्होंने हमें जीवन की बड़ी बातों का, उस जीवित सत्य का, स्मरण दिलाया है, और यदि हम इसे याद रखते हैं, तो भारत का भला होगा।

कुछ मित्रों का प्रस्ताव था कि महात्मा गांधी की शव कुछ दिनों तक लेपादि द्वारा सुरक्षित रखा जाए जिससे कि करोड़ों व्यक्ति उन्हें अपनी श्रद्धांजलि भेंट कर सकें। लेकिन यह उनकी इच्छा थी और इसे उन्होंने बारम्बार दुहराया था कि एक ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिए। हमें ऐसा न करना चाहिए। वे लेपादि द्वारा शरीर को सुरक्षित रखने के घोर विरोधी थे। इसलिए हम लोगों ने उनकी इच्छा का पालन करने का निश्चय किया, दूसरों की इच्छा इससे भिन्न चाहे जितनी रही हो। इसलिए शनिवार को दिल्ली शहर में यमुना नदी के किनारे उनका दाह संस्कार होगा। शनिवार को दोपहर से पहले 11.30 बजे बिड़ला भवन से उनकी अर्थी निकाली

जाएगी और यह एक पूर्व निश्चित मार्ग से चलकर यमुना नदी तक जाएगी। शाम के लगभग 4 बजे दाह संस्कार होगा। स्थान और मार्ग की सूचना रेडियो तथा समाचार पत्रों द्वारा दे दी जाएगी। दिल्ली के लोगों को, जो अपनी अंतिम श्रद्धांजलि भेंट करना चाहें, इस मार्ग के किनारे इकट्ठे हो जाना चाहिए। मैं यह सलाह न दूंगा कि बहुत लोग बिड़ला भवन आयें, बल्कि यह कि बिड़ला भवन से लेकर यमुना तक के इस लम्बे मार्ग के दोनों ओर इकट्ठे हो जाएं।

मैं उम्मीद करता हूं कि वे शांतिपूर्वक और बिना प्रदर्शन के ऐसा करेंगे। इस महान आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करने का यही सबसे अच्छा और उपयुक्त ढंग होगा। इसके अतिरिक्त शनिवार हम सबके लिए उपवास तथा प्रार्थना का दिन होना चाहिए। जो लोग दिल्ली से बाहर भारत में अन्य जगहों पर रहते हैं, वे भी निस्संदेह इस अंतिम श्रद्धांजलि में, जिस रूप में उनसे होगा, भाग लेंगे। उनके लिए भी यह दिन उपवास और प्रार्थना का होना चाहिए। और दाह कर्म के लिए निश्चित समय पर, यानी शनिवार को सायंकाल 4 बजे लोगों को नदी अथवा समुद्र तट पर जाकर प्रार्थना करनी चाहिए। जब हम प्रार्थना करें तो सब से बड़ी प्रार्थना यह होगी कि हम इस बात की प्रतिज्ञा करें कि अपने को सत्य के लिए और इस उद्देश्य के लिए, जिसके लिए हमारा यह महान देशवासी जीवित रहा और मरा, हम अपने को अर्पित करेंगे। यही सब से अच्छी प्रार्थना है जो कि हम भारत और अपने लिए कर सकते हैं। "जय हिन्द"

संयुक्त राष्ट्र में भारत सरकार की पूर्ण निष्ठा थी। अतः उसने सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान के आक्रमण के विषय में शिकायत पेश करने का निश्चय किया ताकि वह पाकिस्तान को आक्रमणकारियों को सामान व अड्डे न देने के लिए बाध्य करें। भारत सरकार को यह आशा थी कि जनता की चाहत का पता लगने से कश्मीर समझौते का मार्ग साफ हो जाएगा। पाकिस्तान आक्रमणकारियों के साथ–गांठ से मुकर गया था। उसका दावा था कि आक्रमणकारियों ने कश्मीर में इसलिए हस्तक्षेप किया कि पंजाब में साम्प्रदायिक दंगे के साथ अत्याचार किया था।

यद्यपि जम्मू में मुसलमानों पर आक्रमण हुए थे; लेकिर इस तरह से

मामला पेश किया गया था, वह अतिशयोक्तिपूर्ण था और पाकिस्तान को इससे कोई मतलब नहीं था कि पहले तो वह आक्रमणकारियों को रास्ता देकर भारत से प्रतिशोध ले और कालान्तर में आक्रमणकारियों ने जो अत्याचार किए, जिनमें बारामूला में ईसाई मठ की ब्रह्मचारिणियों के साथ बलात्कार और कत्ल तथा मठ के विध्वंस के मामले भी थे, उनके लिए अपनी जिम्मेवादी स्वीकार करें। शनैः शनैःयह साबित हो गया कि वहां पाकिस्तानी सेनाएं हैं और पाकिस्तान ने उस सच्चाई को मान लिया जो कि भारत और पाकिस्तान के लिए संयुक्त राष्ट्र आयोग से छिपाया गया था। यह आयोग सुरक्षा परिषद् के एक प्रस्ताव द्वारा भेजा गया था।

भारतीय जनता को सुरक्षा परिषद में हुए विवाद से अत्यंत निराशा हुई। उसने यह ज़्यादा सुविधाजक समझा कि भारत को पाकिस्तान के विरुद्ध शिकायत और पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध जो आरोप लगाए हैं, उन दोनों को बराबर–बराबर आंके। न्याय की बजाय सत्ता की राजनीति हावी हुई।

पाकिस्तान के तर्क भुलावे में डालने वाले थे और इसके कुछ छोटे–मोटे भूल पकड़ लिए गए कि कश्मीर में मुसलमानों को बहुत है, इसलिए स्वाभाविक था कि धर्म एवं पड़ोस के आधार पर कश्मीर पाकिस्तान में शामिल होता। कश्मीर नरेश हरी सिंह ने जिन परिस्थितियों में भारत में विलय को स्वीकार किया था, उससे ऐसा मालूम होता है कि वह बेईमानी का फैसला था और इसलिए इस बात की जरूरत है कि एक मतदान हो, जिससे कि जनता स्वाधीनतापूर्वक मतदान कर सके और वह इस विश्वास पर था कि वह स्वभावतः पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिए वोट देंगे। यह एक ऐसा विश्वास था, जो बहुत–सी शक्तियों को, जो कश्मीर के भ्रामक लेकिन साधारण तथ्यों से पूरी तरह अवगत नहीं थीं, जंचता था और इससे जो सत्ता की राजनीति में पड़ना नहीं चाहते थे, उन्हें भी पुफसलाया जाता था कि पाकिस्तान का कश्मीर पर दावा नहीं है। प्रमुख अधिवक्ताओं ने हमारे देश के दावे को प्रस्तुत किया था और बादमें तो इसके तर्क के दावे को शक्तियों ने समझना एवं पसन्द करना प्रारम्भ कर दिया था। इस सम्बन्ध में पाकिस्तान की तरफ से जरुल्ला खां, फिरोज खां

नून और भुट्‌टो ने जो तर्क दिए थे, वे आक्रामक विचार के थे और उनका प्रभाव पड़ता था। श्री कृष्णमेनन सहमत नहीं हुए। परिणामतः गुजरात में दंगे प्रारंभ हो गए। श्री मोरारजी देसाई ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। किसी तरह अनशन टूटने पर संघर्ष दब पाया। महाराष्ट्र में सन् 1957 ई॰ के आम चुनाव में कांग्रेस की स्थिति ठीक नहीं रही। इससे कांग्रेस ने शिक्षा ग्रहण की। जब 1959 ई॰ में श्रीमती इन्दिरा गांधी कांग्रेस की अध्यक्षता थी, यह समझौता हो गया कि बम्बई राज्य का विभाजन कर दिया जाए और बम्बई महानगर को महाराष्ट्र में शामिल करके उसे महाराष्ट्र की राजधानी बना दिया जाए। उन दिनों पंजाब भी संघर्ष के रास्ते पर था। सिख 'सिख राज्य' की मांग पर अड़े हुए थे जकि हिन्दू उसको 'सिक्खस्तान' कह कर आलोचना करते थे। सरदार तारा सिंह उनका नेतृत्व कर रहे थे। उन्होंने पंजाब सूबे का राग अलापना प्रारम्भ कर दिया। साम्प्रदायिक मांगों को जिनमें भाषा की समस्या को धर्म से मिला दिया गया था, आयोग ने नामंजूर कर दी। प्रमुख समस्या पंजाब की भाषा की थी। जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रभाव का उपयोग कर यह चाहा कि मास्टर तारासिंह और दूसरे सिखों को जहां तक तर्कसम्मत हो, संतुष्ट किया जाए।

हिन्दी के साथ पंजाबी को राज्य की राजभाषा के रूप में समानता का दर्जा दिया गया तथा तीन क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की गई, जो सिखों के अधिकारों की रक्षा करेगी। केन्द्रीय प्रशासन में हिमाचल प्रदेश को रखने का प्रस्ताव किया गया। भाषायी सूत्र के कार्यान्वयन पर आंदोलन और प्रतिआंदोलन हुए। तथा मास्टर तारा सिंह ने 1961 ई॰ में पंजाबी सूबे की मांग पर जोर दिया। जवाहरलाल नेहरू को संसद में इन तीनों का सामना करना पड़ा कि आंध्र और अन्य स्थानों पर उन्हें झुकना पड़ा; लेकिन वे दृढ़ रहे और उन्होंने दृढ़ता के साथ संसद में भाषण दिया।

लोकतांत्रिक विधि से राज्यों के पुनर्गठन पर फैसले लिए गए। इस कार्य में जवाहरलाल नेहरू को पं॰ गोविन्द वल्लभ की ओर से पूरी मदद मिली। वे पुनर्गठन विधेयक को संसद में पारित कराने तथा संक्रमण काल में प्रशासन में समन्वय तथा न्याय और व्यवस्था को स्थापित रखने के लिए जिम्मेवार थे। राज्यों के पुनर्गठन का कार्य आसान नहीं था, इसमें तनाव के

क्षण भी आए। फिर भी चाहे कितना ही तनाव रहे, कितने ही उपद्रव हों, कोई भी भारतीय संघ से अलग होना नहीं चाहता। प्रत्येक भारत की सीमाओं के अंदर सामान्य नागरिकता के अधिकारों के तहत सीमाओं के लिए संघर्षरत था, इस कारण नेतृत्व थोपा नहीं जा सकता था। राज्य पुनर्गठन आयोग ने जो अन्य सिफारिशें की थीं, वे राज्यों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की सिफारिशों की अनुपूरक थी। लेकिन इन सिफारिशों पर विचार करते समय राज्य सरकारों ने संकुचित दृष्टिकोण का परिचय दिया था। सुरक्षा प्रस्तावों के विकास पर दृष्टि रखने हेतु एक भाषायी आयुक्त की नियुक्ति की गई। उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में उर्दू को एक राजभाषा के रूप में रखने की मांग की गई। भाषा चाहे बहुमत वालों की हो अथवा अल्पमत वालों की, वह किसी व्यक्ति समुदाय और राष्ट्रीय जीवन का जीवन्त भाग है। संविधान की आठवीं सूची में अनेक भाषाओं का उल्लेख है, जिसमें शास्त्रीय भाषा संस्कृत भी एक है। इसको छोड़कर, सभी भाषाएं पूरी तरह विकसित हैं और उनका अपना विशाल साहित्य है। जवाहरलाल नेहरू ने इन सब भाषाओं को राष्ट्रीय भाषाएं कहा है और हिन्दी को संघ की राजभाषा। संविधान ने राष्ट्रभाषा के रूप में और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में कोई अंतर नहीं किया। संविधान सभा ने हिन्दी को राजभाषा का दर्जा देते समय जवाहरलाल नेहरू के इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया था कि हिन्दी का जो भंडार हो उसमें भारत की सामाजिक संस्कृति की प्रतिच्छाया हो और हिन्दुस्तानी के रूप में भी सम्मिलित हो।

भारतीय संविधान का अनुवाद करते वक्त काफी जटिल संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग पारिभाषिक शब्दावली में किया गया और जवाहरलाल नेहरू ने अनुवादकों और अनुवादक मण्डलों के कट्टरपन की निन्दा की। वे संस्कृत का आदर करते थे और यह स्वीकारते थे कि इसने भारतीय सभ्यता में बड़ा योगदान किया है; पर वे यह नहीं चाहते थे कि वे इसके साथ मृत भूतकाल में जीवित रहें, बल्कि यह चाहते थे कि भारत में बोली जाने वाली तथा लिखी जाने वाली भाषा, जहां तक हो सके जनता के निकट की भाषा हो। ऐसी भाषा सिर्पफ हिन्दी ही है, जिसे ज्यादातर भारतीय बोलते हैं। लेकिन हिन्दी को राजभाषा का दायित्व निभाने हेतु विकसित होना था, जिसका अभिप्राय यह था कि उसके पारिभाषिक शब्दों

का पर्याप्त मात्रा में लोगों द्वारा प्रयोग किए जाए और अहिन्दीभाषियों को इस बात की खातिर काफ़ी समय दिया जाए ताकि वे भाषा पर प्रचुर अधिकार प्राप्त कर सकें। हमारे संविधान में यह लिखा हुआ था कि अंग्रेजी संविधान के लागू होने के पंद्रह वर्ष तक संघ की सरकारी भाषा बनी रहेगी। अहिन्दी क्षेत्रों में यह भावना व्याप्त थी कि अंग्रेजी अनिश्चित काल तक चलती रहेगी। नेहरू दक्षिणी भारत के लोगों की भावना से अच्छी तरह परिचित थे। राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को मजबूत करने हेतु उन्होंने संसद में एक भाषण के माध्यम से आश्वस्त किया कि जब तक दक्षिण भारत के लोग चाहेंगे, अंग्रेजी संघ की अतिरिक्त भाषा के रूप में स्थापित रहेगी और जब समय आया, तो उन्होंने अपने वचन को पूरा किया। परिणामतः दक्षिण में हिन्दी प्रसार की जो तैयारी थी, वह मद्धिम पड़ गई। संविधान के प्रावधान के तहत, संविधान के लागू होने के पांच वर्ष बाद श्री बालाजी गोविन्द खेर के नेतृत्व में एक राजभाषा आयोग गठित किया गया। इसमें आठवीं सूची में वर्णित भाषाओं के प्रतिनिधि सदस्य थे। इनमें से सभी हिन्दी के प्रति प्रतिबद्ध थे। इस आयोग ने ईमानदारी से अपने दायित्व को निभाने का प्रयत्न किया। इसने अनेक खण्डों में अदालतों, विधानमण्डलों और प्रशासन में हिन्दी द्वारा अंग्रेजी को हटाए जाने के लिए एक कार्यक्रम तैयार किया।

इसने संतुलन बनाये रखने हेतु यह सुझाव भी दिया कि हिन्दी के साथ–साथ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का विकास हो और इससे पेश्तर कि हिन्दी संविधान में प्रदत्त स्थान को ग्रहण कर सके द्विभाषीपन के एक काल का निर्धारिण किया। लेकिन संसदीय समिति के समक्ष जिसे संविधान के तहत इस आयोग की सिफारिशों पर विचार करना था, तर्क सरल नहीं था। इस संसदीय समिति में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व अच्छा था और हिन्दी के पक्ष में कोई झुकाव नहीं था। अध्यक्ष की हैसियत से पं॰ गोविन्द वल्लभ पंत ने नरमी बरती और समझौते की भावना से कार्य किया। पर अत्यंत कठिनाई से वे सदस्यों को इस बात के लिए तैयार न कर सके कि जो संवैधानिक समझौता हुआ था, उस पर दोबारा विश्वास प्रगट करें। ऐसे सदस्यों से जो अंग्रेजी से हिन्दी में परिवर्तन समय सीमा से सहमत नहीं थे, विमति पत्र आए। गैर हिन्दी सदस्यों का रुख यह था कि

इस बात के लिए बल दें कि अंग्रेजी अनिश्चित काल हेतु चलती रहे।

जवाहरलाल नेहरू को यह पता था कि संविधान में कोई भी प्रावधान हों, भाषा के विषय में थोपने का कोई सवाल नहीं उठता, खास तौर पर जबकि हिन्दी उत्तर प्रदेश के एक ठोस आपस में मिले हुए गुट की प्रमुख भाषा थी, जबकि उत्तर प्रांतीयवासियों को इस तरह की हानि का कोई भय नहीं था। जवाहरलाल नेहरू ने जब यह आश्वासन दिया कि अंग्रेजी तब तक सहयोगी सरकारी भाषा बनी रहेगी, जब तक गैर हिन्दी राज्य ऐसा चाहें, तो उनके मन में यह स्पष्ट था कि क्या होने वाला है। इस आश्वासन के पीछे संविधान की कोई शक्ति न थी, बजाए इसके कि जब समय सीमा नजदीक आएगी, तो अंग्रेजी को चालू रखने हेतु कानून बनाना पड़ेगा। पंतजी ने हिन्दी क्षेत्र से आने वाले सरकारी प्रवक्ता के रूप में इस बात को स्वीकारने के लिए दबाव डाला। उन्हें संसद के सदस्यों को आश्वस्त करने में किसी प्रकार की दिक्कत नहीं हुई कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जो कुछ कहा है, वह पूरी सरकार को मान्य है।

राष्ट्र की एकता की रक्षार्थ जिसका राज्य पुनर्गठन के पश्चात् विश्वास हो गया था, यह जरूरत थी कि नरमी अथवा मध्यम मार्ग अपनाया जाए और इस बात को जवाहरलाल नेहरू ने स्पष्ट कर दिया था, जिसका प्रमाण था सन् 1958 ई॰ का गौहाटी अधिवेशन। इसमें यह तय हुआ था कि हिन्दी सन् 1965 ई॰ तक राजभाषा हो जाएगी और अंग्रेजी भी एक राजभाषा के रूप में व्यवहार में आती रहेगी।

उनकी नजर में अंग्रेजी विज्ञान और तकनीक की भाषा थी। वे उसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रेषण की भाषा समझते थे। वे चाहते थे कि अंग्रेजी को शिक्षण के माध्यम के रूप में शनैः शनैः परिवर्तित होना चाहिए और इसी के द्वारा भारतीय भाषाओं में क्रांति हो जाएगी। नेहरू भारत को सामाजिक संस्कृति की विविधताओं की रक्षा और उनकी समृद्धि हेतु चिन्तित थे। इससे ही भावात्मक एकीकरण की प्रक्रिया सुदृढ़ हो सकती थी। यह तभी सम्भव हो सकता था, जबकि भारतीय यह अनुभव करें कि वे पहले भारतीय हैं और कालान्तर में आंध्र, बंगाली, पंजाबी या मराठी हैं। अतः वे चाहते थे कि भारतीयों में भावात्मक दृष्टि से भारतीयता की भावना जागृत

हो, जिसका राजनीतिक और अन्य तरीकों से कोई मतभेद न हो। इसके लिए समस्त सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक राष्ट्रीय एकीकरण कांप्रफेंस बुलायी गई इसने युवा वर्ग को विविधताओं के बीच एकता का अनुभव कराने हेतु रूपरेखा तैयार की।

संसद, राष्ट्रीय विकास परिषद्, भारत की सामाजिक सशस्त्र सेवाएं, राष्ट्रीय छात्र सेना दल, अन्तर्विश्वविद्यालय खेलवूफद एवं सांस्कृतिक समारोहों सरीखी संस्थाओं के अलावा यह अनुभव किया गया कि शिक्षा प्रणाली में दूरगामी परिवर्तन करने की जरूरत है। इस तरह राष्ट्रीय एकीकरण कॉन्‍स और उसकी समितियां यह पाठ लेकर चलीं कि एकीकरण एक प्रक्रिया है और स्वतंत्रता का, संविधान का और कानूनी तथा प्रशासनकीय प्रक्रियाओं का कोई लाभ नहीं है। धर्म की भारतीय संविधान में स्वतंत्रता थी। किसी धर्म में विश्वास करने और उसे प्रकट करने की स्वतंत्रता थी। भारत मुख्यतया हिन्दुओं का देश है, पर जवाहरलाल नेहरू इसे हिन्दू राष्ट्र बनाना नहीं चाहते थे, जबकि पाकिस्तान एक इसलामी राज्य के रूप में परिवर्तित हो रहा था। वे जीवन भर धर्म निरपेक्षता की भावना का प्रचार करते रहे थे। उन्होंने अस्पृश्यता को दूर करने का भरसक प्रयास किया था। वे आर्थिक समानता के सबल पक्षधर थे। स्वाधीनता के कुछ वर्ष पश्चात् जवाहरलाल नेहरू की दृष्टि भारत की प्रादेशिक अखण्डता की तरफ गई। इसके लिए कुछ विदेशी बस्तियां जो प्रफांस और पुर्तगाल के अधीन थीं, समझौते के द्वारा शांतिपूर्ण हस्तान्तरण करने का विचार बनाया गया। प्रफांसीसी बस्तियों में सबसे बड़ी पाण्डिचेरी और पुर्तगाली बस्तियों में सबसे बड़ी गोआ थी। मुख्यतया इनमें रहने वाले लोग भारतीय थे। वे लोकप्रिय संस्थानों तथा पड़ोसी भारतीय क्षेत्रों में सम्मिलन की मांग कर रहे थे। उन दिनों प्रफांस के प्रधानमंत्री थे मैदीज प्रफांस। वे वियतनाम, टयूनीशिया और अल्जीरिया में अपनी स्थिति के कारण चिन्तित थे। वे पांडिचेरी तथा अन्य प्रफांसीसी बस्तियों का वास्तविक कब्जा भारत को एक समझौते के आधार पर देने हेतु तैयार हो गए; लेकिन प्रफांस की राजनीतिक स्थिति में अस्थिरता की वजह से बस्तियों के हस्तान्तरण में काफी वक्त लग गया।

जनरल दिगाल के नेतृत्व में जब नए गणतन्त्र की घोषणा की गई, तब इनके सत्ता हस्तान्तरण के लिए विधिवत् कानून पारित किया गया। पुर्तगाल में डॉ॰ सालाजार का अधिनायकवाद जोरों पर था। उसने पुर्तगाली सविधान में बदलाव लाकर विदेशी बस्तियों को मूल पुर्तगाल का विधायकी हिस्सा बना दिया गया था। गोआ दीव और दमन उपनिवेशों के वासी भारत में विलय के अतिरिक्त स्वशासन के लिए आंदोलन कर रहे थे। तात्कालिक विदेशमंत्री ुश्चेव–बुलानिन की इस घोषणा से नाराज होकर कि कश्मीर भारतीय संघ का एक अखण्ड भाग है, पुर्तगाल के विदेशीमंत्री के साथ वह संयुक्त वक्तव्य देकर भारतीयों को नाराज कर दिया था कि भारत में पुर्तगाल के जो भाग हैं, वे मूल पुर्तगाल के भाग हैं। गोआ का भविष्य ऐसी स्थिति में वहां के निवासियों के ऊपर निर्भर था; लेकिन वहां पर जिस प्रकार नागरिक स्वाधीनता का दमन किया गया तथा जो नृशंस सैनिक शासन लागू किया गया, इसके कारण उनकी कोशिशों और उनके कष्ट सहन की भी एक सीमा थी। यह एक निमंत्रण था कि पड़ोसी क्षेत्रों से स्वयंसेवक उनकी सहायतार्थ आएं। जवाहरलाल नेहरू ने भी गोआ को स्वतंत्र कराने के लिए शक्ति के प्रयोग न करने का कोई फैसला नहीं किया था; पर उन्हें यह आशा थी कि शांति से हस्तान्तरण हो जाएगा। वे नहीं चाहते थे कि गोआवासी और बाहर के स्वयंसेवक उस सैनिक अधिकनायकवाद के हाथों अनावश्यक कष्ट भोगें।

गोआ को इस तरह अगस्त 1955 ई॰ में समाजवादियों तथा साम्यवादियों के संयुक्त नेतृत्व में अहिंसात्मक रूप से स्वतंत्र कराने का प्रयास किया गया। लेकिन कुछ दिनों में ही पुर्तगाली रक्षकों ने बीस व्यक्तियों को अपनी गोलियों का निशाना बना दिया। ऐसा मालूम होता था कि आंदोलन चलता रहा, तो कत्लेआम होगा। जवाहरलाल नेहरू ने यह स्थिति देखकर आंदोलन के खिलाफ सुझाव दिया और सीमा बंद कर दी। उधर डॉ॰ सालाजार अड़ा हुआ था और वह गोआ में कुमुक पहुंचा रहा था। सत्याग्रहियों को पुर्तगाल की कालकोठरियों में बंद कर दिया गया था। पुर्तगालियों ने 1961 ई॰ में भारतीय तट पर आक्रमण बोल दिया। गोआ में भड़काने वाली कार्रवाईयां बढ़ती जा रही थीं। यह देखकर भारत सरकार ने 'पुलिस कार्रवाई' करने का फैसला लिया। उस समय पुर्तगाल और पाकिस्तान के बीच भी साठ–गांठ

थीं, अतः पुलिस कार्रवाई में खास सावधानियां बरती गई और भारतीय सेनाओं को दूसरे ठिकानों पर पहुंचाया गया। धरा और गगन में संचालन समन्वय के साथ गोआ में जो पुलिस कार्रवाई शुरू हुई, उसका कोई विरोध नहीं हुआ। गोआ स्वाधीनता का संघर्ष बिना रक्तपात के जीत लिया गया।

जवाहरलाल नेहरू की पश्चिमी समाचार पत्रों में कड़ी भर्त्सना की गई कि वे शांतिपूर्ण नज़रिए के वचन से मुकर गए।

इस तरह की अनेक टिप्पणियों के द्वारा वे उनके दमन को कलंकित करने का प्रयास कर रहे थे। उस समय यह विस्मृत किया गया कि जब वे शांतिपूर्ण समझौते की उम्मीद कर रहे थे, उन्होंने उस समय ऐसा कुछ नहीं कहा था कि अगर पुर्तगाल से किसी तरह की कोई इच्छित प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं हुई अथवा उनके साथियों के साथ कोई समझौता नहीं हुआ, तो कभी भी किसी प्रकार की पुलिस कार्रवाई नहीं की जाएगी। पश्चिमी समाचार पत्रों में तो पश्चिम के स्वार्थों और उनके स्वभाव पर खुल कर प्रकाश डाला गया था। भारत का नैतिक स्तर भारतीय मानदण्ड के अनुसार गिरा हुआ माना गया; लेकिन पश्चिमी मान्यताओं के आधार पर उसकी किसी तरह की चर्चा नहीं की गई।

12

नेहरू : एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

इसके बावजूद कि जवाहरलाल ने लगभग पच्चीस वर्षों तक भारतीय संग्राम में अपने आपको लगा दिया तथा स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् सत्रह वर्ष तक प्रधानमन्त्री के रूप से पूरी लगन से शिशु लोकतन्त्र के भाग्य का पथ–पदर्शन किया, उन पर आलोचना के बाणों की लगातार बौछार होती रही। उनकी धर्मनिरपेक्षवाद, समाजवाद, लोकतन्त्रीय आयोजना, नियन्त्रित स्वतन्त्रता और राष्ट्रवाद की बलि देकर अन्तर्राष्ट्रीयवाद में विश्वास आदि धारणाएँ आलोचना का मुख्य विषय बनी रहीं। डॉ. लोहिया कहते हैं, ''एशिया का यह उदारवादी नेता, भड़कीले शब्दाडम्बर के रूप में जाल फैलाने में प्रवीण है। उसके कथन को हम वास्तविकता पर आधृत नहीं मान सकते। वह भाषण में समाजवादी और क्रिया में अनुदारवादी लगते हैं। एक ओर जहाँ वह दुर्भिक्षों के विरुद्ध आवर्ती युद्ध की घोषणा करते हैं और खाद्यान्न की प्रचुरता बनाए रखने का वचन देते हैं, वहीं दूसरी ओर वह अपनी असफलताओं का दोष आसमान पर मढ़ते हैं जो वर्षा नहीं भेजता। वह निरन्तर भ्रष्टाचार और पूँजीवाद को समाप्त करने की धमकी देते हैं और साथ ही धार्मिक अनुष्ठान की पावनता के अनुरूप अपने वास्तविक धूर्ततापूर्ण स्वरूप को प्रकट करते हुए, संरक्षण, परमिट तथा ऋण प्रदान करने के द्वारा करते हैं। वह लुभावने मनोहारी शब्दों के सम्मोहन का पुट लिए झूठ और मक्कारी का मूर्त रूप है।' किसी ठोस परिणाम पर पहुँचने से पहले आलोचकों के दृष्टिकोण को देखना भी जरूरी है।

आलोचकों की यह आम राय है कि नेहरू ने हिन्दुओं की अवहेलना करके मुसलमानों को खुश करने की नीति का अनुसरण किया। आलोचकों का कहना है कि देश के विभाजन के पश्चात् भारत में रहने वाला वही एक राष्ट्रवादी मुसलमान है। अपने 1958 के चुनाव घोषणा–पत्र में भारतीय जनसंघ ने कहा, ''आज धर्मनिरपेक्षवाद और कुछ भी नहीं, केवल मुसलमानों को खुश करने की ही नीति है। यह न तो राष्ट्रवाद है और न ही धर्मनिरपेक्षतावाद; परन्तु साम्प्रदायिकता के साथ एक समझौता है इस देश के प्रति केवल दिखावे की भक्ति कहा जा सकता है और जिसके लिए हमें भारी कीमत चुकानी पड़ेगी।'' एक शरणार्थी नेता ए.एन. बाली ने अपनी पुस्तक छमीतन नदसपउपजमक में कहा, ''धर्मनिरपेक्षवाद के नाम पर यह पाकिस्तानी साम्प्रदायिकतावाद का पेट भरने वाली बात है...नेहरू कुछ एक मुल्लाओं को प्रसन्न करने तथा मुस्लिम लीगियों को सुदृढ़ बनाने और अपने पाकिस्तानी मित्रों को खुश रखने को अधिक महत्त्व देते हैं और जो लगभग अस्सी लाख बेबस शरणार्थी पश्चिम तथा पूर्वी पाकिस्तान से भारत आए हैं, उन्हें उनकी कोई चिन्ता नहीं।''

परन्तु इस प्रकार की टिप्पणियाँ केवल पक्षपातपूर्ण तथा भावुक रूप से असन्तुलित मन के लोगों के द्वारा की गई हैं। नेहरू न तो हिन्दू–विरोधी थे और न ही मुस्लिम–समर्थक। वे एक भारतीय थे और उनकी भारतीय राष्ट्रवाद में गहरी श्रद्धा थी। अतः उन्होंने धार्मिक भावना वाले समाज को एक आधुनिक धर्मनिरपेक्ष राज्य में बदलने के लिए अटूट परिश्रम किया। चेस्टर बोल्स ने ठीक ही कहा है, ''नेहरू की सबसे महत्त्वपूर्ण सफलता यह थी कि उन्होंने ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण किया जिसमें साढ़े चार करोड़ मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान जाने की इच्छा प्रकट की, भारत में शान्तिपूर्वक रहकर अपनी इच्छा से पूजा कर सकें।'' मुख्य रूप में नेहरू एक लोकतन्त्रवादी थे। अतः वे ऐसे राज्य को सहन नहीं कर सकते, जिसमें एक ही धर्म तथा संस्कृति का आधिपत्य हो। भारतीय लोकतन्त्र को धार्मिक मामलों से असंलग्न घोषित करके, नेहरू ने स्थायी धर्मनिरपेक्ष राज्य की नींव रखी और देश को धार्मिक कट्टरता तथा उत्कट देशभक्ति का शिकार होने से बचा लिया। उनके आलोचकों में से एक कट्टर आलोचक डी.एफ. कराका ने भी कहा है, ''उद्देश्य की उस ईमानदारी का आधार, जिसके कारण हम उस

कठिन समय में से पार हो सके, नेहरू का अटल धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण था, जो कि लगभग उसमें एक मूल प्रवृत्ति थी।''

दक्षिणपन्थियों तथा वामपन्थियों–दोनों ने नेहरू की समाजवाद की धारणा की आलोचना की। स्वतन्त्र पार्टी के नेता श्री राजगोपालाचार्य ने, जो कि नेहरू के स्वप्नों वाले समाजवादी राज्य की व्यूह–रचना के सम्भावित खतरे से चिन्तित थे, कहा है, ''व्यूह–रचना का गला घोटे बिना नेहरू की कल्पना वाले समाजवादी राज्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि यह कमाई किए बिना धन को खर्च करने वाली बात होगी। हम नेहरू की धारणा वाले समाजवादी ढाँचे में से, जो कि राज्य का समाजवाद है, व्यूह–रचना की बुराई को दूर नहीं कर सकते।'' उन्होंने भय व्यक्त किया कि नेहरू तथा उसके अनुयायियों द्वारा मानी जाने वाली इस प्रकार की समाजवादी नीतियाँ, भारत में साम्यवाद फैला देंगी। दूसरी ओर, पूँजीवाद को बनाए रखने के कारण, साम्यवादी भी नेहरू से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने कहा कि जहाँ पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तथा स्वतन्त्र उद्योग, दोनों चलते रहेंगे, वहाँ पर धन का समान बँटवारा तथा जनता का कल्याण सम्भव नहीं है। तथाकथित मिश्रित अर्थव्यवस्था द्वारा न तो हमारा देश समाजवादी बन सकता है और न ही इससे हमारी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हो सकती है। साम्यवादी नेता एस.ए. डाँगे ने तो यहाँ तक कह दिया, कि ''नेहरू केवल भावनात्मक बनकर ही विरोध करते हैं बर्जुआ झुकावों वाले नेहरू इस बात में विश्वास नहीं रखते कि ऐसा भी कोई समाज हो सकता है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो और इसकी स्थापना उत्पादन के साधनों, बँटवारे तथा विनिमय के समाजीकरण से हो सकती है।'' दूसरी ओर लोहिया नेहरू को आज एक कृत्रिम मूलवादी मानते हैं, ऐसा व्यक्ति जिसने अपने सामने यह मार्क्सवादी लक्ष्य नहीं रखा, ''संसार के श्रमिकों–एक हो जाओ'', तथा न ही यह गांधीवादी उद्देश्य रखा, ''संसार के लोगों–एक हो जाओ।'' उनका तो अपना विचित्र अलग उद्देश्य था–''संसार में बुर्जुआ लोगों, अफ़सरशाहों तथा नेता लोगों–एक हो जाओ।''

वास्तव में नेहरू इसी प्रकार के समाजवाद के विरुद्ध थे जो कि साम्यवादी रूस में स्थापित था। क्योंकि इसने व्यक्तिगत नेतृत्व तथा स्वतन्त्र उत्साह को कुचला। उन्होंने राजाओं के आरोपों का खंडन करते हुए कहा

है, ''राजाजी प्रत्येक ऐसी बात को साम्यवाद कहते हैं जो कि लोगों को आगे ले जाती है और उनकी शताब्दियों से चली आ रही गरीबी को दूर करती है। भारत तथा कांग्रेस कभी भी कम्युनिस्ट नहीं बनेंगे, क्योंकि साम्यवाद का मुख्य आधार हिंसा है।'' नेहरू ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया, क्योंकि यह भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल था। उनका भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण फलमूलक तथा वास्तविक था। मिश्रित अर्थव्यवस्था ने देश को काफी लाभ पहुँचाया है। सरकारी तथा ग़ैर–सरकारी क्षेत्रों के शान्तिमय तालमेल से जनता को ऊपर उठाने तथा उत्पादन को बढ़ाने में सहायता मिली है। मिश्रित अर्थव्यवस्था व्यूह–रचना तथा शोषण की अवहेलना करके पूँजीवाद तथा साम्यवाद के मिश्रण का रूप धारण करती है। स्मिथ ने नेहरू के समाजवाद की प्रशंसा इन शब्दों में की है, ''नेहरू ने एक अल्पविकसित देश में, जिसमें उत्पादन अब भी एक महान् आर्थिक समस्या बना हुआ था, समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न किया। प्रत्येक वस्तु के राष्ट्रीयकरण के ऊँचे नारों से समस्या का समाधान नहीं हो सकता। लोकतन्त्रीय समाजवाद के सिद्धान्त को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ढालना होगा।'' आज जब कि नेहरू का समाजवाद धीरे–धीरे साँझी खेती, बुनियादी उद्योगों के समाजीकरण, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, भूमि की सीमा तथा शहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करने के कारण आगे बढ़ रहा है, नेहरू के समाजवाद को छल या कपट कहना, अत्युक्ति होगी। किन्तु यह कहा जा सकता है कि समाजवाद के लिए अनथक संघर्षरत नेहरू एक सहायक समाजवादी संगठन की स्थापना में असफल रहे।

अतः पी.सी. जोशी की सम्मति है, ''यद्यपि नेहरू समाजवाद की दिशा में परिवर्तन के समर्थन में उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया कर पाए पर यह प्रतिक्रिया मात्र अव्यवस्थित, अनियत ही रही। इसका कोई ठोस आकार नहीं बन सका।''

आलोचकों का विचार है कि आयोजना केवल सर्वसत्तावादी राज्य में ही सफल हो सकती है। रूस के लोग इसलिए समृद्ध हैं क्योंकि वहाँ पर बड़ी सख्ती से आयोजना को कार्यान्वित किया गया है। भारत में यह असफल

हुआ है, क्योंकि जन–साधारण की बुनियादी आवश्यकताएँ अभी तक पूरी नहीं हुईं। गरीबी का अभी भी बोल–बाला है। बेरोज़गारी भी प्रचंड है। अमीर–गरीब के बीच में असमानता स्पष्ट दिखाई देती है। आयोजना को लोगों का आन्दोलन नहीं समझा जाता। यह ऊपर से लादी गई है। इस सारी समस्या का उत्तरदायित्व नेहरू के सिर पर है जो कि एक आदर्श आयोजक तथा काल्पनिक समाजवादी थे।

लक्ष्यों की प्राप्ति की असफलता के कारण नेहरू पर आरोप लगाना उचित नहीं। भारत में आयोजना की आंशिक असफलता के कई कारण हैं–क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता, अनुदारता तथा किसानों का पिछड़ापन, गरीबी तथा अशिक्षा, जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि और आयोजना में लोगों के उत्साह की कमी, आदि। यही कारण है जिनके कारण आयोजना को धक्का लगा है। हैरीसन ने ठीक ही कहा है, ''भारत में आर्थिक विकास के रास्ते में सामाजिक प्रतिबन्ध इतने गम्भीर हैं कि इनमें लगातार तथा वैज्ञानिक खोज की एक प्रारम्भिक आवश्यकता है...।'' परन्तु हम अशोक मेहता से सहमत हैं, ''नेहरू का दोष केवल यह है कि उसने संघटनात्मक आधार की ओर, जो कि सफल नियोजन के लिए आवश्यक है, उचित ध्यान नहीं दिया। नहीं तो नेहरू का आयोजना की ओर दृष्टिकोण ग़ैर–सिद्धान्तवादी तथा यथातथ्यवादी था। सरकारी तथा ग़ैर–सरकार क्षेत्रों में शान्तिपूर्ण तालमेल का सिद्धान्त आयोजना के क्षेत्र में नेहरू की एक बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। हम टायसन की टिप्पणी से सहमत हैं, ''...एक स्वतन्त्र समाज में नेहरू का आयोजना के बारे में बुनियादी सिद्धान्त, यदि उस पर पूर्ण रूप से विचार किया जाए, तो न्यायसंगत सिद्ध होता है और निःसन्देह भारत के लिए नेहरू की यह एक मुख्य सफलता है...।''

इसी तरह लोकतन्त्रीय आयोजना का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी शुरू किया गया जिसके द्वारा ग्रामों की प्रगति का लक्ष्य पूरा किया जाना है, और ग्रामीण जीवन में क्रान्ति लाकर लोकतन्त्रीय आधार को सुदृढ़ बनाना है। एक भारतीय विद्वान् के अनुसार, ''निःसन्देह सामुदायिक विकास–योजना के द्वारा भारत के अँधेरे कोनों को रोशन नहीं किया जा सका है, परन्तु नेहरू की महत्त्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने ग्रामीण विकास

के बृहत् प्रोग्राम शुरू करके ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों के विकास के महत्त्व पर बल दिया...।''

आलोचक यह आरोप लगाते हैं कि नेहरू यद्यपि एक महान् लोकतन्त्रवादी थे, परन्तु उन्होंने सही अर्थों में भारत के स्वतन्त्र लोगों की नागरिक स्वतन्त्रता की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। स्वतन्त्रता तथा निजी स्वतन्त्रता से सम्बन्धित बुनियादी अधिकारों पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाकर उनके महत्त्व को कम किया गया। जब कभी न्यायालय ने इन अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए कोई निर्णय दिया, नेहरू–सरकार ने संसद में अपने दल के बहुमत के आधार पर संविधान में परिवर्तन करके कार्यकारिणी शक्ति को बनाए रखा।

वास्तव में नेहरू ऐसी स्वतन्त्रताओं के पक्ष में थे, जो दूसरी की स्वतन्त्रता को न छीनें। भारत जैसे देश में अनियन्त्रित स्वतन्त्रता से अराजकता के फैलने की सम्भावना हो सकती है, जिससे लोगों के हितों को हानि पहुँचेगी। प्रायः निवारक निरोध कानून की आलोचना की जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कानून के द्वारा प्रमाणित लोकतन्त्रीय कानूनी प्रणाली की अवहेलना होती है। परन्तु नेहरू ने इसका दुरुपयोग नहीं किया। उन्होंने इसका प्रयोग खुले तौर पर और मितव्ययिता से किया। इसके अलावा बन्दियों के आश्रितों को भत्ता दिया गया और बन्दियों के साथ मानवीय व्यवहार किया गया। इसके सम्बन्ध में शेख अब्दुल्ला की मिसाल दी जा सकती है।

आलोचक नेहरू पर समाचार–पत्र तथा विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाने का भी आरोप लगाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री नेहरू चाहते थे कि समाचार–पत्र लोगों में विष न उगलें और साम्प्रदायिकता तथा कट्टरता का प्रचार न करें, बल्कि अखबारों को नेहरू तथा उनकी सरकार के विरुद्ध लिखने की खुली छुट्टी थी। जेम्स मिकानेर के शब्दों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा, ''नेहरू के बारे में जो कुछ अमेरिकी अखबार लिखते हैं, भारत के लोग प्रायः उस पर आपत्ति उठाते हैं; परन्तु भारत से बाहर नेहरू के बारे में जो कुछ कहा जाता है, उसके मुकाबले में डी.एफ. कराका की पुस्तक 'नेहरू : दी

लोटस ईटर फ्राम कश्मीर', जो कि भारत में खुले रूप में बिकती है, उससे कहीं अधिक कटुता से भरी हुई है। पुस्तक का प्रत्येक शब्द नेहरू की आलोचना से भरा हुआ है, परन्तु नेहरू ने इस पुस्तक पर पाबन्दी लगाने की कभी भी नहीं सोची।''

इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि समाचार–पत्रों की स्वतन्त्रता नेहरू के लिए एक कोरा सिद्धान्त ही नहीं थी। उन्होंने इसे एक लोकतन्त्रीय वास्तविकता बनाया और अपने आलोचकों को अपने तथा अपने दल के विरुद्ध आलोचना करने की पूरी आज्ञा दी। परन्तु समाचार–पत्रों तथा विचारों की स्वतन्त्रता अथवा निजी स्वतन्त्रता की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को खतरे में डालने के लिए प्रयोग में लाने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। स्मिथ ने ठीक ही कहा है, ''अतः निजी स्वतन्त्रता का अधिकार तथा समाचार–पत्रों की स्वतन्त्रता को न तो शून्यता में और न ही एक सौ वर्ष पुरानी हजारो मील की दूरी वाले देशों में प्रचलित परिस्थितियों में देखा जा सकता है। उनकी व्याख्या भारत की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही की जा सकती है।''

कुछ एक कट्टर राष्ट्रवादी इस विचार के हैं कि नेहरू अधिकतर अन्तर्राष्ट्रवादी थे। उनकी विश्व में शान्ति स्थापित करने तथा राष्ट्रों के बीच में मैत्री कायम करने की नीति का अनुसरण करने की लगन ने उन्हें अपने निकट के पड़ोसियों की प्रसन्न करने की नीति का अनुसरण करने पर बाध्य किया। पंचशील के दूत की पीठ में साम्यवादी चीन ने छुरा घोंपा और राष्ट्रीय सम्मान को उनके हाथों धक्का लगा। नेहरू ने शान्ति का दूत बने रहने की भावना से उस समय कश्मीर का मामला सुरक्षा– परिषद् में रखा, जब कि भारतीय सेनाएँ बड़ी आसानी से पाकिस्तानी आक्रमणकारियों को खदेड़ सकती थीं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि नेहरू विश्व–शान्ति तथा मैत्री के समर्थक थे। उनका संयुक्त राष्ट्र–संघ के सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास था। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दलित तथा शोषित राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। वे चीन के साथ लड़ाई करने के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने पाकिस्तान को भी राजी करने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि नेहरू ने क्यों शान्तिवाद की नीति को अपनाया? क्यों उन्होंने

पड़ोसी राष्ट्रों की मित्रता की इच्छा की? क्यों उन्होंने दोनों गुटों में से एक गुट के साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ा? इन प्रश्नों का सावधानी से विश्लेषण करने से पता चलता है कि नेहरू ने भारत जैसे अल्पविकसित देश के बारे में बड़ी गम्भीरता से महसूस किया। वे जानते थे कि अगर काफी पैसा प्रतिरक्षा के लिए रख दिया गया, तो लोगों की आर्थिक प्रगति नहीं हो सकेगी। अतः वे अन्तरात्मा से राष्ट्रवादी थे। परन्तु उनका राष्ट्रवाद न तो संकीर्ण था और न ही आक्रामक वाला था। वे शान्ति चाहते थे जो चिरकाल से विश्व के राष्ट्रों के हाथों से निकलती जा रही थी। अतः उन्होंने लगभग सभी राष्ट्रों के साथ भारत के अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की और पूरी सच्चाई से आपसी सहयोग के लिए कार्य किया। इस प्रक्रिया में उन्हें एक मित्रदेश (बिचीन) ने धोखा भी दिया था। इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मैत्री के लिए अपने राष्ट्र की बलि दे दी। बल्कि उन्होंने विश्व–शान्ति तथा एकता को बनाए रखते हुए राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच में सन्तुलन कायम रखने के लिए भरसक प्रयत्न किया।

अतः यह कहना कि नेहरू की नीतियाँ अस्पष्ट और काल्पनिक थीं, उनका समाजवाद अयथार्थ था, उनकी विदेश–नीति एकदम से अव्यवहार्य थी और उनकी धर्मनिरपेक्षता अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के लिए थी, एक ऐसे व्यक्ति के साथ अन्याय करने वाली बात होगी, जिसने संकट के समय हमारे राष्ट्र के जहाज़ को पार लगाया। वे सिद्धान्त तथा व्यवहार में एक लोकतन्त्रवादी थे। उनकी सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने भारत जैसे देश में, जो कि पश्चिमी लोकतन्त्रों की अपेक्षा, अविकसित अर्थव्यवस्था, अलोकतन्त्रीय सामाजिक संस्थाएँ तथा विशाल पैमाने पर निरक्षरता आदि लक्षणों के कारण भिन्न है, लोकतन्त्रीय आदर्शों तथा मूल्यों को नई व्याख्या प्रस्तुत करके लागू किया। अपनें चिन्तन की गम्भीरता तथा दृष्टिकोण की गुरुता के कारण उन्होंने भारतीय समाज के कट्टर दृष्टिकोण को बदल डाला और सामाजिक सुधारों के लिए एक नया वातावरण प्रस्तुत किया। उन्होंने सोए हुए हृदयों में प्राण भरे और उन्हें अपने भाग्य को स्वयं बनाने की प्रेरणा दी। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया–वह प्रतिज्ञा थी, भारतवर्ष तथा उसके लोगों की सेवा तथा सारी

मानवता के हित के लिए काम करना। टाइसन के शब्दों में, "अपनी अन्तिम बीमारी तक वे केवल स्फूर्तिशील तथा चौकस ही नहीं थे, अपितु वे अनथक थे और उन्होंने भारत के लिए खुले दिल से अपनी शक्ति लगा दी...।" वे निःसन्देह पीढ़ियों के बीच में एक पुल के समान थे—भूतकाल के राष्ट्रवाद तथा युद्ध के पश्चात् एशियाई पुनरुत्थान के बीच में एक कड़ी। उनके ही प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत को विश्व–भाईचारे में एक सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ और इससे भारत में आत्म–सम्मान की भावना का उदय हुआ। उन्होंने संसार को दिखा दिया कि किस प्रकार एक अल्पविकसित तथा पिछड़ा हुआ देश लोकतन्त्र को अपनाकर व्यक्तिगत लोकतन्त्रीय योजना और समाज का समाजवादी ढाँचा रख सकता है।

डी.ई. स्मिथ ने इस एशियाई नेता के महत्त्व को बड़े बढ़िया ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है, "विश्व ने हजारों वर्षों से केवल निरंकुश तानाशाही को देखा है, शताब्दियों से संवैधानिक शासकों के शासन देखे हैं, डेड़ शताब्दी से लोकतन्त्रीय राजनीतिज्ञ देखे हैं और एक पीढ़ी बोलशेविकों का शासन की देखी है। आज विश्व एक नए वर्ग से उलझ रहा है। इसका नेतृत्व एक साहसी एशियाई राष्ट्रवादी नेता कर रहा है, जिसने गत तीस वर्ष लगातार संघर्ष करके पश्चिमी उपनिवेशवाद से मुक्ति प्राप्त की है। फिर भी उसका चिन्तन पश्चिमी लोकतन्त्रीय प्रथाओं के अनुकूल ढला हुआ है और वह समाजवाद के आदर्शों के प्रति वचनबद्ध है..."

संदर्भ-सूची

शिथिल 1, 194
बाल्यकाल, 1
कश्मीरी ब्राह्मण 1
1918, 3
प्रांतीस कौंसिल 3
नौकरशाही 3
'एशिया का यूरोप' 3
शैशव काल 6
वायसराय 6
सविनय अवज्ञा आंदोलन 7, 118
सत्याग्रह संकल्प 6
6 अप्रैल, 1919, 9
9 अप्रैल, 1919, 9
नाडियाड, 9
हरकिशल काल 12
लाहौर 13
1912 में बैरिस्टरी 17
1916, 17
रौलेट एक्ट, 17
1933, 21
नैनी, 21
पूंजीवाद, 20
सुदूरगामी, 25
पर्याय 31
ताल्लुकेदारी, 31
ब्रिटेन 30
अति सांप्रदायिक, 31
साम्राज्यवाद, 33
त्रिपुरी, 32
1938, 33
1942, 38
भारत छोड़ो, 38
चीन की यात्रा, 38
लार्ड माउंटबेटन, 3, 9, 147
पूंजीवाद, 42
आजीविका, 42
औद्योगिकी, 42
धर्मनिरपेक्षवाद, 47
हस्तक्षेप, 47
अपरिहार्य, 46, 51
मिश्रित अर्थव्यवस्था, 50
1954, 51
नियोजना, 57
जातीयता, 57
पाश्विकीकरण, 69
निर्दयी, 69

डॉ. राधाकृष्णन, 69
अवहेलना, 73
दो दलीय, 72
लाहौर अधिवेशन, 1929, 76
1956, 78
1926, 86
13 अप्रैल, 1919, 86
विचलित, 101
मूढ़ाग्रह, 101
औपनिवेशिक श्रेणी, 108
गैलेहाड, 114
नवयुग, 114
समाजवाद, 123
मुआयना, 123
क्रांतिकारी परिवर्तनों, 123
ब्रुसेल्स, 130
1921, 143
असहयोग आंदोलन, 143
लखनऊ कांग्रेस, 143
ट्रस्टीशिप, 147
गवर्नर जनरल, 147
मोतीलाल नेहरू, 154
स्वराज्य पार्टी, 155
1924, 155
बनारस, 163
1929, लाहौर, 163
डिस्कवरी ऑफ इंडिया, 166
आराध्यदेव, 174
बर्बर, 175
स्वगति, 181
तर्कवाद, 181
आध्यात्मिक पक्ष, 182
बहुधा, 183
भगवदगीता, 183
अद्वैतवादी, 183
बहुमुखी, 183
लार्ड वेबल, 184, 187
अंतरिम सरकार, 186
कांटे का ताज, 186
वायसराय, 187
डलहौजी, 157
फेबियनवाद, 161
सिंडिकेटवाद, 161
कुलीनवादी, 163
बंगाल सरकार, 188
अन्तरिम सरकार, 188
नोआखली, 188
6 दिसंबर, 191
20 जनवरी, 1947
श्रेयस्कर, 194
मुख्यमंत्री, 194
लौहपुरुष, 197
विभाजन योजना, 196
बहिष्कार, 197
बीमार अंग, 197
खान बंधुओं, 199
सीमाप्रांत, 198
पठानिस्तान, 198
15 अगस्त, 199
कश्मीर रियासत, 199
महाक्रांति, 200

मनोज कुमार एक प्रसिद्ध चिन्तक एवं लेखक हैं। इन्होंने राजनीति शास्त्र में समस्त उच्च योग्यताएँ एवं उपाधियाँ दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। विभिन्न विषयों पर इनकी करीब बीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये वर्तमान में एक प्रसिद्ध आई.ए.एस. अकादमी में अतिथि प्रोफेसर के रुप में कार्यरत हैं। इन्होंने करीब पचास पुस्तकों का संपादन किया है।

इन्होंने एक्सप्रेस ब्यूरो में क्षेत्रिय आवास प्रबंधक के रुप में कार्य किया एवं अनेक राष्ट्रीय नेताओं का साक्षात्कार किया। प्रमुख टी.वी. समाचार चैनल "आँखों देखी" में सहायक निदेशक (सीरियल) तथा समाचार संपादक रहे।

रवि रंजन जी ने बी.ए. आनर्स (राजनीति विज्ञान), एम.ए. (राजनीति विज्ञान) दिल्ली विश्वविद्यालय से तथा एम.फिल, जे.एन.यू. से की है। वर्तमान में ये राजकीय के.आर.जी. कॉलेज ग्वालियर में कार्यरत हैं। आपकी विभिन्न विषयों पर करीब पांच पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपको भारतीय शासन एवं राजनीति के संदर्भ में अध्यापन और अनुसंधान कार्य में लम्बा अनुभव है। कई राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं सेमिनारों में आपने अपनी उपस्थिति दर्ज की है।

मनोज कुमार एक प्रसिद्ध चिन्तक एवं लेखक हैं। इन्होंने राजनीति शास्त्र में समस्त उच्च योग्यताएँ एवं उपाधियाँ दिल्ली विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। विभिन्न विषयों पर इनकी करीब बीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। ये वर्तमान में एक प्रसिद्ध आई.ए.एस. अकादमी में अतिथि प्रोफेसर के रुप में कार्यरत हैं। इन्होंने करीब पचास पुस्तकों का संपादन किया है।

इन्होंने एक्सप्रेस ब्यूरो में क्षेत्रिय आवास प्रबंधक के रुप में कार्य किया एवं अनेक राष्ट्रीय नेताओं का साक्षात्कार किया। प्रमुख टी.वी. समाचार चैनल "आँखों देखी" में सहायक निदेशक (सीरियल) तथा समाचार संपादक रहे।

रवि रंजन जी ने बी.ए. आनर्स (राजनीति विज्ञान), एम.ए. (राजनीति विज्ञान) दिल्ली विश्वविद्यालय से तथा एम.फिल, जे.एन.यू. से की है। वर्तमान में ये राजकीय के.आर.जी. कॉलेज ग्वालियर में कार्यरत हैं। आपकी विभिन्न विषयों पर करीब पांच पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपको भारतीय शासन एवं राजनीति के संदर्भ में अध्यापन और अनुसंधान कार्य में लम्बा अनुभव है। कई राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों एवं सेमिनारों में आपने अपनी उपस्थिति दर्ज की है।